माध्यम
हिन्दी साहित्य सम्मेलन

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

आंध्र विशेषांक

वर्ष ४ : अंक ११-१२

मार्च-अप्रैल, १९६५

पूर्णांक : ४७-४८

संपादक

बालकृष्ण राव

सहायक संपादक

वैकुंठनाथ मेहरोत्रा

श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता

पोस्ट बॉक्स नं० ६०

इलाहाबाद

खंड एक

खंड दो

खंड तीन

प्रबंध संपादक
रामप्रताप त्रिपाठी

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया पचीस पैसा
वार्षिक : बारह रुपया पचास पैसा
इस विशेषांक का पाँच रुपया

खंड चार

खंड पाँच

माध्यम

अंक ४९

- गंगाप्रसाद विमल, आरिगपूडि, देवराज के लेख, समीक्षाएँ आदि के अतिरिक्त——

'आंध्र विशेषांक : परिशिष्ट'

- काटूरि वेंकटेश्वर राव–पिंगलि लक्ष्मीकांतम, वाई० नरसिंह रेड्डी, केशव राव की कविताएँ
- दिवाकर्ल वेंकटावधानी, मुप्पन मल्लेश्वर राव के लेख
- जी० वी० कृष्ण राव की कहानी

●

●

मुख-पृष्ठ एवं साज-सज्जा

उदयगिरि, पुरातत्व विभाग, ताजमहल, आगरा।

●

मुख-पृष्ठ का चित्र : 'अमरावती शिल्पमु'

राज्यपाल
उत्तर प्रदेश

राजभवन, नैनीताल
६ मई, १९६८

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि हिंदी जनता को आंध्र प्रदेश के इतिहास, उसकी संस्कृति और उसकी विकास की संभावनाओं से परिचित कराने के लिए 'माध्यम' का विशेषांक शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा। 'माध्यम' के 'केरल विशेषांक' को देख चुकने के बाद मुझे कोई संदेह नहीं है कि उसका 'आंध्र विशेषांक' भी सफल होगा और हिंदी जगत को आंध्रों के अतीत, वर्तमान और भविष्य से भली भाँति परिचित करा सकेगा।

हिंदी के बाद तेलुगु ही सर्वाधिक प्रयुक्त भाषा है। बोलने वालों की दृष्टि से, संविधान द्वारा स्वीकृत भाषाओं में, हिंदी के बाद तेलुगु का ही स्थान है—मराठी, तमिल आदि अन्य भाषाएँ उसके बाद आती हैं।

आंध्र प्रदेश उत्तर और दक्षिण भारत के बीच की कड़ी है, और एक प्रकार से पूर्व और पश्चिम के बीच की भी। वह भारत के हृदय-देश में अवस्थित है। गोदावरी, कृष्णा, पेन्नार और तुंगभद्रा लाखों एकड़ भूमि सींचती हुई आंध्र प्रदेश में बहती हैं। खाद्यान्नों के प्रभूत उत्पादन के कारण आंध्र प्रदेश को 'अन्नपूर्णा' कहा गया है। कृषक परिश्रमी और प्रगतिशील हैं। उसकी राजधानी हैदराबाद दक्षिण भारत में स्थित उत्तर के नगर-सा है, जिसमें बहुसंख्यक लोग उर्दू-हिंदी बोलते हैं। संस्कृत की परंपरा और शब्दावली से अत्यधिक प्रभावित तेलुगु भाषा भी हिंदी और अन्य उत्तर भारतीय भाषाओं के बहुत निकट है। सच्ची सांस्कृतिक और भावात्मक एकता के लिए यह अत्यंत वांछनीय है कि हम एक दूसरे से अधिक परिचित हों। सामान्यतः उत्तर के लोग दक्षिण के प्रदेशों और भाषाओं के बारे में बहुत नहीं जानते। 'माध्यम' विभिन्न प्रदेशों को परस्पर निकट लाने की चेष्टा कर रहा है। इन विशेषांकों के प्रकाशन द्वारा बुद्धि-जीवियों को निकटस्थ प्रदेशों और लोगों से परिचित कराना उसका बड़ा सेवा-कार्य है।

मुझे हर्ष है कि इस 'आंध्र विशेषांक' को आंध्र प्रदेश शासन की सहायता उपलब्ध हुई है। मुझे विश्वास है कि यह अंक बहुत उपयोगी और लोकप्रिय होगा।

मैं श्री बालकृष्ण राव के हिंदी जगत और अन्य भाषाभाषी लोगों के बीच सद्भाव बढ़ाने के प्रयासों का अभिनंदन करता हूँ। वे हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं।

बेजवाड़ा गोपाल रेड्डी

संसद सदस्य
(लोक सभा)

३३, फ़ीरोज़शाह रोड,
नयी दिल्ली।
दि० १५-४-६५

प्रिय राव साहब,

आपका दिनांक १३ अप्रैल का कृपापत्र मिला। धन्यवाद।

हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से प्रकाशित होने वाले 'आंध्र विशेषांक' के संबंध में दो शब्द कहते हुए मैं अत्यंत संतोष अनुभव कर रहा हूँ।

इस प्रकाशन के पीछे हिंदी साहित्य सम्मेलन का हिंदी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य और उसकी विशेषताओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न तो है ही, इसी के साथ सम्मेलन और समस्त हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र का देश की अन्य मातृभाषाओं के प्रति जो प्रेम है वह इस विशेषांक के रूप में आकार पा गया है। इस विशेषांक से प्रकट है कि हम न केवल हिंदी अपितु देश की सभी जनभाषाओं को अपनाने और उन्हें समृद्ध बनाने के लिए कितने उत्सुक और आतुर हैं। हिंदी के द्वार सदैव सबके लिए खुले हैं, यह विशेषांक हमारी इस विनम्र इच्छा और अभिलाषा की भी अभिव्यक्ति है। इसी के साथ हमारा यह प्रयास इतर भाषा-भाषी जनमानस में व्याप्त भ्रम का निवारण कर हमारे इस मत का कि सम्मेलन और हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र में उनके प्रति विराग का नहीं रागात्मक भाव है, एक व्यावहारिक क़दम भी है।

मैं आशा करता हूँ यह विशेषांक सम्मेलन की इस सद्भावना के प्रसार का एक प्रेरक और सशक्त साधन बनेगा तथा देश के साहित्य, संस्कृति और भाषा-समस्या के समाधान की दिशा में एक सक्षम प्रयास सिद्ध होगा।

गोविन्द दास

आंध्र देश

●

महात्मा गांधी

('यंग इंडिया' १३-४-१९२१ में प्रकाशित लेख का हिंदी संक्षेप)

आंध्र (प्र)देश उत्कल से भिन्न है। गतिशील है और सक्षम। वहाँ एक भी नर-कंकाल मुझे देखने को नहीं मिला। जनता दृढ़कंठ है और हृष्ट-पुष्ट। दृढ़ संकल्प के, स्वभाव के उदार-चित्त और स्नेह के आकांक्षी। वे अपने (प्र)देश तथा भारत के (सुनहले) भविष्य के प्रति (अगाध) आस्था रखते हैं। क्या नारी, क्या पुरुष, दोनों समान रूप से सोने के आभूषण पहनते हैं। बेचारे! उन्हें क्या मालूम कि यों आभूषणों को मेरी नजरों के सामने आने देना खतरे से खाली नहीं। मैंने उनसे यह बात छिपायी नहीं कि तिलक महाराज की स्मृति पर और 'स्वराज्य-निधि' के लिए इन ज़ेवरों की सख्त जरूरत है। और इन नारी-पुरुषों ने भी इन्हें मुझे सहर्ष दान में दिया। छह दिन के दौरे में लगभग ५० हजार की पूँजी मुझे मिल चुकी थी। और भी दान में दिये जाने का उनसे आश्वासन मिला था। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आंध्र जनता ने चाहा तो संभवतः (आवश्यक) एक करोड़ की रक़म बड़ी आसानी से इकट्ठी की जा सकती है।

आंध्र महिलाओं का निष्कपट वार्तालाप, धीरता तथा लज्जा-मिश्रित स्वच्छंद प्रवृत्ति ने मुझे महाराष्ट्र की बहनों का स्मरण दिलाया है। यह बात मैंने उन्हें भी बतायी। यह प्रशंसा का उम्दा लफ़्ज है और मुझे अपने वचन की सत्यता में निष्ठा है।

एलूरु शहर से जुड़ा एक प्रसंग मैं यहाँ आपको बता रहा हूँ। एलूरु की एक लड़की—(मागंटि) अन्नपूर्णादेवी नाम की—कलकत्ता में पढ़ी-लिखी थी। हाल में उसकी शादी हुई थी। खादी के वस्त्रों में थी। मात्र एक मंगल-सूत्र छोड़ उसने अपने पहने हुए सारे गहने मेरे हाथों में सस्मित थमा दिये थे। मेरा विश्वास है कि आंध्र नर-नारियों की उदारता सीमाओं को लाँघ कर परिव्याप्त होने में सक्षम है।

आंध्र में दौरे पर जाने से पहले मेरी धारणा थी कि समूचे भारत में केवल पंजाबी बहनें ही महीन सूत कात सकती हैं। अब मेरी यह धारणा बदलने लगी है। अब पंजाबी बहनों को चाहिए कि वे यह स्थान आंध्र नारियों को दे दें। आंध्र बहनें नंबर १०० का सूत कातने में सक्षम हैं। वे अपनी रुई आप ही साफ़ कर पूनी धुनिक लेती हैं। जापान, फ़्रांस तथा लंकाशायर आदि देशों के सूतों को मात देने वाले आंध्र बहनों द्वारा बनाये गये बड़े ही महीन सूत के नमूने मैं

खरीद कर अपने साथ ले आया हूँ। जिस समय यह कौशल अंतिम साँस ले रहा था, ठीक ऐन मौक़े पर स्वदेशी आंदोलन ने आ कर इसकी रक्षा की। मच्लिीपट्नम की कुछेक बहनों ने (इस दौरे में) अपने कौशल से मुझे परिचय कराया। स्वयं रुई साफ़ कर पूनी बना कर उन्होंने सूत काता। यह सब एक पर्णकुटी में हुआ। वहाँ चर्खे का एक अलौकिक संगीत मुझे सुनने को मिला।

मचिलीपट्नम की यात्रा से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मेरी आँखें आनंद की अश्रुधाराओं से तर हो गयीं। सफ़र शुरू होने से पहले ही मैं डॉ० पट्टाभि सीतारामैया जी से सविनय निवेदन कर चुका था कि जिस समय हम गाँव में प्रवेश करेंगे, किसी तरह की भीड़-भाड़ या जय-जयकार न हो। अतः उन्होंने ग्रामवासियों को पहले से ही सचेत कर दिया होगा।

पौ फटते न फटते हमारी मोटरगाड़ी गाँव में प्रवेश कर चुकी थी। जनता अपने निर्णीत स्थानों पर आ कर चुपचाप खड़ी हो गयी थी—सड़क के दोनों ओर कतारें बाँध कर। गलियाँ सजी-सजायी गयी थीं। मोटरगाड़ी (आंध्र) राष्ट्रीय महाविद्यालय[1] में प्रवेश कर रही थी। मेरे कानों में केवल वायलिन पर वेद-मंत्र तथा बाँसुरी-रव स्पर्श कर मेरी कुशलता पूछ रहे थे।

स्नेह के उस कोमलतम पक्ष को मैं अच्छी तरह समझ लेता हूँ। वहाँ की जनता की पाबंदी पर मुझे नाज़ है। देश की ख़ातिर बड़े से बड़े मूल्य चुकाने के लिए वे तैयार हैं, यह मैं भली भाँति जान चुका हूँ।

उनकी आँखों में प्रतिबिंबित निस्सीम करुणा को देख आनंद-अश्रु-पूर्ण नयनों से मैंने ईश्वर को बधाई दी।

मैं एक पर्णकुटी में ले जाया गया। सच्चे अर्थों में वह पर्णकुटी ही थी। वहाँ के अध्यापक-वृंद ने अपने काम में जो सच्ची लगन, श्रद्धा और कला का परिचय दिया था, उसके लिए मैंने उन्हें बधाई दी ही और साथ ही उन्हें सचेत भी कर दिया था : "यह महाविद्यालय तब तक पूर्णरूपेण राष्ट्रीय संस्था नहीं कहलायगा, जब तक आप अपना सारा समय और लगन लगा कर सूत न कातें, कपड़े न बुनें और इस विद्यालय को एक आदर्श केंद्र न बनायें।"

जब तक मैं वहाँ के अध्यापक-वृंद से अपने दृष्टिकोण पर चर्चा करता रहा था, (मुट्नूरि) कृष्णाराव (जो तेलुगु साप्ताहिक 'कृष्णा पत्रिका' के संपादक थे) नामक एक अध्यापक केवल सुन ही रहे थे। चर्चा में बहुत कम ध्यान दे रहे थे। उनके नेत्रों में आध्यात्मिकता झलक रही थी। वे बैठे-बैठे अचानक कह उठे : "माने सूत कातना आप एक यज्ञ की तरह मानते हैं।"

"हाँ हाँ।" —मैंने कहा।

"आभारी हूँ। आज से मैं इसे काम में लाता हूँ।"— कृष्णाराव ने कहा।

---

१. इसके संस्थापकों में डॉ० भोगराजु पट्टाभि सीतारामैया, श्री कोपल्लि हनुमंत राव जो, इसके प्राचार्य रहे तथा श्री मुट्नूरि कृष्णाराव के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं।

मैं कहूँगा कि सूत्र-यज्ञ राष्ट्रीय स्वच्छंदता, शक्ति तथा सौभाग्य का प्रत्यक्ष पुनीत चिन्ह है। चाहे वे हिंदू हों, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई हों, चाहे यहूदी अथवा फ़ारसी हों--सब किसी को यह पवित्र कर्तव्य निभाना है।

आंध्र ने मुझे अत्यधिक आकर्षित किया है। बहुत दिनों से बिहार मेरा प्रियतम प्रदेश रहा। असहयोग के एक आंदोलन के रूप लेने के पूर्व से ही बिहार पर मेरा बड़ा विश्वास रहा है। भले ही हमें अब बिहार को अपने स्थान से पीछे हटाने की आवश्यकता न भी रही हो, किंतु अब आंध्र देश को उसके बाद ही दूसरा स्थान मिल जाना चाहिए। आंध्र देश का सौभाग्य है कि उसे निस्वार्थ नेतृत्व[1] मिल सका है। मुसीबतों से जूझ लेने की क्षमता तथा कुशल कार्यकर्ताओं की यहाँ कमी नहीं। साधनों का अभाव नहीं। कविता है। आस्था है। त्यागशीलता है। यहाँ कई राष्ट्रीय विद्यालय हैं। स्वराज्य आंदोलन में कितने ही वकील (कोंडा वेंकटप्पैया, अय्यदेवर कालेश्वर राव, बुलुसु सांबमूर्ति गोल्लपुडि सीताराम शास्त्री आदि) भाग ले रहे हैं। सूत कातना, कपड़ा बुनना, श्रेष्ठ रुई की उत्पत्ति आदि के बढ़ावे में इस देश का सुंदर भविष्य मैं देख रहा हूँ। दो जीवंत नदियाँ (गोदावरी तथा कृष्णा) यहाँ की धरती को सींचती रहती हैं। यह देश निश्चय ही (भारत का) नेतृत्व करने में सक्षम है अथवा यों कहूँ कि इस संदर्भ में बिहार से आंध्र होड़ ले सकता है। हिंसा-नीति (दमन-नीति से भिन्न) अगर शुरू हो जाय तो विशालकाय इतर (प्र)देश भले ही पीछे रह जायँ, किंतु बिहार तथा आंध्र परिस्थिति की परिरक्षा कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं अनुमान करता हूँ कि आत्म-वीरता में, पीड़ा के सह लेने में ये (आंध्रवासी) सिखों को भी मात दे सकेंगे। मेरा यह अनुमान ग़लत भी हो सकता है। किंतु एक बात मैं कहूँगा कि यह एक होड़ है। हम सबको इसमें भाग ले कर एक दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए। इसमें न केवल होड़ का स्वभाव ही है, अपितु कर्तव्य भी है।

क़ानून की अवज्ञा को नमूने के तौर पर अमल करने वाले दो सुंदर गाँवों तथा उनके नेता के बारे में अलग से फिर कभी लिखूँगा। नेल्लूरु के हिंदू-मुस्लिमों के मामले पर भी फिर कभी अपने विचार व्यक्त करूँगा। एक और घटना को साभार उद्धृत कर इस संस्मरण का समापन किये देता हूँ। (प्राचार्य कोपल्लि) हनुमंतराव जी द्वारा संचालित इस आश्रय (आ० रा० महाविद्यालय) के निकटवर्ती एक गाँव में हम गये थे। वहाँ ब्राह्मणों का एक अग्रहार था। हमारे साथ हमारे सहयोगी 'पंचम' भी थे। वहाँ के ब्राह्मणों ने मुझे पंचमों के साथ पैदल अपनी गली में से गुज़र जाने की अनुमति दे दी। बतलाया गया है कि इससे पहले वहाँ से हो कर पंचमों का गुज़रना मना था।

('युगप्रभात' से साभार)

---

१. संभवत : गांधी जी के विचार में वह नेता स्व० श्री कोंडा वेंकटप्पैया हो सकते हैं।

संपादकीय

•

इस अंक के साथ 'माध्यम' अपने जीवन के चार वर्ष पूरे कर रहा है। अपनी यात्रा में चौथे मील के पत्थर पर पहुँच कर यदि वह दम लेने के लिए रुके, गर्दन मोड़ कर पीछे की ओर देखे, अपनी अब तक की सफलताओं, असफलताओं का विवेचन करने की चेष्टा करे, तो यह अस्वाभाविक न होगा। मील के पत्थरों पर पहुँच कर थके-माँदे यात्री दम लेने के लिए रुका ही करते हैं, पीछे नज़र घुमा कर तय की हुई ज़मीन को देखा ही करते हैं, शक्ति और संबल का परीक्षण किया ही करते हैं।

पर 'माध्यम' को इस मील के पत्थर पर पहुँचने मात्र से सिंहावलोकन की कोई प्रेरणा नहीं मिल रही है। अपने जीवन के प्रथम चार वर्षों में वह क्या कर पाया, क्या नहीं कर पाया, इसके विवेचन के लिए यह अवसर उपयुक्त भले ही हो, पर विवेचन उसे नहीं, उसके भावकों-अभिभावकों को करना है। उसे इस मील के पत्थर पर दम लेने के लिए रुकना नहीं है, क्योंकि वह अभी इतना चला ही नहीं है कि दम लेने के लिए रुकना आवश्यक हो। और गर्दन पीछे मोड़ कर उसे देखना ही क्या है? ज़मीन ही कितनी उसने तय की है जो उसे देख कर अपनी सफलता से संतुष्ट या अपनी क्षमता के प्रति आश्वस्त हो सके? तेलुगु के आधुनिक युग के अग्रणी कवि गुरजाड अप्पा राव की एक प्रसिद्ध रचना का प्रतिष्ठित विद्वान डॉ० गिडुगु सीतापति ने संस्कृत में अनुवाद किया है। उसकी एक पंक्ति है: **सिंहावलोकी लभते न किंचित्।** जिसके पीछे कुल चार वर्षों का ही इतिहास हो वह सिंहावलोकन कर के सचमुच पा ही क्या सकता है? उसे न दम लेने के लिए रुकना है, न सिंहावलोकन की औपचारिकता ही निभानी है। उसे केवल आगे की ओर देखना है, आगे बढ़ना है। वर्ष के अंतिम दो अंकों के युग्म को विशेषांक के रूप में प्रस्तुत करके 'माध्यम' यह प्रमाणित करना चाहता है कि उसके लिए मील का पत्थर लक्ष्य नहीं, नया प्रस्थान-बिंदु मात्र है।

प्रस्तुत विशेषांक 'माध्यम' का दूसरा विशेषांक है। पहला 'केरल विशेषांक' के रूप में मई, १९६६ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद एक वर्ष के भीतर ही अगले विशेषांक का प्रकाशन तो संभव नहीं था--क्योंकि क्षमता आकांक्षा का साथ नहीं दे पाती--पर हमने यह नहीं सोचा था कि 'केरल विशेषांक' और 'आंध्र विशेषांक' के बीच इक्कीस अंकों का अंतर होगा। इसका हमें हार्दिक दुख है, क्योंकि जिस उद्देश्य से इन विशेषांकों की योजना बनायी गयी है उसकी सफलता के लिए यह ज़रूरी है कि ये विशेषांक जल्दी-जल्दी प्रकाशित हों। हमारा विश्वास है कि हिंदी और अन्य भारतीय भाषा-भाषी बुद्धिजीवियों का एक-दूसरे से अधिक निकट से परिचित होना और परस्पर तादात्म्य स्थापित करना प्रत्येक के और समस्त राष्ट्र के हित में अत्यंत आवश्यक है। जिसे डॉ० गिडुगु सीतापति ने **समीपदेशस्थजनप्रभाव**

कहा है उससे कोई बच नहीं सकता। चाहे या न चाहे, जाने या न जाने, **समीपदेशस्थजन-प्रभाव** को प्रत्येक समाज ग्रहण करता ही है, करता ही रहेगा। इस कारण यह वांछनीय ही नहीं आवश्यक है कि हम उस प्रभाव के प्रकार और उसकी शक्ति से परिचित हों, इतना जान जायँ कि उस प्रभाव के किन दुष्परिणामों से हमें बचना है और कैसे बचना है, और किन सत्परिणामों का पूरा लाभ किस प्रकार उठा सकते हैं। इस सदसद्विवेक के विकास के निमित्त पहली आवश्यकता है उन समीपदेशस्थजन को भली भाँति जानने की जिनसे प्रभावित होना और जिन्हें प्रभावित करना हमारी नियति है।

हिंदी के विरुद्ध बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि अन्य भाषाएँ तो हिंदी से प्रभाव ग्रहण करने के लिए सदैव प्रस्तुत रही हैं पर हिंदी को अन्य भाषाओं से आने वाले प्रभावों को ग्रहण करने में संकोच होता है। भाषाशास्त्री जानते हैं कि यह आरोप निराधार और निस्सार है। अन्य भाषाओं के प्रभावों को अगर काट-छाँट कर अलग कर सकें तो हम शायद खुद ही अपनी हिंदी को न पहचान सकें।

पर इस आरोप का कारण यह नहीं है कि हिंदी के शब्दकोश में अन्य भाषाओं से आये हुए शब्दों की संख्या कम है; इस आरोप का प्रधान कारण वह भ्रम है जो हिंदी-विरोधी तत्वों ने जान-बूझ कर फैलाया है और जिसे हमने जानते हुए भी फैलने दिया है। और वह भ्रम यह है कि हिंदी वाले न अन्य भारतीय भाषाएँ सीखना चाहते हैं न अन्य भारतीय साहित्यों से परिचित होना चाहते हैं। यदि क्षण भर के लिए मान लें कि दोनों बातें सही हैं-- यद्यपि सत्य यह है कि इनमें से एक भी सही नहीं है--तो भी हम केवल तथ्यों तक ही तो पहुँचते हैं, तथ्यों के मर्म में तो प्रवेश नहीं कर पाते, तथ्यों के कारणों का तो पता नहीं पा जाते। हिंदी का बुद्धिजीवी वर्ग यदि उदासीन रहा है तो केवल अपरिचय के कारण, दुर्भावना के कारण नहीं। हम उसे ही जानने, पाने, अपनाने की चेष्टा करते हैं जो हमें, किसी भी कारण क्यों न हो, जानने, पाने, अपनाने योग्य लगती है। तेलुगु भाषा और साहित्य के प्रति हिंदी वालों की रुचि विकसित होगी या नहीं, यह बाद की बात है। पहले इतना परिचय तो हो जाय कि रुचि के विकसित होने की संभावना की बात की जा सके। पर अन्य भारतीय भाषाओं और साहित्यों के प्रति जिस जीवंत जिज्ञासा की अपेक्षा करना सर्वथा उचित है वह हिंदी वालों में निश्चयपूर्वक विद्यमान है। 'माध्यम' के प्रायः प्रत्येक अंक में किसी न किसी भारतीय भाषा की कविताएँ, कहानियाँ, निबंध आदि प्रकाशित होते रहे हैं। उनके और 'केरल विशेषांक' के आधार पर हम यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि हिंदी का बुद्धिजीवी अन्य भारतीय भाषाओं की साहित्यिक उपलब्धियों से परिचित कराये जाने के लिए प्रस्तुत ही नहीं, आतुर है। हमारे इन विशेषांकों की योजना इसी विश्वास के आधार पर बनायी गयी है।

'आंध्र विशेषांक' आपके हाथों में है। स्वाभाविक है कि पूर्व प्रकाशित 'केरल विशेषांक' से इसकी तुलना की जाय और दोनों के बीच साम्य और वैषम्य के कारणों को ले कर ऊहापोह हो। इस संबंध में हम दो बातें स्पष्ट करना चाहते हैं। प्रत्येक बार के अनुभव से जो सीखा

और जाना जाता है उससे आगामी प्रयोग के समय लाभ उठाने का प्रयास तो स्वाभाविक है ही, वैषम्य का एक कारण यह भी हो सकता है कि अनेक विशेषांकों की शृंखला की एक कड़ी होते हुए भी प्रत्येक विशेषांक एक स्वतः संपूर्ण इकाई के रूप में परिकल्पित है, क्योंकि **समीपदेशस्थ** जनप्रभाव को ग्रहण करने के बावजूद प्रत्येक भाषा-क्षेत्र का अपना एक व्यक्तित्व, एक वैशिष्ट्य होता है जिसका इन विशेषांकों में परिलक्षित होना आवश्यक है। इस कारण ये विशेषांक एक साँचे में ढले हुए नहीं हो सकते, हालाँकि उनमें बहुत कुछ सादृश्य होगा ही। प्रत्येक का अपना-अपना चित्र है, अपना-अपना चौखटा है।

हमने 'केरल विशेषांक' की तरह 'आंध्र विशेषांक' की रूपरेखा भी वहाँ के विद्वानों, साहित्यकारों और साहित्यानुरागियों के परामर्श से बनायी थी। प्रत्येक चुने हुए विषय पर लिखने के लिए एक ऐसे जाने-माने विद्वान को आमंत्रित किया जिसकी अर्हता उसके अपने प्रदेश में असंदिग्ध थी। और उस विद्वान से उस भाषा में लिखने के लिए अनुरोध किया गया जिसमें वह लिखना चाहता था। हम केवल उन्हीं का सहयोग नहीं चाहते थे जो स्वयं हिंदी में लिखने के अभ्यस्त हैं, क्योंकि हम चाहते थे कि प्रत्येक विषय पर उस विषय के योग्यतम विद्वान से लेख प्राप्त किया जाय। हमें पूरा विश्वास है कि इस प्रकार हमारे प्रयास की सार्थकता और उपयोगिता, गरिमा और मूल्य की वृद्धि ही हुई है। निश्चय ही इसका एक दुष्परिणाम भी हुआ। कुछ लेखादि के अनुवाद हमें इतने विलंब से मिले कि उन्हें इस विशेषांक में स्थान देना संभव न हो सका। ऐसे कई बहुत महत्त्वपूर्ण विषयों के बहुत अच्छे लेख हमारे पास हैं जिन्हें इस अंक में प्रकाशित न कर पाने का हमें दुख है। उनमें से कुछ तो अगले में--जिसमें 'आंध्र विशेषांक : परिशिष्टांक' का एक खंड होगा--और शेष क्रमशः आगे के अंकों में प्रकाशित होंगे। जिनके लेखादि हम इस अंक में प्रकाशित करने में असमर्थ हैं उनसे हम सविनय क्षमा-याचना करते हैं। उनकी रचनाएँ भी इसमें होतीं तो निस्संदेह यह विशेषांक अधिक गरिमामय और मूल्यवान हो जाता--शाब्दिक अर्थ में भी!

इस विशेषांक की संघटना का उद्देश्य समझाना आवश्यक नहीं है क्योंकि अनुक्रमणिका से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि हमने परिवेश और परंपरा, जन-जीवन और सांस्कृतिक गतिविधि से उन्हें परिचित कराने के बाद ही पाठकों के आस्वादन और मूल्यांकन के लिए तेलुगु की आधुनिक साहित्यिक उपलब्धियों के उदाहरण रखे हैं--क्योंकि साहित्य समाज के वर्चस्क की अभिव्यक्ति है और समाज के निर्माण और निखार की गतिविधि से परिचित होना ही समाज के वर्चस्क से परिचित होना है। हमारी चेष्टा रही है कि इस विशेषांक में हम ललित साहित्य की केवल उन्हीं रचनाओं के अनुवाद सम्मिलित करें जो सच्चे अर्थ में तेलुगु के आज के जीवंत साहित्य का प्रतिनिधित्व करती हैं--और जिनका हिंदी अनुवाद अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। यदि ऐसी कोई रचना प्रकाशित हो गयी है जिसका हिंदी अनुवाद पहले कहीं छप चुका है तो हमें खेद ही नहीं आश्चर्य भी होगा क्योंकि इस मामले में हमने यथाशक्य सावधानी बरतने की चेष्टा की है। लेखों में भी केवल दो ऐसे हैं (जिनके लिए हम कोजिकोड के 'युगप्रभात' के आभारी हैं) जो हिंदी में पहले प्रकाशित हो चुके हैं। 'भूमि और भूवासी' शीर्षक

लेख एकाधिक तेलुगु विश्वकोशों की सहायता से तैयार कराया गया। 'शिल्पकला' शीर्षक लेख लेखक की और 'विज्ञानसर्वस्वमु' नामक 'तेलुगु विश्वकोश' के संपादन-मंडल के सचिव श्री मोटूरि सत्यनारायण की अनुज्ञा से उस कोश से लिया जा सका। 'तेलुगु भाषा का इतिहास', 'नृत्य-संप्रदाय' तथा 'लोक-गीत साहित्य' शीर्षक लेखों को 'संग्रह आंध्र विज्ञान कोश' नामक तेलुगु विश्वकोश से अनूदित करने की अनुमति के लिए हम उनके लेखकों और उक्त कोश के संपादन-मंडल के सचिव डॉ० खंडवल्लि लक्ष्मीरंजन के ऋणी हैं। डॉ० वीरभद्र राव ने अपने तेलुगु में और श्री मखदूम मोहीउद्दीन ने अपने अंग्रेज़ी में पूर्व प्रकाशित लेखों के प्रकाशन की अनुमति दे कर हमें अनुगृहीत किया। ललित साहित्य की रचनाओं के अनुवाद और प्रकाशन की अनुज्ञा के लिए हम रचनाकारों के आभारी हैं। 'अवधानम्' और 'तेलुगु पिंगल' शीर्षक लेख हमें बहुत पहले मिल गये थे, विशेषांक में प्रकाशनार्थ रोक लिये गये थे। शेष बीस लेख इस विशेषांक के लिए ही लिखाये गये। इन बीस लेखों में से नौ हिंदी में, नौ तेलुगु में और केवल दो अंग्रेज़ी में प्राप्त हुए।

जिन मित्रों के प्रति आभार प्रकट करना हमारा कर्तव्य है उनमें हैदराबाद के डॉ० भीमसेन 'निर्मल', झारसुगुड़ा (उड़ीसा) के श्री निर्मलानंद वात्स्यायन, अलीगढ़ के श्री हनुमच्छास्त्री अयाचित तथा आगरा के डॉ० न० वी० राजगोपालन तथा श्री विजयराघव रेड्डी के प्रति हम विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। इन मित्रों ने विशेषांक की रूपरेखा बनने के समय से अंत तक हमारी बहुत मदद की। डॉ० भीमसेन 'निर्मल' से तो हम कभी उऋण ही नहीं हो सकते। यह विशेषांक जितना हमारा है उससे कम उनका नहीं है।

और अंत में हम आभार व्यक्त करना चाहते हैं डॉ० गोपाल रेड्डी महोदय के प्रति। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में, आंध्र प्रदेश की साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष के रूप में, एक साहित्यानुरागी और साहित्यकार के रूप में, सभी रूपों में उनसे हमें प्रेरणा और सहायता मिली।

आभार-प्रदर्शन के इस प्रिय कार्य के बाद अब हमारे लिए इतना ही शेष रह जाता है कि अपने पाठकों से निवेदन करें कि 'कृपया पृष्ठ उलटिए'।
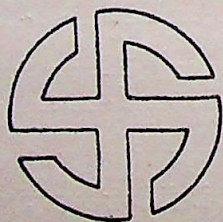
स्वर्गीय चंडमूरि सत्यनारायण राव 'श्रीवात्सव'

प्रभाकर माचवे

दो सप्ताह पूर्व यह समाचार सुने कि हृदय-गति रुकने से सहसा आंध्र लेखक 'श्रीवात्सव' का विलिंग्डन अस्पताल में देहांत हो गया। उनका परिचय लेखक-परिचय पुस्तक में यों छपा था, १९५७ में :

"२१-५-१९१३ को पूर्व गोदावरी ज़िले में जन्म, आंध्र विश्वविद्यालय के स्नातक। एक दर्जन पुस्तकों के लेखक : सैरंध्री (कथा) १९३३, कमला भास्करम् (नाटक) १९४४, वेल्लदे बोम्मा (कथा) १९४७, तीरनि कोरिकलु (नाटक) १९४९, रत्नाल नव्वु (कथा) १९५३, तेल्ल गुलाबी (नाटक) १९५७।"

मुझे उनसे मद्रास और दिल्ली में भी रेडियो में और कई सभा-समारोहों में मिलने का सौभाग्य मिला था। वे अनेक भाषाएँ जानते थे और वाक्पटु थे। गत वर्ष साहित्य अकादेमी की अनौपचारिक साहित्य-गोष्ठी में वे 'भारतीय साहित्य में उर्वशी' पर बोले थे और कालिदास, रवींद्रनाथ, दिनकर और देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री का बड़ा ही सुंदर, सोदाहरण, तुलनात्मक अध्ययन उन्होंने प्रस्तुत किया था।

वे प्रतिवर्ष विश्व-साहित्य और भारतीय साहित्य की गतिविधि का लेखा-जोखा आंध्र पत्रिकाओं में अनेक वर्षों तक लिखते रहे। मैक्सम्युलर भवन में एक-दो गोष्ठियों में उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र संबंधी बहुत अच्छे प्रश्न उठाये थे। वे अपने पीछे दो संतान छोड़ गये हैं। उनके शोकग्रस्त परिवार और उनके आत्मीय जनों की ही नहीं, इस प्रतिभावान साहित्यकार के असमय उठ जाने से आधुनिक तेलुगु साहित्य की बहुत बड़ी क्षति हुई है।

ईश्वर उनके परिवार के सदस्यों को यह आघात सहने की शक्ति और दिवंगत आत्मा को चिर शांति दे।

—साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली।

(डॉक्टर माचवे के साथ 'माध्यम' परिवार भी श्री 'श्रीवात्सव' की स्मृति में अपनी श्रद्धा निवेदित करता है। हमारे अनुरोध पर उन्होंने इस विशेषांक के लिए दो लेख लिख कर भेजे और कई उपयोगी सुझाव दिये। उनका एक लेख इस अंक में जा रहा है, दूसरा बाद में प्रकाशित होगा। ––संपादक)

तेलुगु की विकास-यात्रा

• •

३०० ईसा पूर्व-१०३० ईस्वी (पूर्व-नन्नय युग)

- तेलुगु के शब्द प्राकृत में खपते रहे।
- सातवीं शती से अभिलेखों में तेलुगु का प्रयोग।
- ८४९-५० के एक अभिलेख में प्रथम तेलुगु पद्य-रचना प्राप्त।

१०३०-१४०० ईस्वी (महाकवित्रय का युग)

- नन्नय द्वारा 'महाभारतम्' का प्रणयन--१०३० में अपूर्ण छोड़ कर दिवंगत।
- १३वीं शती में तिक्कन द्वारा अंतिम १५ पर्वों को, और
- १४वीं शती में एर्राप्रगड द्वारा बीच के पर्वों की रचना।
- 'रंगनाथ रामायण', 'उत्तर हरिवंश' आदि महाकाव्यों की रचना।

१४००-१५०० ईस्वी (पूर्व-प्रबंध युग)

- पोतन्न के 'भागवतम्' द्वारा भक्ति-काव्य की, और
- श्रीनाथ के 'श्रृंगार नैषधम्' द्वारा प्रबंध-काव्य की परंपरा आरंभ।

१५००-१८०० ईस्वी (प्रबंध युग)

- सम्राट कृष्णदेव राय : प्रबंध-काव्य 'आमुक्तमाल्यदा'।
- पेद्दन्ना, तेनालि रामकृष्ण आदि की रचनाएँ।
- विजयनगर साम्राज्य का पतन।
- क्षेत्रज्ञ के पद।
- वेमन की रचनाएँ।

१८०० ईस्वी से (आधुनिक युग)

- १८१२ में डॉ० विलियम केरी : प्रथम तेलुगु मुद्रणालय की स्थापना।
- चिन्नय सूरि : साहित्यिक गद्य-लेखन का सूत्रपात।
- वीरेशलिंगम पंतुलु : पुनर्जागरण के अग्रदूत।
- तिरुपति कवुलु : शास्त्रीय काव्य-पद्धति का पुनःसंस्कार।
- गुरजाड अप्पाराव : काव्य में बोलचाल की भाषा का प्रवेश।
- गिडुगु वेंकट राममूर्ति : 'आधुनिक तेलुगु आंदोलन'।

प्रशस्ति

(आंध्र प्रदेश की स्थापना के अवसर पर लिखित)

आंध्रप्रदेश इति विश्रुतचारुनाम्ना
देशप्रधानसचिवाशिषमादधानः
सुस्थापितो भवति यो महनीयराष्ट्रे
भूयाद्विशिष्टविभवान्वितमंडलोऽसौ ।

एकैक भाषांचितमंडलोऽपि
समीपदेशस्थजनप्रभावाद्
विभिन्नसंस्कारसमृद्धियुक्त
आंध्रप्रदेशो लभते प्रसिद्धिम् ।

संकीर्तनानां फलमुत्कलेभ्यः
शौर्यं महाराष्ट्रकनायकेभ्यः
साहित्यलक्ष्यं हलकन्नडेभ्यो
लोकज्ञतां द्राविडसोदरेभ्यः ।

एवं परेभ्यः सुगुणानवाप्य
स्वतः प्रसिद्धात्मबलेन युक्तः
आचंद्रतारार्कममोघशक्त्या
आंध्रप्रदेशो नितरामुदीयात् ।

•

मिडुमु वेंकट सीतापति ।
('कवितोदयचंद्रिका' से)

आंध्रप्रदेश : भूमि और भूवासी

'आंध्र' शब्द आंध्र प्रदेश और आंध्र प्रजा, दोनों का सूचक है। प्राचीन शिलालेखों और वाङमय से पता चलता है कि 'अंध्र' ही प्राचीन रूप है और 'आंध्र' बाद का विकसित शब्द है। बौद्ध और पालि वाङमय में 'आंध्र' लोगों के लिए 'अंधक' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसा लगता है कि चौदहवीं शती ईस्वी के अंत में 'आंध्र' शब्द का प्रयोग होने लगा था।

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में आंध्रपद का प्रथम प्रयोग उपलब्ध हुआ है। 'समंत वासादिक' नामक बौद्ध ग्रंथ में 'दमिळ' और 'अंध' नामक लोगों को 'म्लेच्छ' कहा गया है। बौद्ध वाङमय में यह भी उल्लेख आया है कि गोदावरी नदी के तीर पर 'अंधक-रट्ठ (आंध्र राष्ट्र) विद्यमान है और 'अस्सक' 'अळक' राजा वहाँ शासन करते थे।

चौथी शती ई० पू० में चंद्रगुप्त के दरबार में आये ग्रीक यात्री ने आंध्रों का उल्लेख किया है। अशोक के शिलालेखों में आंध्र' शब्द का 'जाति' या 'प्रजा' वाचक रूप में प्रयोग प्राप्त हुआ है। चौथी ईस्वी में पल्लव-राजाओं के प्राकृत शिलालेखों में 'अंधापथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। छठी शती ई० में मौखरि वंशीय राजाओं के शिलालेखों में 'प्रजा' के अर्थ में 'आंध्र' का प्रयोग किया गया है, इससे स्पष्ट होता है कि 'आंध्र' शब्द राष्ट्रवाचक या देशवाचक तथा जाति-विशेष का वाचक था। तमिल में आंध्रों को 'वडुग' कहा गया है, जिसका व्युत्पत्तिकृत अर्थ है 'उत्तर दिशा के लोग'।

'तेलुगु' शब्द आजकल 'आंध्र' का पर्यायवाची हो गया है। पता नहीं है कि किस प्रकार इसका यह पर्यायित्व सिद्ध हुआ। दसवीं शती ईस्वी के पहले के शिलालेखों में 'तेलुगु' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। तमिल, कन्नड़ और आंध्र के शिलालेखों में ग्यारहवीं शती ईस्वी से 'तेलुगु' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। यहाँ भी 'तेलुग' 'तेलुङ्गु', 'तेंलिग' (—इनमें 'ते' का एकार दीर्घ नहीं है, किंतु ह्रस्व है) जैसे पद जनता या जाति का बोधक है। एक शिलालेख में 'तेलुंगनाडु' (याने 'तेलुगु देश') प्रयोग देश के अर्थ में आया है।

ग्यारहवीं शती ई० में 'तेलुगु' का रूपांतर 'तेनुगु' भी प्रयोग में आया। यह भाषाबोधक है। 'तेलुगु' शब्द 'त्रिलिंग' से व्युत्पन्न है। श्रीशैल, काळेश्वर, दाक्षाराम नाम तीन शैव स्थानों में प्रतिष्ठित तीन लिंगों के कारण इस देश का यह नाम पड़ा होगा। विद्यानाथ कवि ने 'प्रतापरुद्रीय' नामक अलंकार ग्रंथ में इस बात का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों ने 'त्रिकलिंग' से 'तेलुगु' का उद्भव माना है। इसी प्रकार 'तेनुगु' का उद्भव 'त्रिनग' से माना गया है।

किंतु ये सब व्युत्पत्तियाँ प्रामाणिक विदित नहीं होतीं। विद्यानाथ ने काकतीय प्रतापरुद्र के पराक्रम तथा उसकी शिव-भक्ति की व्यंजना करते हुए 'त्रिलिंग' का वर्णन किया है।

यद्यपि विद्यानाथ के बाद के अनेक लक्षणकारों ने इस बात को दुहराया है। तो भी प्राचीन प्रमाण प्राप्त नहीं होते। सारांश यह है कि 'तेलुगु' की न तो व्युत्पत्ति ज्ञात हुई है, न यही कि वह मूल रूप में देशवाचक था, जातिवाचक था या भाषावाचक था। यदि यह जातिवाचक है, तो फिर यह प्रश्न उठता है कि 'तेलुगु' और 'आंध्र' आदि में भिन्न जातियाँ थीं या एक। यह सब ऊहापोह का विषय है; इसके संबंध में पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। लेकिन 'नन्नय भट्टारक' के काल से (ग्यारहवीं शती ई०) आंध्र और तेलुगु पर्याय हो गये और इनसे देश एवं भाषा, दोनों का बोध होता है।

प्राचीन काल में आंध्र देश की सीमा क्या थी, इसका उल्लेख सत्रहवीं शती ईस्वी के एक शिलालेख में यों है :

> पश्चात् पुरस्तादपि यस्य देशौ
> ख्यातौ महाराष्ट्र कलिंग संज्ञौ।
> अर्वागुदक् पांड्यक कान्यकुब्जौ
> देशस्स्म तत्रास्ति तिलिंगनामा।

आज तेलुगु प्रदेश की सीमाएँ हैं—उत्तर में मध्यप्रदेश, उत्तरपूर्व में उड़ीसा, पूर्व में बंगाल की खाड़ी, दक्षिण में मद्रास और मैसूर और पश्चिम में मराठवाड़ा। भाषा की दृष्टि से उड़िया, हिंदी, मराठी, कन्नड़ और तमिल भाषाएँ तेलुगु भाषा के चारों ओर हैं। आंध्रप्रदेश दकन पठार के उत्तर-पूर्व भाग में पठार के चौथाई हिस्से में फैला है, जिसका वैशाल्य लगभग १,०५,१३२ वर्गमील है। भारत के राज्यों में उत्तर प्रदेश, बंबई, मध्यप्रदेश और राजस्थान के बाद आंध्र बड़ा राज्य है। उत्तर अक्षांश १२°-४१' से २०° तक और पूर्व रेखांश ७७° से ८४°-५०' तक फैला है।

आंध्र प्रदेश के अंतर्गत तीन प्राचीन विभाग हैं: (१) 'सरकार ज़िले' कहलाने वाले श्री काकुळम् विशाखापट्टणम, पूर्व और पश्चिम गोदावरी, कृष्णा, गुंटूर तथा नेल्लूरु। (२) 'रायलसीम' कहलाने वाले कडपा, करनूलु, अनंतपुरम और चित्तूरु। (३) 'तेलंगाणा' प्रदेश, जो पहले हैदराबाद रियासत की सीमा के भीतर था, आदिलाबाद, वारंगल, करीम नगर, निज़ामाबाद, मेदक, हैदराबाद, नलगोंड और महबूबनगर। पुरानी हैदराबाद रियासत के ज़िला रायचूर के अलंपूर और गद्वाल इलाक़े अब आंध्र में ही हैं। इस सारे प्रदेश में तेलुगु या आंध्र भाषा बोली जाती है। 'उर्दू' भी कहीं-कहीं व्यवहृत है।

आंध्र प्रदेश में 'पूरब की घाटियाँ' हैं। ये पश्चिमी घाटी की जितनी ऊँची नहीं हैं और इनकी श्रृंखला निरंतर नहीं चलती है। उड़ीसा की सीमा से ले कर समुद्र-तट के समानांतर ही दक्षिण-पश्चिम दिशा में लगभग ५० मील कृष्णा नदी तक फैल कर फिर दक्षिण दिशा में मुड़ जाती है और मैसूर के पठार और चित्तूरु ज़िला तक जाती हैं; वहाँ से पुनः दक्षिण-पश्चिम दिशा में आगे बढ़ कर नीलगिरि पर्वतों (पश्चिम घाटी) में मिल जाती हैं। इन घाटियों के भिन्न-भिन्न

स्थानों में भिन्न-भिन्न नाम हैं। इनके उत्तर के हिस्से में, जहाँ बड़े-बड़े जंगल फैले हैं, आदिम जाति के लोग निवास करते हैं। प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्र श्रीशैल, अहोबिल, लेपाक्षि, मंगलगिरि, तिरुपति आदि स्थान तथा कोंडवीडु, नागार्जुन कोंड आदि स्थान इनमें विद्यमान हैं। इन घाटियों में मध्य-युग में अनेक 'गिरिदुर्ग' भी बने थे, जिनके भग्नावशेष अब भी देखे जाते हैं।

आंध्रप्रदेश जल-संपदा से परिपूर्ण है। गोदावरी और कृष्णा, दो बड़ी नदियाँ हैं और पेन्ना (पिनाकिनी), तुंगभद्रा, वंशधारा और लांगुल्य नामक चार मध्यम स्तर की और बाहुदा, शारदा, पालेरु, मन्नेरु, स्वर्णमुखी आदि लगभग तीस नदियाँ यहाँ की धरती को शस्य श्यामला बनाती रहती हैं। इन सब नदियों की कुल धारा ४००० मील लंबी हो सकती है; इनमें गोदावरी नदी बंबई के पास नासिक में पश्चिम घाटियों से निकल कर दकन में पूरब की ओर बहती है; इसके तीर भद्राचल नामक प्रसिद्ध राममंदिर का स्थान है। वहाँ से आगे पूरब की घाटियों में प्रवेश कर के दक्षिण-पूर्व दिशा में अनेक शाखाओं में बहती है और बंगाल की खाड़ी में गिरती है। इसमें कहीं-कहीं बिजली-उत्पादन भी होता है और कुछ ज़िलों में छोटे स्टीम-बोट का यातायात होता है। इस नदी के बीच में अनेक टापू भी हैं। इस नदी की लंबाई ९०० मील है।

दूसरी नदी कृष्णा है, जो पश्चिम घाटियों में महाबलेश्वर से निकल कर बंबई राज्य में से चलती है और रायचूर के पास आंध्र प्रदेश में प्रवेश करती है, इसकी लंबाई ८०० मील है। इन नदियों में अनेक बाँध बनाये गये हैं और २८ लाख से अधिक एकड़ भूमि की सिंचाई इन सब नदियों के द्वारा होती है। अनेक बाँधों और नहरों के कारण सरकार ज़िलों का भाग अत्यंत उपजाऊ और शस्यसमृद्ध रहता है। आंध्र के अनेक नगर काकिनाडा, राजमहेंद्र वर, एलूरु, विजयवाड़ा, गुंटूरु, नेल्लूरु आदि नगर यहीं बसे हैं। इन भागों में पर्याप्त मात्रा में धान, ईख आदि होते हैं और अनेक फलों की फ़सल भी होती है। ऊपर ऊँची खुश्क ज़मीन में तमाखू की फ़सल होती है।

आंध्र प्रदेश में तीन निसर्ग-निर्मित बड़े जलाशय हैं। समुद्र-तटीय भाग के दक्षिणी छोर में 'पुलिकाटु सरस्सु' और उत्तरी छोर में 'चिलुक सरस्सु' हैं। मध्य में कृष्णा-गोदावरी डेल्टा में 'कोल्लेरु' है।

पूरब का समुद्र-तट बंदरगाह बनाने के योग्य नहीं है। किंतु विशाखापट्टणम के पास डाल्फिन् नोस' कहलाने वाला एक पहाड़ तीर से समुद्र के भीतर फैला है, जिसके कारण एक नैसर्गिक नौका-केंद्र बन गया है। यह भारत का एक प्रमुख बंदरगाह है और यहाँ जहाज बनाने का कारखाना भी है।

आंध्र प्रदेश की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि देश के अंतर्भाग में पठार है; अधिकांश पहाड़ों से भरा हुआ; यहाँ वर्षा का जलपात कम होता है और ज़मीन वैसी उपजाऊ भी नहीं है। सिंचाई की व्यवस्था कम हो पाने से यहाँ खेती-बारी होना संभव नहीं है। समुद्र-तीर का प्रदेश नदियों के द्वारा बहायी गयी मिट्टी के फैलने के कारण अत्यंत उर्वर हो गया है। यहाँ खेती खूब होती है। प्राचीन काल से ही यह समुद्र-तटीय भाग जन-संकुल रहा है। इतिहासकारों का कथन है कि आर्यों के आक्रमण के कारण, यहाँ के पूर्वनिवासी—द्रविड़ जाति के लोग—अपना स्थान

छोड़ कर सुरक्षा के लिए पहाड़ों में जा बसे। यों यह तटीय भाग आर्य संस्कृति और सभ्यता के विकास का आधार बना। दकन-पठार पूरब दिशा में नीचे की ओर झुका हुआ है, जिससे पश्चिमी घाटियों से बहने वाली नदियाँ पूरबी घाटियों में दर्रों से हो कर चलती हैं और बंगाल की खाड़ी में आ मिलती हैं। इससे भीतरी भाग से नावों के द्वारा समुद्र-तट तक वस्तुओं का आयात होना सुकर है।

प्राकृतिक समृद्धि से परिपूर्ण यह भू-भाग प्राचीन काल से ही देश-विदेश के लोगों के आकर्षण का कारण रहा है। इधर आंध्र लोग उस समय के छोटे-छोटे बंदरगाहों—गोपालपुरम्, कलिंगपट्टणम, भीमुनिपट्टणम, विशाखापट्टणम, कोरंगि, काकिनाडा, मचलीपट्टणम, मोटुपल्लि, क्रोत्तपट्टणम, कृष्णापट्टणम, दुगराजुपट्टणम, पुलिकाटु आदि स्थानों से चल कर सुवर्ण, रमणक, यव आदि द्वीपों में जाते थे। तो उधर विभिन्न दिशाओं से समय-समय पर विभिन्न जाति के लोग आंध्र प्रदेश पर आक्रामक हो कर आये। वाकाटक, विष्णुकुंडी, चालुक्य, राष्ट्रकूट, उत्कलीय, काकतीय, बहमनी, कुतुबशाही, मुग़ल आदि सेनाओं के द्वारा आक्रांत होता रहा। इस प्रकार यह प्रदेश विविध जातियों की संस्कृतियों का संगम-स्थान हुआ। उत्तर और दक्षिण की सभ्यता तथा संस्कृति का समन्वय इसी भाग में होता रहा है।

पूर्वपर्वत-श्रेणी समुद्र-तट और भीतरी भाग में स्थलमार्ग के आवागमन को कठिन बना देती है। यही कारण है कि पूर्व युगों में सारा आंध्र प्रदेश एक ही शासन के अधीन कम ही आ पाया। स्थान-स्थान पर अनेक 'गिरिदुर्ग' बने रहते थे और इनके सहारे अनेक छोटे-मोटे नरेश छोटे राज्य बना लेने में समर्थ हो जाते थे। विजयनगर, हनुमकोंड, कोंडवीडु, चंद्रगिरि, पेनुगोंड, रामचूरु, गंडिकोट इत्यादि नगर ऐसे दुर्गों के आसपास बने थे और इन स्थानों से संबंधित युद्ध वास्तव में एक दूसरे के दुर्गों को हस्तगत करने के लिए होते थे।

धर्म और संस्कृति के विकास में तथा धार्मिक एकता के स्थापन में ये पर्वत-शिखर बहुत सहायक बने। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तिरुपति, श्रीशैल इत्यादि अनेक पुण्य-स्थान और मंदिर इन शिखरों में निर्मित हैं और श्रद्धालु जनता की इन स्थानों की यात्रा बराबर चलती रहती है। आंध्र जन-जीवन के वास्तविक केंद्र ये पुण्यस्थान ही हैं।

[तेलुगु विज्ञानसर्वस्वमु (विश्वकोश) के आधार पर]

—न० वी० राजगोपालन,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।

आंध्र-प्रदेश : महत्वपूर्ण तिथियाँ

● ●

लगभग ५००-३०० ई० पू० — संभवतः आंध्र का उपनिवेशीकरण इस अवधि में हुआ। आपस्तंब ने विधि-शास्त्र का निर्माण किया। बौद्ध धर्म का समावेश हुआ, जो शीघ्र ही सर्वसाधारण का धर्म बन गया।

२६३ ई० पू० — सातवाहन-वंश का प्रथम शासक सत्तारूढ़ हुआ। इस समय तक अमरावती स्तूप का और जग्गयपेठ के कुछ भाग का निर्माण-कार्य शुरू हो चुका होगा।

२८ ई० पू० — सातवाहन-वंश के १५ वें शासक पुलमावी ने कण्वों को पराजित किया तथा सातवाहनों को साम्राटिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

सन ६२ ई० — गौतमीपुत्र सातकर्णी ने शकों तथा अन्य राजाओं को पराजित कर आंध्र के सातवाहन-वंश के ऐश्वर्य का विस्तार किया। उसके समय में सातवाहन-साम्राज्य गंगा से कन्याकुमारी तक फैला। उसने नहपान के सिक्कों पर पुनः अपना नाम अंकित कराया।

सन १२८ ई० — यज्ञश्री सातकर्णी, सातवाहन-वंश का अंतिम प्रसिद्ध शासक सत्तारूढ़ हुआ। उसके समय में, सातवाहनों के साम्राज्य का पश्चिमी भाग शकों के अधिकार में चला गया और उन्हें अपनी मूल भूमि आंध्र प्रदेश में ही सीमित हो जाना पड़ा।

सन १६३ ई० — (१) सातवाहन-वंश विलुप्त हो गया।

(२) कृष्णा-तट पर इक्ष्वाकुओं ने, पश्चिम में आभीरों और शकों ने, उत्तर में कलिंगों ने तथा दक्षिण में चुटु सातकर्णियों ने साम्राज्य के विभिन्न भागों पर अधिकार जमा लिया।

(३) बौद्ध धर्म जनसाधारण के धर्म के रूप में जारी रहा।

(४) अगली शताब्दी में, अमरावती स्तूप परिवर्धित किया गया तथा श्रीपर्वत (आज का नागार्जुनकोंड) बौद्ध धर्म के एक अन्य महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

सन २००-४०० ई० — (१) यह अवधि बृहत्पालायन, शालंकायन तथा अन्य अनेक राज-वंशों के उत्थान-पतन के लिए प्रसिद्ध हुई।

(२) सन ३५० ई० में, समुद्रगुप्त ने अपनी विजय-यात्रा के दौरान तेलुगु प्रदेश पर आक्रमण किया।

(३) इस अवधि के अंतिम भाग में उत्तर में विश्वकुंडिनों और दक्षिण में पल्लवों का शक्तिशाली सत्ताओं के रूप में उदय हुआ।

(४) हिंदू कर्मकांड को प्रमुखता मिलने लगी।

(५) शिलालेखों की भाषा के रूप में संस्कृत, प्राकृत का स्थान लेने लगी।

(६) महायान के विविध रूपों से जनसाधारण में मूर्ति-पूजा का प्रवेश हुआ।

सन ४००-६०० ई० (१) उत्तर में विष्णुकुंडिनों और दक्षिण में पल्लवों ने हिंदुत्व को प्रोत्साहन दिया।

(२) इस अवधि में उंडवल्लि गुफाओं और महाबलिपुरम के एकाश्मक रथों की रचना हुई।

(३) शासकों द्वारा शैवमत को प्रश्रय मिला।

(४) व्यापार और उपनिवेशीकरण के माध्यम से बंगाल की खाड़ी के पूर्वी इलाक़ों से संबंध विकसित हुए।

सन ६३१ ई० तेलुगु प्रदेश पर चालुक्य-विजय और पूर्वीय चालुक्य राजवंश का आरंभ।

लगभग ७५० ई० दक्षिण में पूर्व-मीमांसा शास्त्र के संस्थापक कुमारिल ने वामाचार-कृत्यों के प्रवेश से जर्जर बौद्ध धर्म पर अंतिम प्रहार किया। उग्र शैवों ने बौद्धों के पंचारामों पर, अपने पवित्र स्थानों के रूप में उपयोग करने के लिए अधिकार लिया।

सन ८४८ ई० पूर्वीय चालुक्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध गुणग विजयादित्य सत्तारूढ़ हुआ। उसने दक्षिण में अपने समकालीन सभी शासकों को जीत लिया और स्वयं को 'दक्षिणपथपति' घोषित कर दिया। तेलुगु के शासकीय संरक्षण का आरंभ इसी शासक से हुआ।

सन ९९९ ई० पूर्वीय चालुक्यों ने अपना प्रभुत्व खो दिया और चोलों के अधीनस्थ की भूमिका निभाने लगे।

सन १०७६ ई० पूर्वीय चालुक्यों की वास्तविक सत्ता समाप्त हो गयी। सामंतों ने आपस में राज्य बाँट लिया और शासन करने लगे।

सन ११०४ ई० पलनाड का युद्ध।

सन ११९८ ई० (१) काकतीय शासक गणपति देव सत्तारूढ़ हुआ।

(२) सातवाहन-काल के पश्चात, पहली बार गणपति देव के

राज्य-काल में तेलुगु प्रदेश एक प्रशासन के अंतर्गत लाया गया।

सन १२६२ ई०	काकतीय सिंहासन पर रुद्रमादेवी का आरोहण। अपने नाम से शासन करने वाली वह प्रथम तेलुगु सम्राज्ञी है।
सन १३२३ ई०	तुग़लक की सेनाओं ने वारंगल के क़िले पर अधिकार कर लिया तथा अंतिम काकतीय शासक बंदी बना लिया गया।
सन १३३७ ई०	विजयनगर साम्राज्य की स्थापना।
सन १३४७ ई०	प्रथम बहमनी सुल्तान ने आज़ादी घोषित कर दी।
सन १३५८ ई०	कपय के नेतृत्व में तेलुगु नायक राजाओं ने संगठित हो कर वारंगल पर पुनः अधिकार कर लिया तथा तेलुगु प्रदेश से मुस्लिमों को खदेड़ दिया।
सन १५०९ ई०	कृष्णदेवराय विजयनगर के सिंहासन पर बैठे। विजयनगर के 'स्वर्ण-युग' के नाम से विख्यात उनके शासन-काल में कला और साहित्य का पुनरुत्थान हुआ।
सन १५१८ ई०	गोलकुंडा की कुतुब-शाही ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।
सन १५३० ई०	कृष्णदेव राय की मृत्यु।
सन १५६५ ई०	२३ जनवरी को रखस-तगड़ी का युद्ध हुआ।
सन १६५२ ई०	मुस्लिम सेनाओं द्वारा विजयनगर के उत्तराधिकारियों की अंतिम पराजय।
सन १६८७ ई०	मुग़ल सेनाओं के हाथों गोलकुंडा का पतन।
सन १७०१ ई०	प्रथम ईसाई संघ ने धर्म-परिवर्तन का कार्य आरंभ किया।
सन १७२४ ई०	आसफ़ जही शासन का आरंभ।
सन १७६८ ई०	निज़ाम ने उत्तरी 'सरकार' (आंध्र प्रदेश के वर्तमान तटवर्ती ज़िले) ईस्ट इंडिया कंपनी को दे दिये।
सन १८०० ई०	निज़ाम द्वारा रायलसीमा ज़िलों का ईस्ट इंडिया कंपनी को समर्पण।
सन १८५५ ई०	विजयवाड़ा में कृष्णा नदी पर एक बाँध का निर्माण।
सन १८६४ ई०	तेलुगु क्षेत्र में पहली रेलवे लाइन का निर्माण।
सन १९१३ ई०	आंध्र महासभा ने एक अलग आंध्र-प्रदेश की रचना की माँग का प्रस्ताव पारित किया।
सन १९४७ ई०	भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की।
सन १९५३ ई०	मद्रास राज्य का तेलुगु-भाषी क्षेत्र, आंध्र-राज्य की रचना के लिए अलग किया गया।
१ नवंबर, सन १९५६ ई०	आंध्र-प्रदेश की स्थापना।

सी० शिवराम मूर्ति

आंध्र शिल्प-कला का विकास

हमारे देश में विकसित विविध शिल्प-कला-संप्रदायों में अमरावती शिल्प-संप्रदाय को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अमरावती में प्राप्त शिल्प-संपदा को हम आंध्र प्रदेश की ही नहीं समस्त देश की अमूल्य निधि कह सकते हैं। 'आंध्र प्रदेश में विकसित तथा पल्लवित शिल्प-संप्रदायों के मूल में अमरावती शिल्प-संप्रदाय-काल का आदर्श निहित है', कहने में कोई अत्युक्ति न होगी।

आंध्र शिल्प-संप्रदायों का अध्ययन करने से हमें यह भली भाँति प्रकट होगा कि समरसता ही उसका प्राण है। और आंध्र शिल्पी जितना कला-निपुण तथा मर्मज्ञ है, उतना ही रसज्ञ भी। उनकी कृतियों में शास्त्रीयता के साथ-साथ प्रकृति का उपादेय अंश भी यथोचित रीति में सम्मिलित हुआ है। भावना-स्वतंत्र होने के कारण आंध्र शिल्पी शास्त्रीय नियमों का दास नहीं बना और विशाल हृदय होने के कारण उसने देशी तथा विदेशी सभी शिल्प-संप्रदायों का सर्वथा ग्रहण किया। इनकी कृतियों में वास्तविकता और यथार्थ सर्वत्र विद्यमान है। आंध्र शिल्पों में लावण्य और मनोहारिता अधिक है, लेकिन कहीं भी अतिशय शृंगारिकता नहीं है। आंध्र शिल्पी भारत के मध्य भाग में रहता है। इसने अपनी कला में जो मार्ग अपनाया, वह भी मध्यम मार्ग है। उसके कला-सर्जन का निगूढ़ रहस्य यही है।

अन्य बातों की जानकारी की भाँति शिल्प-कला की प्राचीनता का पता लगाने के लिए हमें पुरातत्व की खोजों द्वारा उत्कीर्ण सामग्री का सहारा लेना पड़ता है। सौभाग्य की बात है कि आंध्र प्रदेश में शिल्प-संपदा का अवशेष विपुल मात्रा में उपलब्ध है। अशोककालीन शिल्प-कला को यदि हम अपने देश की अति प्राचीन शिल्प-कला मानेंगे तो तत्कालीन शिल्प-संपदा का भांडार आंध्र प्रदेश में सर्वत्र भरा पड़ा है। उत्तर भारत के भरहूत और बुद्धगया में प्राप्त शिल्प-कला-विकास की प्रथम दशा की अति प्राचीन अनुपम शिल्प-कृतियाँ अमरावती, जग्गय्य-पेटा में उपलब्ध हुई हैं। इन शिल्प-कृतियों की मुख-मुद्राएँ, आँख, नाक, ओंठ आदि उनके शारीरिक अंग-प्रत्यंग, उनकी पगड़ियाँ, आभूषण, वस्त्र पहनने के तौर-तरीक़ों में जो समानता पायी जाती हैं, उनको देखने से हमें तत्कालीन शिल्प-कला के पारस्परिक अविनाभाव संबंध का बोध होता है। इस पारस्परिक संबंध के कारण दक्षिण भारत तक व्याप्त अशोक-साम्राज्य से उत्पन्न राजनीतिक ही नहीं, अपितु उससे सम्पन्न सांस्कृतिक एकता भी है। मौर्यवंशीय राजाओं के परवर्ती राजा होने के कारण दक्षिण भारत में पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच के प्रदेश में राज्य करने वाले इन शुंग, कलिंग और सातवाहन राजाओं को भी मौर्यों के, वे ही कला-संप्रदाय पैतृक संपत्ति के रूप में

प्राप्त हुए थे। इसके अतिरिक्त सातवाहन-साम्राज्य के पूर्व तथा पश्चिमी भागों के शिल्पों तथा चित्रों में उत्कीर्ण और चित्रित भंगिमाओं में हमें एकरूपता मिलती है। यह एकरूपता उनके आकार-प्रकार, वस्त्र-धारण और अलंकरण-विधान के अतिरिक्त उनकी भंगिमाओं तथा प्रकृतियों में भी पायी जाती है। इस कारण कृष्णा नदी-तटीय प्रदेशों में प्राप्त शिल्प-कृतियों के साथ दकन के अजंता-चित्रों और पश्चिम भारत के गुहा-शिल्प-चित्रों की तुलना कर इस विषय में अध्ययन करने की नितांत आवश्यकता है।

अशोक ने बौद्ध धर्म-प्रचारार्थ कई आचार्यों को दूसरे देशों तथा देश के विविध प्रदेशों में भेजा था। इन आचार्यों में से एक को उन्होंने तत्कालीन आंध्र प्रदेश में भी भेजा था। इस प्रदेश में प्राप्त अनेक बौद्ध स्तूप इस बात की पुष्टि करते हैं कि उस समय के उस प्रदेश के लोगों ने इनके निर्माण में तथा बौद्ध धर्म के प्रचार में कितना उत्साह दिखाया था। आंध्र प्रदेश में विशेषकर कृष्णा नदी की माटी में जितनी विपुल मात्रा में बौद्ध-निर्माण अवशेष प्राप्त हैं, उतनी दक्षिण भारत में अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हैं। इस प्रांत में प्रत्येक टीला मनोहर शिल्प-खंडों से अलंकृत स्तूपों से आवृत एक-एक भंडार है, जो पुरातत्ववेत्ता के उत्खनन की प्रतीक्षा कर रहा है। अमरावती, नागार्जुनकोंड, गोत्री, गुम्मडिदुरु, जग्गय्यपेटा, भट्टिप्रोलु, घंटसाला आदि में इस प्रकार के अनेक टीले हैं।

नीचे की तरफ़ झुकी छतों और अर्धवृत्ताकार कमान आकृति वाले प्रवेश-द्वारों से निर्मित-शिल्प-गुहालय वास्तु-कला-विकास की प्रथम दशा का बोध कराते हैं। इस प्रकार का अशोक-कालीन एक गुहालय गया ज़िले में बारानर पर्वत पर उपलब्ध है। इसी प्रकार का अथवा यों कहें कि इसी की एक प्रतिकृति आंध्र प्रदेश में गुटुपल्ली में भी विद्यमान है। आंध्र प्रदेश के प्राचीनतम वास्तु-निर्माण का यह एक अनुपम दृष्टांत है। उत्तर भारत के जैसे आंध्र प्रदेश की कृष्णा नदी-घाटी में वास्तु-कला की प्रारंभिक दशा के इस प्रकार के दृष्टांत मिलने के कारण यह बोध होता है कि भारतवर्ष में सर्वत्र एक काल में एक ही प्रकार की वास्तुशास्त्र संबंधी रीतियाँ लागू थीं और मौर्यों का कला संबंधी प्रभाव सर्वत्र व्याप्त था।

देश के कोने-कोने में अशोक द्वारा स्थापित स्तूपों में से एक अमरावती में प्राप्त हुआ है। इसमें बुद्ध के कुब्ज शरीर संबंधी कथा-तत्व विशेष निक्षिप्त था। संगमर्मर के पत्थरों पर निपुण कलाकारों द्वारा निर्मित तथा अतीव अलंकृत यह स्तूप लगभग १५० वर्ष पूर्व तक प्रायः अच्छी अवस्था में रहा था। इस पर अंकित शिल्प-कृतियाँ, उनकी शैलियों से लगता है कि वे, चार भिन्न-भिन्न कालों में निर्मित की गयी थीं। इनमें जो प्राचीनतम शिल्प-कृतियाँ हैं, वे ई० पू० दूसरी शताब्दी की लगती हैं। ये शिल्प-कृतियाँ और भरहुत के शिल्प-खंड एवं अजंता के दसवें गुफा के चित्र एक समान लगते हैं। इनकी परवर्ती शिल्प-कृतियाँ संभवतः ई० सन प्रथम शताब्दी से संबंधित होंगी। तृतीय शैली की कृतियाँ बौद्ध नागार्जुन के समय की हैं, जो उस स्तूप के प्राकारों में उत्कीर्ण हैं। अंतिम अवस्था की कृतियाँ ई० सन तृतीय शताब्दी से संबंधित हैं। अमरावती में प्राप्त शिल्प-कृतियों में तृतीय शैली से संबंधित ये अति उत्तम मानी जाती हैं। यह शिल्प-शैली कुषाणयुगीन मथुरा की शिल्प-शैली के समान अद्भुत लगती है। दूसरी अवस्था

से संबंधित शिल्प-कृतियों की यह विशेषता है कि मथुरा के समान यहाँ पर प्रथम बार बुद्ध की मानवाकार मूर्ति निर्मित की गयी है। इसके पहले तक बुद्ध की आकृति किसी प्रतीकविशेष के रूप में निर्मित की जाती रही, लेकिन यहीं पर उसने प्रथम बार मानवाकृति का रूप ले लिया था। मध्य तथा उत्तर भारत में जिस प्रकार नामों से अंकित नाम और यक्ष की प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार कृष्णा नदी-घाटी में तथा अमरावती में शिल्प-कला की प्रथम दशा की लोकोत्तर यक्ष-प्रतिमाएँ, नामों से अंकित प्राप्त हो गयी हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उन दिनों इस प्रांत में भी यक्षों की पूजा प्रचार में थी। जग्गय्यपेटा में प्राप्त इस काल का मांधाता जातक चित्र उत्तमोत्तम शिल्प-कृति माना जाता है। अमरावती में अधिक संख्या में प्राप्त बुद्ध जातक-गाथाओं से संबंधित शिल्प-कृतियाँ तृतीय दशा की शैली के उत्तम नमूने हैं। इन शिल्प-कृतियों में अंकित करने के लिए ली गयी गाथाएँ भी अनेक हैं। संप्रति हमें उपलब्ध बुद्ध जातक-गाथाओं के अतिरिक्त अनुपलब्ध अनेक ग्रंथों तथा क्षेमेंद्रकृत 'अवदान कल्पलता' सरीखे ग्रंथों की गाथाओं को भी इन शिल्पों में अंकित किया गया है। बुद्ध की जीवनी से संबंधित तथा उनके समकालीन उदयन और अजातशत्रु आदि से संबंधित अनेक वृत्तांत अमरावती में यथार्थ रूप से चित्रित किये गये हैं। इस तीसरी दशा की, सातवाहनयुगीन अत्युत्तम शिल्प-कला-निपुणता हमें इन मनोहर शिल्प-खंडों में प्राप्त होती है। सातवाहनयुगीन बौद्ध-निर्माणों में अंकित इस अनुपम शिल्प-संपदा को संभवतः यह संदेह हो सकता है कि इस युग में हिंदू शिल्प-कला की उपेक्षा की गयी होगी। लेकिन यह भ्रामक है। वास्तव में सातवाहन यज्ञ-यागादि में आस्थावान एवं वैदिक धर्मावलंबी थे, फिर भी उन्होंने बौद्ध कला में जो रुचि दिखायी थी, उसकी वृद्धि के लिए जो योगदान किया था, इनसे यही प्रकट होता है कि वे कितने विशालहृदय थे तथा पर-धर्म-सहिष्णुता उनमें किस हद तक विद्यमान थी। ई० पू० दूसरी शताब्दी का गुडिमल्ल का प्रख्यात शिवलिंग सातवाहन शिल्प-कला का एक निरुपमान उदाहरण है। विश्व भर में प्राप्त सभी शिव की प्रतिमाओं में यह प्रायः अनोखा है। यह कृति वैदिक संप्रदाय अपेक्षित रुद्राग्नियों के अंशों के एकीकरण को सूचित कर रही है। इसकी निर्माण-पद्धति समकालीन उत्तर भारतीय यक्ष शिल्प-कृतियों के समान है। यह शिल्प-कृति तथा भीत में प्राप्त शिवलिंग शैव धर्म के प्रारंभकालीन इतिहास के अनुशीलन के लिए सबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

इक्ष्वाकुवंशीय राजा भी सातवाहनों के समान यज्ञ-यागादि में आस्था रखने वाले वैदिक धर्मावलंबी थे और पर धर्म-सहिष्णु भी। विश्व-प्रख्यात नागार्जुन कोंड स्थित बौद्ध आराम आदि का निर्माण इस वंश की रानियों तथा राज-परिवार के व्यक्तियों ने कराया था। यहाँ के शिल्प-खंड अमरावती की तीसरी दशा के शिल्प-कला-विकास के परिणामसूचक हैं। अर्थात अमरावती की अंतिम दशा की शिल्प-कृतियों के ये समकालीन मानी जा सकती हैं। जग्गय्यपेटा में प्राप्त शिल्पों में प्रयुक्त आलंकारिक लिपि और शिल्प-खंडों के समान यहाँ की लिपि तथा शिल्प-खंड की अमरावती के प्राकार-निर्माणों में प्रयुक्त शिल्प-कला की विकास-दशा को द्योतित करते हैं। नागार्जुन कोंड की शिल्प-कृतियाँ मनोहर हैं, इसमें दो राय नहीं हो सकती, फिर भी कथा की दृष्टि से तुलना कर परखने पर हमें अनुभव होगा कि अमरावती की तृतीय दशा की शिल्प-कृतियाँ

ही अधिक उत्तम हैं। नागार्जुन कोंड ,गोली और गुम्मदि दुर्रु की शिल्प-शैली एक ही प्रकार की प्रतीत होती है और यह समकालीन शिल्प-कला-विकास का बोध कराती है। नागार्जुन कोंड में उत्कीर्ण सभी इतिवृत्त विविध जातक-गाथाओं तथा बुद्ध की जीवन-गाथाओं से संबंधित है। अमरावती के समान यहाँ भी विदेशी शैली अति कुशलता से समाविष्ट की गयी है। प्राकार, आयक स्तंभ, सिंहद्वार आदि अतीव शृंगारिक ढंग से अलंकृत किये गये हैं। यह शृंगारिक अलंकरण ही आंध्र प्रदेश के स्तंभों को एक विशेषता प्रदान करता है। लताओं तथा दौड़ने वाले जंतुओं के शिल्प-चित्रों के अर्धवलयाकार तोरणों से अलंकृत ये सिंहद्वार तत्कालीन शिल्पियों की कला-निपुणता का परिचय देते हैं। इसी प्रकार के अलंकृत सिंह द्वार श्री लंका में भी पाये जाने के कारण यह विदित होता है कि उस समय कृष्णा नदी-घाटी प्रदेश से श्रीलंका का घनिष्ठ संबंध था।

नागार्जुन कोंड के शिल्पों में चित्रित उष्णीश (पगड़ी) विशेष, अलंकरण स्त्री-वेश-भूषाएँ आदि अमरावती शिल्प-चित्रों की शैली के अनुरूप है। इन अलंकरणों और वेष-भूषा आदि में कुछ विदेशी (रोमन और सिथियन) शैली की भी रूपरेखाएँ पायी जाती हैं। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ, शिल्पखंडों के साथ-साथ कुछ मिट्टी से निर्मित प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो शिल्प-प्रतिमाओं के समान दृग्गोचर होती हैं। इस प्रकार की मिट्टी की बनी प्रतिमाएँ हैदराबाद के पास कोंडापुरम् तथा मास्की में विपुल मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। नागार्जुन कोंड में उत्तर दिशा में अनकापल्ली के समीप स्थित संघाराम में उपलब्ध बौद्ध-निर्माण अवशेषों में भी बुद्ध की शिला-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं और यह सातवाहनकालीन बौद्ध शिल्पों के विस्तार से फैलाव का बोध कराता है।

अमरावती में प्राप्त बुद्ध की कांस्य प्रतिमा की सरीखी लगभग इसी समय में निर्मित अनेक बुद्ध-प्रतिमाएँ सुदूर देशों जैसे मलाया और बोर्नियो आदि में पाये जाने से लगता है कि उत्तर भारत में मथुरा के समान, दक्षिण भारत में अमरावती में भी एक बड़ा कला-निर्माण-केंद्र रहा होगा और यहाँ की बनी प्रतिमाएँ सुदूर देशों तक आयात की जाती रही होंगी। उत्खनन में यहाँ प्राप्त एक शिलालेख से यह विदित होता है कि विविध प्रदेशों से यहाँ आने वाले भक्तों ने स्तूप-प्राकारों के किन भागविशेषों अथवा स्तूपविशेषों का निर्माण कराया था। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ से लौटते समय भक्त लोग अपने साथ स्मृति के रूप में यहाँ से कुछ विशेष शिल्प-कृतियों अथवा खंडों को ले जाते रहे होंगे और इस प्रकार शिल्प-कला तथा शिल्प-कृतियों के निर्माण में अधिक योग देते रहे होंगे। नौका-चिन्हों से अंकित यज्ञश्री शातकर्णी के सिक्कों से यह भली भाँति प्रकट होता है कि उन दिनों आंध्र प्रदेश और समुद्र पार के द्वीपों के बीच आवागमन चालू था। इस कारण समुद्र पार के द्वीपों में अमरावती शिल्प-कृतियों की प्रतिमूर्तियों का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बोरोबुदूर (मध्य जावा) में प्राप्त शिल्पों में अमरावती शिल्पों के लक्षण मिलते हैं। बोरोबुदूर में परवर्तीकालीन पल्लव शिल्प-संप्रदाय का भी विपुल मात्रा में अनुकरण हुआ है। पल्लव राजवंश के राजाओं ने दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में भारतीय संस्कृति के प्रचार में अधिक योग दिया था। एक पल्लव राजा ने अपनी नौकावाहिनी सिंहल भेज कर वहाँ के पराजित एक राजकुमार को सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित किया था। इस

कारण संभवतः कृतज्ञता-स्वरूप उन द्वीपों में नौकाओं की अद्भुत शिल्प-कृतियाँ विपुल मात्रा में पायी जाती हैं। इस संदर्भ में यह कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिए कि पल्लव शिल्प-कला की प्रारंभिक दशा दक्षिण भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा आंध्र प्रदेश के साथ संबद्ध थी।

आंध्र शिल्प-कला के विकास की दूसरी दशा का प्रारंभ ई० सन ५-६ शताब्दियों में होता है। उस समय आंध्र प्रदेश में विष्णुकुंडिवंशीय राजा राज्य करते थे। विजयवाड़ा तथा उसके आसपास के स्थानों में अर्थात उंडवल्ली और मोगलराजपुरम के गुहालय इस कला की निधियाँ हैं। चालुक्य राजाओं के आंध्र प्रदेश में आगमन के पूर्वकालीन कला-कृतियों के ये अनुपम दृष्टांत हैं। उंडवल्ली गुफाओं की शिल्प-कृतियाँ उसके परवर्ती काल में, उन गुफाओं में की गयी सफ़ेदी आदि से अधिकांश अपने वास्तविक आकर्षणकारी रूप खो चुके हैं, बचे-खुचे जो अपने वास्तविक रूप को लिये हुए हैं, वे चाहे मानवाकार प्रतिमाएँ हों अथवा पशु के आकार की प्रतिमाएँ हों, अपनी शिल्प-चातुरी और टिकाऊपन को द्योतित कर रही हैं। उंडवल्ली गुफाओं की अपेक्षा अच्छी स्थिति में विद्यमान मोगलराजपुरम की गुफा-प्रतिमाओं से शिल्पि में शिल्प-चातुरी का सही प्रमाण प्राप्त होता है। इस गुहालय के मुख-द्वार पर निर्मित अष्ट-भुज नटराज मूर्ति के नीचे क्रमशः अंकित गज और सिंह की प्रतिमाओं में सजीवता देखने लायक़ है। इस गुफा में उत्कीर्ण मनुष्य की मुखाकृतियाँ, घोंसलों से बाहर झाँकने वाले कपोतों के समान अति सुंदर लगते हैं। अष्टभुज नटराज मूर्ति संप्रति शिथिलावस्था में है, अब भी इसके कला-कौशल को देख कर कोई भी मंत्रमुग्ध हुए बिना रह नहीं सकता है। उत्तर, पश्चिम, मध्य तथा प्राक् देशों के शिल्प-कला-संप्रदाय के अनुरूप यह नटराज मूर्ति अष्ट भुजाओं में तथा परवर्तीकालीन दाक्षिणात्य शिल्प-कला-विशेषताओं के अनुरूप अपने पादों के नीचे अपस्मार की मूर्ति के लिए अतीव सुंदर लगती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न शिल्प-संप्रदाय-विशेषताओं के संगम-स्थलीय शिल्प-कला-विधान को जानने के लिए यह मूर्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रकार के विभिन्न शिल्प-कला-संप्रदायों का संगम हम पश्चिम चालुक्य राज्य के अंतर्गत प्रमुख स्थानों के रूप में विख्यात बादामी और पट्टदकल्लु आदि स्थानों में भी देख सकते हैं। मोगलराजपुरम के गुहालयों के स्तंभों पर अंकित शिल्पविशेषों में तत्कालीन तथा परवर्ती-कालीन कुछ शताब्दियों तक जनसाधारण में व्याप्त पौराणिक कथाओं के इतिवृत्त लिये गये हैं। यहाँ की अधिकतर शिल्प-कृतियाँ श्रीकृष्ण के गोवर्द्धनोद्धरण, वराहावतार का, पृथ्वी का उद्धारण, नृसिंह का हिरण्यकश्यप का वध करना, त्रिविक्रम का अवतार, हंस तथा वराह के रूप में ब्रह्मा और विष्णु के द्वारा शिवलिंग की खबर लेने की गाथा आदि से संबंधित घटनाओं से संबंधित हैं। ई० सन ७वीं और ८वीं सदियों में निर्मित महाबलिपुरम तथा एल्लोरा के शिल्पों में, उपर्युक्त इतिवृत्त विपुल मात्रा में तथा अति सुंदर ढंग से प्रयोग में लाये गये हैं। वास्तव में देखा जाय तो इस गुहालय के स्तंभों के चारों ओर के सीमित हिस्सों में शिल्पियों ने असीम शिल्प-वृत्तियों का निर्माण कर गागर में सागर भरने की असीम कला-चातुरी का प्रदर्शन किया था। अपने पूर्ववर्ती शिल्पियों की शिल्प-कला-चातुरी, जिसकी भित्ति पर खड़े हो कर, उन्होंने अपना कार्य प्रारंभ किया था, जिन नवीन उपलब्धियों को प्राप्त किया था तथा अपने परवर्ती काल में देश और विदेशों के शिल्पियों के लिए जिस प्रकार वे

शाश्वत रूप से मार्गदर्शक बन गये आदि को समग्र रूप से जानने के लिए हमें ये शिल्प-कृतियाँ अत्यंत उपयोगी सिद्ध होंगी। इस प्रकार विकासोन्मुख रीति से शिल्प-कला के प्रचार और प्रसार के कारण, गुप्तकालीन उदयगिरिस्थित वराह अवतार की शिल्प-कृति में और परवर्ती काल के बादामीयुगीन मोगलराजपुरम, महाबलिपुरम तथा एल्लोरा आदि सुदूर प्रदेशों में इन शिल्प-कृतियों की अनुकृतियाँ प्राप्त होतीं हैं। राजस्थान में मंदोर नामक स्थान पर भी श्रीकृष्ण के गोवर्द्धनोद्धरण की शिल्प-कृति प्राप्त है। श्रीकृष्ण के गोवर्धन पर्वत को उठा कर गोकुल की रक्षा करने की घटना जनसाधारण की श्रद्धा का विषय बन जाने के कारण, इस घटना से संबंधित अनेक शिल्प-कृतियाँ छोटी और बड़ी हमारे देश में सर्वत्र पायी जाती हैं। वाराणसी के 'भारत कला-भवन' में भी इस घटना से संबंधित एक बड़ी शिल्प-कृति संग्रहीत है। इसका आकार-प्रकार महाबलिपुरम की शिल्प-कृतियों के समान है। मोगलराजपुरम में प्राप्त गाय, बछड़े, दूध दुहने के कार्य से संबंधित छोटी-छोटी शिल्प-रचनाओं में तथा महाबलिपुरम की इस प्रकार की रचनाओं में समानता पायी जाती है। गुप्तकालीन तथा महाबलिपुरम की इन सभी शिल्प-कृतियों में हमें सर्वत्र श्रीकृष्ण मानव मात्र के रूप में अंकित दिखायी पड़ते हैं। लेकिन मोगलराजपुरम तथा उसके परवर्तीकालीन एल्लोरा-शिल्पों में श्रीकृष्ण को भगवान का रूप प्रदान कर उन्हें चार भुजाओं में चित्रित किया गया है। महाबलिपुरम के समान यहाँ भी मटकियों की क़तार सिर पर धारण किये हुए गोपिका की प्रतिमा अंकित की गयी है। इन गुहालयों के द्वारों पर अंकित सींग वाले द्वारपालक परवर्ती पल्लव शिल्प-कला को अधिक प्रभावित किया है। पल्लवों के परवर्ती शिल्पों में भी यह प्रभाव पाया जाता है।

यदि यह सिद्धांत सही है कि पल्लव राजा महेंद्र वर्मा विष्णु कुंडिवंशीय राजा विक्रममहेंद्र का प्रपौत्र है और यदि हम यह स्वीकार करेंगे कि समुद्रगुप्त के समय से ही पल्लव-नरेशों के कांचीपुरम को राजधानी बना कर राज्य करते रहने पर भी कृष्णा नदी-तटीय प्रदेश उनके राज्यांतर्गत ही था, और यदि यह भी हम स्वीकार करेंगे कि महेंद्र वर्मा का शिलालेख जिसमें यह उल्लिखित है कि उन्होंने अपने मातामहकालीन गुहालय निर्माण-पद्धतियों को प्रथम बार तमिल प्रदेश में प्रविष्ट कराया, सही है, तो यह स्पष्ट विदित होगा कि मोगलराजपुरम के गुहालयों ने परवर्ती-कालीन गुहालय वास्तु-कला तथा शिल्प-कला-निर्माण के लिए कितना योग दिया था। मोगल-राजपुरम के गुहालय-निर्माण-काल तथा महेंद्र वर्मा के द्वारा चेंगल पट से तिरुचिनापल्ली तक के विशाल तमिल भू-भाग में निर्मित गुहालयों के निर्माण-काल के अंतराल में नेल्लूर जिले के भैर-वुनिकोंडा में गुहालय निर्मित किये गये थे। भैरवुनिकोंड का गुहालय और उसकी शिल्प-कला उपर्युक्त गुहालयों के निर्माण के संधि-काल की दशा का बोध कराते हैं। इस गुहालय पर अंकित शिल्प-रचना-पद्धति आंध्र पद्धति ही है, तमिल प्रदेशीय पद्धति नहीं है। इसमें तथा इसके दक्षिणवर्ती प्रदेश के (नेल्लूर जिले के बाद तमिल प्रदेश के चेंगल पट जिला प्रारंभ होता है) गुहालयों में एक विशेष अंतर यह पाया जाता है कि आंध्र प्रदेश के गुहालय-द्वारों पर चित्रित सींग वाले द्वारपालक तमिल प्रदेश के गुहालय के द्वारों पर चित्रित द्वारपालक की अपेक्षा स्थूल हैं तथा वे स्थूल गदाधारी हैं। किंतु विष्णु आदि देव-प्रतिमाओं में कोई अंतर नहीं पाया जाता।

आंध्र प्रदेश के गुहालयों के शिल्पों में चित्रित आगे के पैरों पर बैठे हुए सिंह, लेटा हुआ नंदी आदि प्रतिमाएँ तमिल प्रदेश की शिल्प-प्रतिमाओं से अतीव भिन्न न होने पर भी उनके आकार, प्रकार, अंग-प्रत्यंग की रेखाएँ तथा अंग-सौष्ठव आदि में आंध्र प्रदेश शिल्प-कला की विशेषताएँ पायी जाती हैं और ये विशेषताएँ परवर्ती आंध्र शिल्प-रचनाओं में भी हमें स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। पेद्द मुडियम (कडपा ज़िला) में प्राप्त, पुरानी शैली में ईषत उभरे हुए आकार में निर्मित ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नरसिंह, महिषासुर मर्दनी और गणेश आदि देव-प्रतिमाएँ इसी समय की प्रतीत होती हैं। यहाँ के शिल्पों में लक्ष्मी देवी की अर्द्धकाष्ठ प्रतिमा श्री वत्स कमल-पीठ पर अधिष्ठित है। पल्लवकालीन लक्ष्मी देवी की प्रतिमाएँ भी इसी रूप में निर्मित की गयी हैं। पेद्दमुडियम की लक्ष्मी देवी की प्रतिमा ही संभवतः पल्लवकालीन लक्ष्मी देवी की प्रतिमाओं के लिए आदर्श रही होगी। कुछ स्थानों पर विष्णु की प्रतिमा पर भी श्रीवत्स कमल के स्थान पर उक्त प्रकार की लक्ष्मी देवी की प्रतिमा अधिष्ठित की गयी है। संभवतः यही प्रतिमा कुछ शताब्दियों के पश्चात त्रिकोणाकार के रूप में बदल गयी होगी। चालुक्ययुगीन प्रथम दशा के शिल्पों में भी यह रूप प्राप्त होता है। यहाँ के गणेश की मूर्ति दो ही हाथों में चित्रित की गयी है। भूमरा में प्राप्त गणेश मूर्ति में तथा गुप्तकालीन गणेश मूर्तियों में भी दो ही हाथ चित्रित किये गये हैं। संभवतः यही पद्धति पेद्दमुडिमम के गणेश की मूर्ति में भी ग्रहण की गयी होगी। उत्तर भारत में प्राप्त महिषासुर मर्दनी प्रतिमा की भाँति, यहाँ की प्रतिमा भी महिषी को पैर के नीचे दबा कर मार रही है और महिषी के रूप में राक्षस मनुष्य का रूप धारण कर लगता हुआ दिखायी पड़ रहा है। लेकिन तमिल प्रदेश में इससे भिन्न रीति की प्रतिमाएँ—खंडित महिषी के सिर पर देवी खड़ी हुई चित्रित की गयी हैं। माडुगुल में प्राप्त सुंदर शिव की प्रतिमाओं की पंक्ति भी इसी समय से संबंधित प्रतीत होती है।

हाथ में परशु को धारण कर नंदी के पास खड़ा, चित्रित द्विबाहु शिव की मूर्ति के संबंध में, जो संप्रति विजयवाड़ा के संग्रहालय में है, अभी तक यह निर्णय नहीं हो पाया है कि यह विष्णुकुंडि राजाओं के समय की है अथवा पूर्वचालुक्ययुगीन प्रथम दशा की है। विजयवाड़ा संग्रहालय में ही संग्रहीत सुंदर मुकुटधारी ऊर्ध्वकाय कुबेर की प्रतिमा का काल-निर्णय करना भी कठिन प्रतीत होता है। अमरावती और विजयवाड़ा के आस-पास अल्लूरु आदि स्थानों से प्राप्त तथा संप्रति मद्रास, विजयवाड़ा और अमरावती संग्रहालयों में संग्रहीत मनुष्याकार बुद्ध की प्रतिमाएँ भी संभवतः इसी समय की होगीं।

ई० सन सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पल्लव-राजाओं के गर्भशत्रु बादामी चालुक्यवंशीय प्रसिद्ध राजा द्वितीय पुलकेशी ने पल्लव-नरेश महेंद्र वर्मा के राज्य के उत्तर भाग को जीत कर उसके साथ समीपवर्ती कुछ और प्रदेश को मिला कर उस भू-भाग में अपने भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया था। इस प्रकार आंध्र प्रदेश में पूर्व चालुक्य राज्य वंश की स्थापना हुई थी। कुब्ज विष्णुवर्धन तथा इनके परवर्ती राजाओं ने अति सुंदर शिल्प-प्रतिमाओं से अलंकृत सुंदर देवालयों का निर्माण कर अपने राज्य को अति आकर्षक बनाने में जो योग दिया था, वह स्मरणीय है। पूर्व चालुक्य शिल्प-संपदा बादामी चालुक्य शिल्प-संप्रदाय से प्रेरित हो कर उसके विपुल अनुकरण पर निर्मित किये जाने के कारण अधिक बृहत्तर परिणामों में परिणत

हो गयी थी। इससे संबंधित एक शिला में निर्मित मूर्तियाँ, कुछ अंकित अक्षरों को लिये हुए हैं, ये बादामी गुफाओं के मंगलेश नरेश के द्वारा निर्मित बृहदाकार मूर्तियों की याद दिलाती हैं। बड़े-बड़े आकारों में बृहदाकार प्रतिमाओं के निर्माण करने की पद्धति उस समय से कुछ पहले गुप्त राजाओं के द्वारा प्रचार में लायी गयी थी। मध्यभारत की उदयगिरि (उद्दगिरि) तथा एरण (ईरान) प्रदेशों में प्राप्त बारह अवतार की मूर्तियाँ, देवघर में पाषाण-फलकों में निर्मित प्रतिमाएँ इस बृहदाकार शैली की अच्छी उदाहरण हैं। मध्ययुग की प्रारम्भिक दशा के रजीम् के राजीवलोचन के देवालय के एक शिला-फलक, बंबई के पास के एलिफेंटा गुफाओं की शिव की मूर्तियों आदि के निर्माण के लिए प्रेरणा-स्रोत यह बृहदाकार शिल्प-शैली ही है। मध्ययुग की प्रारम्भिक दशा में शिल्पियों को इसी शैली ने मोहित किया था। यह शैली इसी कारण आंध्र प्रदेश में पुनरावर्तित हुई है। इस शैली से संबंधित एक ही शिल्प से निर्मित बृहदाकार अनेक शिला-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ मद्रास के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये सारी कृतियाँ चालुक्ययुगीन प्रारंभिक दशा की शिल्प-कृतियाँ हैं। इनमें दो द्वारपालकों की मूर्तियाँ अतीव सुंदर हैं। ये दोनों परिमाण में बहुत ही बड़े हैं। इनमें से एक कमलों तथा छोटे कमलों से बना यज्ञोपवीत धारण किये हुए है। दूसरे की जनेऊ में छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हुई हैं। दोनों के हाथों में सिरे पर सिंह-शिरांकित तलवार तथा केयूर आयुध हैं और ये दोनों सहज रीति में तर्जनी विस्मय मुद्रा में वीरोचित रूप से चित्रित किये गये हैं। चालुक्ययुगीन प्रथम दशा की अद्भुत शिल्प-चातुरी के ये सबल प्रमाण हैं। ये संभवतः उस युग के किसी एक शिवालय के प्रांगण में शोभा के लिए निर्मित किये गये होंगे। इनमें से एक के पीछे, 'गुंडम वेंगिनाल वेलेंडु' अक्षर अंकित हैं, जो कि यह प्रकट करते हैं कि इस द्वारपालक का नाम 'गुंडम' था तथा यह वेंगी के राजा पूर्वचालुक्य का सैनिक था। इन द्वारपालक प्रतिमाओं को पल्लव द्वारपालक मूर्तियों के साथ तुलना करने से हमें कई नयी बातें ज्ञात हो जायँगी। पहले बताया जा चुका है कि ये द्वारपालक मूर्तियाँ किसी देवालय से संबंधित रही होंगी। इसी देवालय से अथवा किसी शिथिलावस्था में पड़ा किसी और देवालय से संबंधित कुछ बृहदाकार गज शिल्प-कृतियाँ भी संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं। ये गज शिल्प-कृतियाँ अपने आकार-प्रकार, सुंदरता तथा सौकुमार्य में महाबलिपुरम की तथा पल्लव शिल्प-कला में अत्युत्तम घोषित अर्जुन तपश्चर्या वाली शिल्प-कृतियों में अंकित गज-शिल्पों की याद दिला रही हैं। विजयवाड़ा से लाकर मद्रास के संग्रहालय में सुरक्षित दो हाथ वाले गणेश की मूर्ति भी आकार में बहुत बड़ी है। उपर्युक्त आकार-प्रकार के द्वारपालकों की तथा गणेश की कुछ मूर्तियाँ विजयवाड़ा के संग्रहालय में उपलब्ध हैं। ये चालुक्ययुगीन गहन-गम्भीर शिल्प-कला के परिणाम हैं। वेंगी में अब भी इसी प्रकार की एक टूटी बृहदाकार एक गणेश की मूर्ति जमीन पर पड़ी है। इस प्राचीन परंपरा से संबंधित दो हाथों वाली एक गणेश की मूर्ति राजमहेन्द्रवरम के पास चेंगटि विक्कवोलु के खेत में पड़ी हुई है। यह एक ही पत्थर से निर्मित है। मंगलेश के बाद की गुफाओं के आद्य चालुक्य से संबंधित गणेश की मूर्ति की भाँति इस मूर्ति का भी मुकुट नहीं है।

पूर्व चालुक्य शिल्प-संप्रदाय से संबंधित गले में घंटियों की जोत धारी अनेक नंदी की मूर्तियाँ विजयवाड़ा में हैं। बादामी चालुक्यकालीन नंदियों में और इनमें अधिक समानता है। अक्कन्न

और मादन्न गुफाओं से थोड़ी दूर पर जम्मिठीला है। यहाँ ८वीं-९वीं सदी से संबंधित पूर्व चालुक्य संप्रदायी शिल्प-वृतियाँ, अधिकतर मंडप-स्तम्भों में चूलिकाओं के साथ सुरक्षित हैं। विजयवाड़ा के पास के इंद्रकील पर्वत पर स्थित शिलालेखों, किरातार्जुनीय-कथा से संबंधित शिल्प-फलकों पर अंकित कला-कृतियाँ आंध्र प्रदेश के शिल्प-संप्रदाय के अध्ययन में अधिक महत्व रखता है। इन पर अंकित शिलालेख से इन शिल्प-कृतियों के निर्माण में समय का पता लग जाता है। इन शिल्प-कृतियों की शिल्प-शैली के आधार पर हम अन्य शिल्प-कृतियों के निर्माण के समय का पता लगा सकते हैं।

राजमहेंद्रवरम के पास बिक्कवोलु में अनेक देवालय विद्यमान हैं। और ये सब प्रायः अच्छी स्थिति में हैं। इन देवालओं के कोष्ठ-पंजर अनेक शिल्प-कृतियों से अलंकृत हैं। इन कोष्ठ-पंजरों पर फूलदार लताओं के समान उत्कीर्ण पूँछ वाली मकर-शिल्प-कृतियों के तोरण पल्लव-कालीन देवालय वास्तु-निर्माण की याद दिलाते हैं। यहाँ के शिल्प-कर्म की सरलता, अनाडंबरता और कम आलंकारिता पल्लव शिल्प-कर्म के अनुरूप होने पर भी, इनमें कुछ ऐसे लक्षण हैं, जो बाद की चालुक्य शिल्प-कला-संप्रदाय से प्रभावित दिखायी पड़ते हैं। इन शिल्प-कृतियों के गंभीर अध्ययन से हमें लगता है कि यहाँ दाक्षिणात्य शिल्प-संप्रदाय ने स्थानीय चालुक्य संप्रदाय का अतिक्रमण कर अपना प्रभाव स्थापित किया है। पहले इसके उल्लेख किया जा चुका है कि उत्तर भारतीय संप्रदाय के अनुसार मोगलराजपुरम में नटराज की मूर्ति बहु भुजाओं में निर्मित की गयी है, लेकिन यहाँ की नटराज-मूर्तियाँ दाक्षिणात्य संप्रदाय के अनुसार चार भुजाओं में निर्मित की गयी हैं। यहाँ के देवालयों में शिथिलावस्था में प्राप्त सप्तमातृका वर्ग, कौमारी, चामुंडेश्वरी आदि मूर्तियों के साथ अवशिष्ट वीरभद्र तथा शिव की मूर्तियों की निर्माण-कुशलता देखने से ही बनता है। इनमें कौमारी का रूप अतीव मनोहर है, किंतु चामुंडेश्वरी का रूप अर्वाचीन मध्ययुग शिल्प-कृतियों की भाँति भयंकर है। यहाँ स्कंद-विग्रह के पास मयूर और ब्रह्मा के पास हंस सजीव रीति से निर्मित हैं। यहाँ की मानवीकृत गंगादेवी की मूर्ति भी अति सुंदर है। देवालय विमान के उपरि-भाग में उत्कीर्ण गणेश की मूर्तियों को देखने से लगता है कि तब तक प्रचलित गणेश के दो हाथों के अतिरिक्त दो और हाथों का तथा हाथी के सिर पर मुकुट आदि निर्मित करने का संप्रदाय तब तक प्रचार में नहीं आया था। यहाँ प्राप्त गणेश की एक कांस्य मूर्ति पर अंकित लेख से ज्ञात होता है कि शिलालेख अंकित करने का प्राचीन संप्रदाय ९-१० सदी तक चला आ रहा था। हृदयाकर्षक इन शिल्प-खंडों तथा इन देवालयों का अभी शास्त्रीय ढंग से अध्ययन नहीं हुआ है। इन देवालयों की शिल्प-संपदा का अध्ययन करते समय इसे प्रमुखतः याद रखने की आवश्यकता है कि अपने शिलालेख में दिये गये वृत्तांत के अनुसार नरेंद्र मृगराज विजयादित्य ने राष्ट्रकूटों को १०८ युद्धों में हरा कर ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा दर्शाने के हेतु १०८ शिवालयों का निर्माण कराया था, तथा इनके परवर्ती राजाओं में से अधिक शक्तिशाली नरेश गुनग विजयादित्य और चालुक्य भीम आदि ने भी इस प्रदेश में अनेक देवालयों का निर्माण कराया था। राष्ट्रकूटों को जीत कर उनके सार्वभौमिक चिन्हों को अपने वश में करने के अतिरिक्त गुणग विजयादित्य ने गंगा-यमुना के चिन्हों को भी ग्रहण किया था। उत्तर-भारतीय शिल्प-चिन्हों का पूर्वचालुक्यीय शिल्प-संप्रदाय में

प्रवेशित होने का यही कारण था। बिक्कवोलु के देवालयों के द्वारों पर अंकित ये चिन्ह विजयादित्य के गंगा-जमुना द्वाबा के प्रदेश को जीतने से प्राप्त हुआ है। चालुक्यों के देवालयों में कलिंग शिल्प-संप्रदाय में जो प्रभाव दिखायी पड़ता है, उसका कारण बड़े अर्से से इन दोनों राजवंशों के बीच चला आ रहा राजनीतिक और सांस्कृतिक संपर्क ही है। इस संपर्क के कारण हैं। कलिंग देवालयों की भाँति चालुक्य-देवालयों पर भी मिथुन तथा दक्षिणा मूर्ति के स्थान पर लकुलीश मूर्तियों की स्थापना हुई है।

सामलकोटा के विष्णु देवालय में पाटल वर्ण शिला-फलकों में चित्रित शिल्प-कृतियाँ अत्यंत मनोहर हैं। ये प्रायः ई० सन ८वीं सदी की संबंधित होंगी। इसी देवालय में गणेश की एक छोटी सी मूर्ति है, जिसकी निर्माण-कुशलता अनोखी है। इसी जगह पर एक बड़े शिला-फलक पर गरुडारूढ़ विष्णु की मूर्ति है, जो अति सुंदर है। यह शिला-फलक एक दीवार में स्थापित है। इस प्रकार की अनेक कला-कृतियाँ यहाँ और भी प्राप्त हो सकेंगी। इस देवालय को देखने से आधुनिक युग का पता लगता है। लेकिन इसमें प्राप्त शिल्प-कृतियाँ प्राचीन हैं। लगता है कि देवालय का निर्माण आधुनिक युग में हुआ होगा और शिल्प-कृतियाँ संभवतः किसी शिथिलावस्था में पड़े देवालय से ला कर यहाँ स्थापित की गयी होंगी।

पूर्व चालुक्यों के उत्तरकालीन शिल्प-संप्रदायों का विवरण सामर्लकोटा तथा भीमवरम के भीमेश्वरायल, दाक्षारामम के शिवालय तथा राजमहेंद्रवरम और उसके आसपास के देवालयों की शिल्प-कला के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। यहाँ का प्रत्येक वास्तु-निर्माण पूर्णतः अलंकृत है। यहाँ के परवर्ती शिल्पों में पश्चिम चालुक्यों की अर्वाचीन शिल्प-कला की पुनरावृत्ति हुई है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि जितनी विपुल मात्रा में पश्चिम चालुक्यों के राज्य में शिल्प-कला-कृतियों का निर्माण हुआ है, उतना पूर्व चालुक्य राज्य के प्रांत में नहीं हुआ है। दाक्षारामम के शिवालय में निर्मित स्तंभों के आधार के रूप में आगे के पैरों पर बैठे सिंहों की तुलना भैरवुनि कोंड के गुहालयों के स्तंभों तथा कुड्य स्तंभों और नरसिंह वर्मा और उनके उत्तरकालीन चोल राजाओं के द्वारा निर्मित आलयों के स्तंभों से की जा सकती है। इस संदर्भ में स्मरण रखने का विषय यह है कि चोल और चालुक्य-वंश के वैवाहिक संबंधों से उत्पन्न प्रथम कुलोत्तुंग चोल नरेश ने पुनः चालुक्य राजवंशों से वैवाहिक संबंध स्थापित किया था। और इस प्रकार चालुक्य और चोलवंशीय संस्कृतियाँ परस्पर रूप से विकसित होकर व्याप्ति में आने लगी थीं। चोलवंशीय राजा राजराज-नरेंद्र तथा राजेंद्र ने अपनी पुत्रियों का विवाह पूर्व चालुक्यवंशीय राजाओं से कराया था। राजेंद्र चोल ने अपनी पुत्री का विवाह पूर्व गांग वंश के राजा के साथ कराया था। चोल और गांग वंश के इस संबंध से उत्पन्न एक राजा ने दोनों शिल्प-कला-संप्रदायों का सम्मिश्रण कर कलिंग प्रदेश में अपने द्वारा निर्मित देवालयों में चोल-शिल्प-संप्रदाय संबंधी कुछ विशेषताएँ प्रवेशित बतायी हैं। इसका प्रमाण हमें दारासुर तथा चिदंबरम के विमानों के साथ अंकित घोड़े और चक्रों की तुलना चतुर्थ नरसिंह राजा के द्वारा निर्मित कोणार्क देवालय के साथ करने से मिल सकता है।

आंध्र प्रदेश के शिल्प-कला-विकास की परवर्ती दशा काकतीयकालीन शिल्पों में पायी जाती है। काकतीय शिल्प-कृतियों में पूर्ववर्ती संप्रदाय ही काम में लाये जाने पर भी यहाँ की मूर्तियाँ

कुछ अधिक अलंकृत चित्रित की गयी हैं। लेकिन इन शिल्प-कृतियों का अलंकरण मैसूर के होयिसल शिल्प-संप्रदाय के समान अति विपरीत नहीं है। होयिसल शिल्प-संप्रदाय भी चालुक्य शिल्प-संप्रदाय से संबंधित है। यह परिचय चालुक्यों का है, न कि पूर्व चालुक्यों का। पूर्व चालुक्य संप्रदाय अधिक अलंकार-आडंबर से रहित है। लेकिन पश्चिम चालुक्य-संप्रदाय अधिक अलंकारों से पूरित है। विस्तृत अलंकारभरित होयिसल शिल्पों के साथ तुलना कर देखने पर भले ही काकतीय शिल्प अलंकाररहित दिखायी पड़े, लेकिन वास्तव में वह ऐसा नहीं है। उसमें अलंकरण है। काकतीय शिल्पों में भी तराश कर चिकना किये गये सींगों के समान चमकने वाले स्तंभों में नानाविध नाट्य-भंगिमाओं को प्रकट करने वाली 'नासिका प्रतिमाएँ' चित्रित की गयी हैं। ये कुरुवट्टी के चालुक्य देवालयों, बेलूरु और हालेबीडु के होयिसल देवालयों में चित्रित नासिका-प्रतिमाओं की याद दिलाती हैं। लेकिन होयिसल की नासिका-प्रतिमाओं के समान यहाँ की प्रतिमाएँ ह्रस्व और स्थूलकाय नहीं हैं। अपितु लंबी हैं। उनके जैसे अधिक अलंकारों से शोभित नहीं है। वारंगल में प्राप्त और संप्रति दिल्ली के संग्रहालय में सुरक्षित दरवाज़े के बगल के एक फलक पर चित्रित अलंकरण काकतीय शिल्प-कला का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस पर मकरों के तोरण चित्रित हैं और इसकी कला-निपुणता अद्वितीय है। इस पर चित्रित प्रतिमाओं में नरेश की प्रतिमा अधिक मनमोहक है। द्वार-बंदों को अनन्य शिल्प-कृतियों से अलंकृत करना काकतीय शिल्प-संप्रदाय की विशेषता प्रतीत होती है। वारंगल से लेकर हैदराबाद के संग्रहालय में संग्रहीत मंडप की छत के ऊपर का भाग इस कला का सबल उदाहरण प्रस्तुत करता है। वारंगल के समान पालमपेटा तथा हनुमकोंड में भी काकतीययुगीन देवालय विद्यमान हैं। इन पर अत्यंत रमणीय चालुक्य शिल्प-संपदा का भंडार निहित है। तेलंगाना के पिल्ललर्मरि, नागुलपाडु में पलनाडु के माचर्ल और गुरजाला में जो शिल्प-संपदा है, अभी अनुशीलन की प्रतीक्षा में पड़ी हुई है। काकतीययुगीन कुछ देवालयों पर होयिसल देवालयों के समान अत्युन्नत तथा विशालकाय शिल्प-कृतियों से अलंकृत अधिष्ठान वाले भी हैं। इसके अलावा इनके साथ अलंकृत शिला-जवनिकाएँ, पटल आदि खजुराहो के महादेव के आलय तथा उसके आसपास वाले देवालयों के शिल्प-कार्य की याद दिलाते हैं। कर्नूल ज़िले के त्रिपुरांतकम में पहाड़ पर काकतीय युगीन एक सुंदर शिवालय है। पहाड़ के नीच के दुर्ग देवालय में वीर शिलाओं के समुदाय में चित्रित शिल्प-कला अत्यद्भुत है। त्रिपुरांतकम के पहाड़ पर के देवालय से लेकर मद्रास के संग्रहालय में सुरक्षित अति सुंदर महिषासुर मर्दिनी की मूर्ति काकतीय शिल्प-कला की सिरमौर है।

काकतीय शिल्प-संप्रदाय की परवर्ती दशा हमें रेड्डी राजवंश-काल में दृष्टिगोचर होती है। इस काल के शिल्पियों ने काकतीय शिल्प-संप्रदाय का ही अनुकरण किया था। पलनाडु में तथा गुंटूरु के आसपास १४ वीं शताब्दी की शिल्प-कला को परिचित कराने वाले देवालय मिलते हैं। कर्नूल ज़िले के श्री शैल देवालय के जीर्णोद्धरण तथा उसकी अभिवृद्धि में रेड्डी राजाओं ने अधिक श्रद्धा से योग दिया था। इस शिवालय के प्राकारों की दीवारों पर अंकित शैव भक्तों की जीवन-गाथाओं से संबंधित शिल्प-कृतियाँ संभवतः इस मत की होंगी।

विजयनगर साम्राज्य के राजाओं ने दाक्षिणात्य शिल्प-संप्रदाय के अनुकरण पर कुछ नवीन शिल्प-संप्रदायों का प्रवेश कराया था। इस काल की प्रारंभिक दशा में ताडिपत्री, वल्लारी (अब मैसूर में है) आदि स्थानों पर प्राप्त शिल्प-कृतियों से हमें ज्ञात होता है कि इन पर चालुक्य शिल्प-शैली का प्रभाव रहा, लेकिन काल-क्रम में विजयनगर के साम्राज्य के विस्तार से प्रायः सारा दक्षिण भारत उसके राज्य के अंतर्गत आ जाने के कारण शिल्पों में दाक्षिणात्य संप्रदाय अधिक मात्रा में ख्यात होता रहा और इस कारण उस समय सारे दक्षिण भारत में निर्मित देवालयों में हमें सर्वत्र गोपुर मंडप और विमान आदि की शैली दिखायी पड़ती है। विजयनगर राजाओं ने बड़े-बड़े आकार के आलयों का निर्माण कराया था। निरंतर देवालय निर्माण-कार्यों के संचालक उन राजाओं ने शिल्पों तथा स्थापत्यों का बड़ा उपकार किया था। विजयनगर साम्राज्य की प्रारंभिक दशा में निर्मित एकशिला-प्रतिमाओं का स्वरूप हमें हंपी में खंडित रूप में प्राप्त गणेश और नरसिंह की मूर्तियों में, तिरुपति में चक्रतीर्थ के समीप स्थित सुंदर और बड़ा रंगनाथ की मूर्ति में, उससे थोड़ी दूर पर स्थित चक्रपुरुष मूर्ति में तथा उसके आस-पास तितर-बितर पड़े हुए द्वार-पाल कों की मूर्तियों में प्राप्त हो सकता है। ईषद् हरे रंग की शिला पर निर्मित रंगनाथ की मूर्ति में रंगनाथके सभी लक्षण अच्छी तरह चित्रित किये गये हैं। इस मूर्ति में हम तत्कालीन विशिष्ट अलंकारों को देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें श्रीवत्स लांछन त्रिकोण के बीच एक देवता के समान चित्रित किया गया है। इस मूर्ति में हम पूर्ववर्ती श्रीवत्स-चित्रण में संप्रदाय तथा परवर्ती त्रिकोण चित्रम-संप्रदाय दोनों का सम्मिश्रण देख सकते हैं। विजयनगर साम्राज्य की प्रारंभिक दशा के उत्तमोत्तम शिल्प कुछ ताड़पत्रों में प्राप्त होते हैं। इनकी सुंदरता को जानने के लिए द्वारबंदों के बगल के फलकों पर निर्मित मकराधिष्ठित गंगादेवी शालभंजिका की लचक तथा भावण्यता को देखना पर्याप्त होगा। शेष सभी कृतियों में भी हमें इसी प्रकार की मनमोहकता मिलेगी।

वास्तव में ताड़पत्रों को विजयनगर साम्राज्य की शिल्प-संपदा का भंडार कह सकते हैं। नदी के किनारे प्रायः शिथिलावस्था में प्राप्त गोपुरयुक्त विष्णु देवालय पर ईषद् हरे पत्थरों पर अंकित शिल्प-कला अद्वितीय है। इन शिल्पों में अर्वाचीन पश्चिम चालुक्य शैली की छायाएँ कुछ नूतन विकास को लि दिखायी पड़ती हैं। दक्कन, कर्नाटक, आंध्र और सुदूर द्रविड़ भू-भाग में विजयनगर साम्राज्य के व्याप्त हो जाने के कारण यह स्वाभाविक ही है कि तद्प्रदेशों में पूर्व-प्रचलित चालुक्य और चोल शिल्प-संप्रदायों के उत्तमोत्तम अंश विजयनगर की शिल्प-कला में ग्रहीत किया गया हो।

विजयनगर साम्राज्य की राजधानी हंपी की अनेक अनुपम शिल्प-कृतियाँ तल्लिकोट युद्ध के समय तथा उसके बाद नष्ट-भ्रष्ट किये जाने के बावजूद अब भी वहाँ उस समय की कुछ विशिष्ट और अनुपम शिल्प-कृतियाँ अवशिष्ट हैं। उनमें हज़ार रामस्वामी देवालय में अंकित रामायण-काल से संबंधित शिल्प-कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। ये शिल्प-कृतियाँ तथा इसी समय पेतुकोंडा में शिव और विष्णु के देवालयों पर चित्रित भागवत, रामायण-गाथाओं तथा शैव भक्तों की जीवनी से संबंधित गाथाओं के शिल्प एक ही समान दिखायी पड़ते हैं। हंपी में बचे-खुचे शिल्पों में

अश्वारूढ़ घुड़सवार की पंक्तियाँ, हाथियों की क़तार, गायक और नर्तक-नर्तकी-वृंद तथा शास्त्रीय भरत-नाट्यम के समान जनादरप्राप्त 'कोलाटम' (एक प्रकार का लोकनृत्य-नाट्य) के दृश्य देखने योग्य हैं। हंपी में बिट्ठलनाथ आलय में एक ही शिला से पहियों सहित निर्मित रथ उस काल के शिल्पियों की कला-कुशलता का परिचय दे रहा है। इसी प्रकार का एक रथ हमें ताडिपत्री में भी प्राप्त है जो कि इसी युग में निर्मित किया गया था।

गुडिमल्ल का शिवलिंग (सातवाहन काल)

अच्युत देवराय (१५३०-१५४२) के समय पेनुकोंड विरुपण्णा ने, जो विजयनगर पटटन के तलारी थे, नेपाली में वीरभद्र तथा रामालयों का निर्माण कराया था। इन आलयों के नाट्य-मंडपों पर शिव की नटराज मूर्ति, गायक-वृंद, अप्सराओं आदि की शिल्प-कृतियाँ अंकित की गयी हैं। नेपाली का बृहदाकार नंदी, जो एक ही शिला से निर्मित है, विश्व-विख्यात है। राम-वेलूरु (अब मद्रास में है) के क़िले में एक सुंदर देवालय इस काल में निर्मित किया गया है। वह देवालय और विशेषकर उसका कल्याण-मंडप शिल्प-संपदा से विभूषित होकर मानो विजयनगरकालीन शिल्प-कला का सार लग रहा है। कूदते हुए सिंह, दौड़ते हुए घोड़ों के चित्रों से निर्मित सुंदर मंडप स्तंभ, मंडप के उपरिभाग में चित्रित बंदर, कबूतर, शिला से निर्मित जंजीर आदि में यथार्थता टपक रही है। इसी राम वेलूरु के सामीप्य वाले विरिंचीपुरम के मार्ग सहायेश्वर देवालय की शिल्प-कला भी इसी देवालय की कला से मिलती-जुलती है। तिरुवण्णमलै चिदंबरम और कांचीपुरम् आदि तमिल प्रदेश में भी विजयनगरकालीन शिल्प-कृतियों का भंडार भरा पड़ा हुआ है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दक्षिण भारत में ऐसा कोई देवालय नहीं है, जो विजयनगरकालीन शिल्प-कृतियों से अलंकृत न हो।

बहुत सी विजयनगर शिल्प-कृतियों में राजा, रानी, सामंत और राजकुमार आदि दानी लोगों की मूर्तियाँ भी हैं। तंजावूर आदि स्थानों पर विजयनगर राजाओं के उत्तराधिकारी नामक राजाओं ने इसी परंपरा को आगे भी चलाया था। तिरुकल नामक, उनकी शक्तियों की मूर्तियाँ इसी संप्रदाय-परंपरा में निर्मित हैं। इस विकास-परंपरा को समग्र रूप से जानने के लिए यह आवश्यक है कि इस रूप के पूर्व तिरुपति के श्री वेंकटेश्वर देवालय मुख-मंडप के द्वार पर नामों सहित निर्मित श्री कृष्णदेवराय तथा उनकी रानियों और वेंकटपति रायलु की कांस्य प्रतिमाओं आदि का अध्ययन किया जाय। ये प्रतिमाएँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो सिक्कों पर श्री वेंकटेश्वर की मूर्ति को अंकित कर और उनकी सेवा में अपने कालीन दास-शिल्प-वैभव को दर्शाने के लिए निर्मित देवालय ध्वज-स्तंभों पर वराह-लांछनों से निर्मित कर जिस भगवान की उन्होंने आजीवन पूजा की थी, उसी भगवान को श्रद्धानत नमस्कार कर रही हैं। आंध्र प्रदेश का शिल्प-कला-विकास विजयनगर साम्राज्य की समाप्ति के साथ-साथ समाप्त हो गया था।

—अनु० : विजयराघव रेड्डी,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।

ओरुगण्टि रामचन्द्रय्या

अजंता

अजंता गुहालय वे हैं जिनमें चित्र-कला एवं शिल्प-कला की मधुरिमा आमूल परिलक्षित होती है। इन इक्कीस गुफाओं में ९, १०, १२, १३ संख्याओं की प्राचीन हैं। उनमें से भी दसवीं गुफा ई० पू० द्वितीय शताब्दी मध्यकाल की है। ऐतिहासिक परंपरा एवं तत्रोपलब्ध शिलालेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अजंता की रूपरेखा का बीजरोपण आंध्र शातवाहन राजाओं ने ही किया था।

उत्तर भारत से हो कर आने वालों के तपती नदी की घाटी पार कर दक्खिन की ऊँची भूमि पर पैर रखते ही महाराष्ट्र प्रदेशांतर्गत औरंगाबाद से चालीस मील उत्तर की ओर मुख-द्वार की तरह विलसित हैं ये अजंता की घाटियाँ। २५० क़दम ऊँचाई से एक निर्झर झर-झर बहता हुआ 'शांतकुंड' नामक जलाशय बन जाता है और आगे ढुलक कर घाटी के साथ-साथ बहते हुए धीमी, पर गंभीर गति से बहने वाली 'वाघेरा' नदी में जा मिलता है। उस वन-घाटी में इस सुविस्तृत क्षेत्र को घेरते हुए अर्धवलय की आकृति में इन अजंता-गुफाओं का निर्माण किया गया है।

कहीं जंगल में छिपी हुई, बौद्ध-धर्म की स्फूर्ति के प्रतीकस्वरूप इन गुफाओं का पता सन १८१९ में पहले-पहल सैनिकों ने ही लगाया है। सन १८२१ में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' पत्रिका में और सन १८४३ में फ़र्ग्युसन के लेख में उल्लिखित अजंता के दर्शनीय स्थानों के वर्णनों से अभिभूत हो तत्रविद्यमान चित्रों एवं शिल्प-कला संबंधी अनुकृतियों का सन १८४४ से १८६४ तक संकलन कर मेजर गिल महोदय ने लंदन में उन्हें प्रकाशित किया था। पर इसी बीच लंदन अग्नि की आहुति हुआ। उन चित्रों में से पाँच ही बच गये थे। अनंतर सन १८७५ में ग्रिफ़िथ महोदय ने बंबई चित्र-कला-विद्यालय के सहयोग से फिर उनकी अनुकृतियाँ तैयार करवायी थीं। उन्होंने ही सन १८९६ में भारत सरकार के नाम पर अजंता बौद्ध-चित्रों को ग्रंथाकार प्रकाशित किया। सन १९१५ में श्रीमती हेरिंग हाम ने और एक संस्करण निकाला।

यों, अजंता के शिल्प—जिनकी ओर शिल्पविदों एवं कलाविदों की दृष्टि आकृष्ट हुई, एक दिन के नहीं हैं। उनके निर्माणार्थ तदेकध्यान तत्पर हो, तल्लीन हो, तन्मय हो चित्र-कलाविदों तथा शिल्प-कलाविदों ने सात-आठ शताब्दियों तक उपासना कर जिसकी साधना की है, उस तपः-पूत साधना का फल ही ये शिल्प हैं। ई० पू० द्वितीय शताब्दी में अंकुरित, वाकाटक राजाओं के शासन-काल में पल्लवित, गुप्त राजाओं की साधन-संपत्ति के बल पर पुष्पित-सुगंधित क्रमशः

सातवीं शताब्दी के अंत तक गतिविहीन हो कर जो गुफाएँ उपस्थित हैं उनमें उल्लेखनीय १, २, २६ संख्या की हैं।

पश्चिम भारत में अन्योऽन्य गुफालयों में गुफा के मुख-द्वार पर खड़े होने पर आमने-सामने जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक, प्रायः क्षितिज के अंतिम बिंदु तक घास के मैदान दिखायी देते हैं। पर अजंता में यों नहीं दिखायी पड़ते। इर्द-गिर्द जंगलों और पहाड़ों के फैलाव ऐसे दिखायी पड़ते हैं मानो प्रकृति ने अपने बाहुओं में सम्हाल कर उठा लिया हो। उनका निर्माण भले ही अनेक वर्षों तक निरंतर होता रहा, तो भी उनमें वैदिक एवं जैन-धर्म के प्रभाव के प्रतीक नहीं के बराबर हैं। उनमें तो केवल मात्र बौद्ध-धर्म की प्रशस्ति एवं उल्लेख हैं। अतः जो कोई बौद्ध-धर्म, ललित-कलाओं, दर्शन एवं संस्कृति के विकास-क्रम का पता लगाना चाहते हैं उनके लिए ये गुफालय सचमुच बहुत बड़ी निधियाँ हैं।

निर्माण-प्रकार की दृष्टि से इनके दो भेद हैं—चैत्य एवं विहार। ९, १०, १९ और २६—ये चैत्य हैं। अन्य विहार हैं। भारतीय कला-विभूति के सूक्ष्म परिज्ञान के लिए १, २, ९, १०, १२, १६, १७, १९, २६ नंबर वाली गुफाओं का अवलोकन पर्याप्त है। इससे सब गुफाओं की निर्माण-चातुरी, शिल्प-गत विधा, चित्र-गत वर्णों की रूपरेखा की परंपरा आदि का परिज्ञान होगा ही।

१६वीं गुफा के सामने खड़े हो कर गुफाओं का अवलोकन करें तो सबकी सब अर्ध-चंद्र की आकृति में अलंकृत सभा के प्रांगण की तरह विलसित सौंदर्य का बोध कराती हैं। उन बौद्ध शिल्प-कलाकारों ने मानो अपने हृदय को ही गुहालयों के रूप से अंकित करने के लिए प्रकृति को आलंबन बनाया था। उस १६वीं गुफा के मुख-द्वार के दोनों ओर शताब्दियों से इकट्ठी धूलि में अधडूबे से, आधा ही दिखायी पड़ने वाले वे हाथी; ऊपरी बरामदे की ओर ले जाने वाली सीढ़ियों के पास सुंदर ढंग से प्रतिष्ठित नागराज—शायद यही हो अजंता गुफालय का प्रवेश-द्वार।

अजंता गुफालयों में शिल्प से बढ़ कर चित्र-कला को ही अधिकतर प्रधानता दी गयी है। इस दृष्टि से प्रेक्षकों को आकर्षित करने वाली गुफाएँ हैं—९, १०, १६, १७। चित्र-कला को अगर एक रूप में ढाल दिया जाय तो उसके हृदय के सब स्पंदनों की संभावना यहाँ की चित्रगत मुद्राओं में की जाती है। वहाँ के कलाकार चित्र के अंकन में इंच-इंच भर जितने उदार हैं, उतने ही लोभी हैं एक-एक चित्र की रूप-रेखा के खींचने में। उछलने-कूदने वाले वे पशु; उनके पीछे दौड़ने वाले ग्वाल; समीपस्थ स्थानों में स्वच्छंदतापूर्वक घूमने वाले जंगली जंतु; अंतर के स्तंभों पर अंकित बुद्ध की वे निर्लिप्त मूर्तियाँ; चहारदीवारियों पर, खिड़कियों पर, आमने-सामने की दीवार के मोड़ पर भिन्न-भिन्न वर्णों में (चित्रित) गाथाएँ और दृश्य नौवीं गुफा में परिलक्षित होते हैं।

दसवीं गुफा चैत्य-गुफालयों में सब से बड़ी है। स्तंभ पर अंकित बुद्ध की निर्लिप्त मूर्तियों के पीछे दीवारों पर परिलक्षित होने वाली मूर्तियाँ 'लंबाड़ी', भील आदि आदिवासियों की हैं, जिनका, प्रत्येक अंग के लक्षणों के अनुकूल अंकन किया गया है। छठी गुफा के चित्रों में प्रथमतः उल्लेखनीय है आसन्नमरणा राजपुत्री का चित्र। करुण रस की व्यंजना में इसकी तुलना करने

के लिए और कोई चित्र नहीं है। इसके अलवलोकन के बाद कोई भी ऐसा नहीं होता, जिसका हृदय द्रवीभूत न होता हो और जिसकी आँखों से बरबस आँसू न टपक पड़ते हों।

बौद्ध जातक-कथापरक चित्रों में नंद एवं सुत्सोम-गाथा उल्लेखनीय हैं। जातक-कथाओं से भी बढ़ कर उल्लेखनीय सिद्धार्थ गौतम-जीवन संबंधी घटनाओं का चित्रण है। सिद्धार्थ-जन्म, असित ऋषि द्वारा शिशु-जातक-परिशीलन, विद्यार्थी-दशा, ध्यान-मुद्रा में गौतम, राजगृहागमन, व्याधि, दारिद्रय, जरा-मरण संबंधी घटनाओं के--जिन्होंने सिद्धार्थ को जीवन ही दुःखपूर्ण बता कर उसके निर्मूलन के लिए उत्तेजित किया है--वे चित्र, भगवान बुद्ध को सुजाता एवं त्रपुस्स, भल्लिक द्वारा समर्पित भिक्षा आदि सब दृश्यों को इस गुफा में देख सकते हैं।

सत्रहवीं गुफा सचमुच चित्रों का रत्नाकर ही है। संसार, राशिचक्र, सिंहासनारूढ़ राज-दंपति, आकाश में उड़ने वाली गंधर्व-अप्सराएँ, षड्दंत, महाकपि, विश्वंतर, शिबि, शरभ, मातृ-पोषक, मत्स्य, श्याम-जातक, सिंहालावदान--आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रथम गुहालय में (अवतरित) अवलोकितेश्वर का चित्र चित्र-कला की ही स्वयं अमूल्य संपत्ति है। द्वितीय गुफा में हंस-जातक, माया देवी का गर्भ-धारण एवं स्वप्न, लुंबिनी-वनसंदर्शन, बुद्ध-संजनन, सप्तपदी, तुषित स्वर्ग में बुद्ध-जन्म के लिए देश-निर्णय, पुरन्नावदान आदि कितने ही आलोकामृतवत समाविष्ट हैं।

अजंता में चैत्यों में अति प्राचीन १९वीं चैत्य-गुफा है। पश्चिम भारत में उसी जाति के चैत्यों के निर्माण का आधार वही है। ९-१० वाली गुफाओं और १९, २६ वाली गुफाओं की परस्पर तुलना करें तो हीनयान, महायान शिल्पकला-विधाओं का अंतर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

अजंता में हर एक कला के रूप-स्वभाव का वर्णन करना संभव नहीं है। फिर भी एक बात कहनी है। वहाँ के बौद्ध-कला के तपस्वियों ने जीवन के यथातथ्य सौंदर्य में भी एकतानता देखी है। उनका नैतिक सौंदर्य शारीरिक सौंदर्य को उपेक्षित करने वाला नहीं है। उनके रूप-चित्रण में बुद्ध एवं उपासिका-मूर्तियों में अंतर अत्यल्प है। उन कलाकारों ने स्त्री-रूप की कपोल-कल्पना नहीं की, प्रत्युत प्रत्यक्षतया जिन स्त्रियों को देखा, चित्रों में एवं शिल्पों में उनका ही रूप-चित्रण किया है।

स्त्री-मूर्तियाँ कला-विधाओं के नियमों से ही परे हैं। उनकी हास-लीला-लास्य चेष्टा सौंदर्य-लीला-विलास, उनकी वेष-भूषा तथा सौंदर्य के प्रोज्वल प्रकाश की भावना कर निज सौंदर्योपासना के बल पर स्वयं तर कर दूसरों को भी उन्होंने तारा है।

--अनु० : कर्णराज शेषगिरि राव,
हिंदी विभाग,
आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्तेयर।

टी० एन० रामचन्द्रन

नागार्जुन कोंड

नागार्जुन कोंड (पहाड़) आंध्र प्रदेश के गुंटूरू जिले के पलनाडु तालुके में कृष्णा नदी के किनारे पर है। माचेली तक रेलगाड़ी जाती है। माचेली से नागार्जुन कोंड तक १५ मील की दूरी तय करने के लिए बस आदि उपलब्ध हैं। इसके अलावा विजयवाड़ा तथा हैदराबाद से भी यहाँ बस आती-जाती हैं।

नागार्जुन कोंड की प्रारंभिक खुदाई पहले-पहल सन १९२६ में श्री ए० आर० सरस्वती, तत्पश्चात १९२६ से ३१ तक, १९३८ से ४० तक क्रमशः श्री लांग हर्स्ट तथा श्री टी० एन० रामचंद्रन (प्रस्तुत निबंध के लेखक) और १९५४ में श्री रायप्रोलु सुब्रह्मण्यम की देख-रेख में सुसंपन्न हुई। नागार्जुन कोंड के इसी विशाल भू-भाग पर नागार्जुन सागर बाँध बन रहा है। खुदाई में प्राप्त शिल्प-कला की अनुपम कृतियों को आंध्र प्रदेश सरकार ने एक संग्रहालय में स्थापित कर संग्रहीत किया है।

निबंध के लेखक श्री रामचंद्रन नागार्जुन कोंड के पुरातत्व विभाग के विशेष अधिकारी हैं। आप भारत के पुरातत्व-विभाग के ज्वायेंट डाइरेक्टर जनरल पद से अवकाश प्राप्त विशेषज्ञ हैं।

क्षेत्रफल की दृष्टि से नागार्जुन कोंड में प्राप्त बौद्ध-क्षेत्र-सा विस्तीर्ण बौद्ध-क्षेत्र भारत में अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा। तीनों ओर पर्वत-पंक्तियों और एक तरफ़ पहाड़ों से सट कर बहती कृष्णा नदी से परिवेष्टित २,५०० एकड़ के विशाल भू-खंड पर भारत के पुरातत्व विभाग ने खुदाई का कार्य प्रारंभ किया है; अब तक यह कार्य चालू रहा है। पहले-पहल जब इस प्रदेश की खुदाई की गयी थी, तो इससे दूसरी और तीसरी शताब्दियों के इक्ष्वाकु नरेशों के राजत्व-काल के अनेक शिला-लेख, विहार, चैत्य तथा मंडप आदि के खँडहर, कई सिक्के, खंडित अस्थियाँ, मिट्टी के वर्तन तथा सुंदर शिल्प-कलाकृतियाँ प्रकाश में आयीं। स्तूप-वेदिकाओं पर आयताकार के स्तंभ बने रहे थे, जिन पर खुदे हुए शिलालेख इक्ष्वाकु-शासनकालीन इस प्रदेश का इतिहास उद्घाटित करते हैं। इन शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है और इन पर खुदे हुए अक्षर पुष्प-लता की भाँति बड़े ही मनोहर हैं। शासन में 'प्राकृत' भाषा प्रयुक्त हुई थी, जो उस समय के आर्यावर्त के अनेक राज्यों में प्रचलित रही थी। इन शिलालेखों में तत्कालीन राज-परिवार के अनेक स्त्री-पुरुषों के नाम मिलते हैं। प्रतीत होता है कि इक्ष्वाकु राजवंश के न केवल वनवासी (उत्तर कनरा) के राजकुल, बल्कि मध्य

भारत की उज्जैनी के क्षात्रप नरेश चष्ठ की राज-संतति के साथ भी शादी-विवाह हुआ करते थे।

मज़ेदार बात तो यह है कि जहाँ एक ओर इक्ष्वाकु राज-वंश के पुरुष वैदिक धर्मावलंबी हो कर अग्निष्टोम, अग्निहोत्र एवं वाजपेय आदि यागों का निर्वाह किया करते थे, वहाँ दूसरी तरफ़ उनकी रानियों-पटरानियों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया था और बौद्ध-स्तूप, विहार तथा चैत्य आदि का निर्माण कराया था। इनमें राजकांता 'चांतिसिरि' का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। इस संदर्भ में चांतिसिरि का योगदान बड़ा ही महत्वपूर्ण था। इन्होंने महाराज श्री वीरपुरुष दत्त के राजत्व-काल के छठे वर्ष में एक महान चैत्य का निर्माण कराया था। इसके अलावा इन्होंने इस महान चैत्य की पूर्वी दिशा में एक और चैत्य तथा एक विहार का भी निर्माण कराया था। महान स्तूप के एक शिलालेख में तीन और राज-महिलाओं के नाम उल्लिखित हैं। बताया जाता है कि इन तीनों राज-स्त्रियों ने भी इस धर्म-कार्य-निर्वाह में हाथ बँटाया था। इनमें अडिवि चांतिसिति का नाम प्रमुख है। आप महाराज चांतमूल की पुत्री, 'सिरि विर पुरिसदतु' की भगिनी थीं और धनी, महा सेनाध्यक्ष, महा तलवर तथा महा दंडनायक खंद विसाखणक की अर्धांगिनी थीं। इनकी 'महातलवरि' नाम से एक उपाधि भी रही थी। एक दूसरी भद्र महिला का नाम 'क्षुल्ल (=छोटी) चांतिसिरिणिक है, जो कुलह कुल राजवंश की ननद, तथा 'हिरंणक' वंशज 'महा सेनाध्यक्ष' एवं 'महातलवर' वासिठीपुत कंदचलिकि रेंणक की धर्मपत्नी थीं। इनकी उपाधि थी 'महा सेनापतिनि'। एक तीसरी स्त्री के नाम का उल्लेख नहीं किया गया था। परंतु बताया यह गया था की इन महिला के पति 'पूरिय' राजवंश के महा-सेनाध्यक्ष, महातलवर तथा वासिठीपुत महा कंदसिरि नामधारी थे। महिला के 'विहुणुसिरि' नाम के एक पुत्र थे। ये एक और महा सेनाध्यक्ष एवं महातलवर थे। एक पर्वत पर दो विहार, ईंट और चूने से बने गजपृष्ठाकार के तीन चैत्य तथा दो स्तूप प्रकाश में आये हैं, जिनमें से एक चैत्य के खँडहर में प्राप्त एक शिलालेख बड़ा ही महत्व का माने जाने लगा। गजपृष्ठाकार के एक चैत्य का निर्माण रानी चांतिसिरि ने कराया था। एक और चैत्य 'बोधिसिरि' नाम से एक सामान्य बौद्धोपासिनी द्वारा तैयार कराया गया था। प्रतीत होता है कि इक्ष्वाकु राज-वंश से इन (बोधिसिरि) का कोई संबंध न था। इतना तो अवश्य मालूम होता है कि यह चैत्य राजा 'माढ़रिपुत सिरि विरपुरि सदतु' के राज्यत्व-काल के चौदहवें वर्ष में निर्मित हुआ था। और यह चैत्य सिंहल (ताम्रपर्णी) देश के उन बौद्ध-भिक्षुओं को समर्पित किया गया था, जिन्होंने कश्मीर, गांधार, वनवासी, दमिलि, पालूर एवं तांबपंणि (ताम्रपर्णी) आदि देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान किया था। शिलालेख में बोधिसिरि द्वारा निर्माण कराये गये बौद्ध विहारों, स्तूपों एवं चैत्यों के साथ ही उनका पता तक दिया गया था। इनमें से एक 'कंटकसेल' (घंटसाला) के समीपवर्ती एक महाचैत्य के पूर्वी द्वार के नज़दीक ही एक शिलामंडप था। शिलालेख में नगर का नाम 'विजयपुरि' मिलता है। श्रीपर्वत कई पहाड़ियों का समूह है, जिसमें एक पहाड़ का नाम 'क्षुल्ल धर्मगिरि' था। इसी क्षुल्ल धर्मगिरि पर महिला बोधिसिरि ने सिंहल के बौद्ध भिक्षुओं के लिए विहार तथा चैत्य बनवाये थे। शिला-लेख में श्रीपर्वत का ज़िक्र विशेष महत्व का द्योतक

माना जाता है। क्योंकि तिब्बत में प्रचलित ऐतिह्य के अनुसार नागार्जुन नामक दिव्य शक्ति संपन्न एक सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु ने दक्षिण भारत में 'श्रीपर्वत' नाम से निर्मित एक संघाराम में अपने जीवन का उत्तरार्द्ध बिताया था। यह संघाराम तथा कथित शिलालेख में उद्धृत 'विजयपुरि' के पूर्व में स्थित 'श्रीपर्वत' दोनों यदि एक ही हों, तो हमें इस बात को स्वीकारने में किसी तरह की आपत्ति न होनी चाहिए कि इस (श्री) पर्वत से आचार्य नागार्जुन का जो लगाव था, वह आज भी 'नागार्जुन कोंड' नाम में निक्षिप्त रहा है।

एक और शिलालेख के अनुसार महारानी 'भटिदेवी' ने एक विहार की स्थापना करायी थी। आप महाराज सिरि चौतमूल की बहूरानी, सिरि विरपुरसदतु की धर्मपत्नी तथा एहुवुल चांतमूल की राजमाता थीं। महाराज सिरि एहुवुल चांतमूल के शासन-काल के ग्यारहवें वर्ष में खुदवाये गये एक अन्य शिलालेख से प्रकट था कि सिरि चांतमूल की पौत्री, सिरि विरपुरिसदतु की पुत्री, महाराज वासिठीपुत सिरि एहुवुल चांतमूल की भगिनी तथा वनवासी (उत्तर कानरा का प्राचीन नाम) की महारानी महादेवी 'कोडबलिसिरि' ने भी एक विहार की स्थापना करायी थी। महिला बोधिसिरि के शिलालेख में 'कुलह विहार' तथा 'सिंहल विहार' नाम से दो विहारों का उल्लेख था। 'कुलह विहार' लगता है, किसी कुलह नामधारी व्यक्ति से तथा 'सिंहल विहार' या तो किसी सिंहल देशवासी द्वारा या प्रायशः सिंहल के बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए ही निर्मित हुए थे। बताया गया था कि 'सिंहल विहार' में एक बौद्ध आलय और एक बोधिवृक्ष भी मौजूद थे। इस परंपरा की प्रचुरता जो कि बौद्ध-विहार के परिशिष्ट के रूप में एक बोधिवृक्ष का होना, आज भी सिंहल देश में आवश्यक समझा जाता है। विहार के 'सिंहल' नामकरण के अलावा 'तांबपंणि' (ताम्रपर्णी) के बौद्ध भिक्षु संघ के निमित्त एक 'चेतिय घर' (चैत्यगृह) की स्थापना भी इस बात की पुष्टि करती है कि सिंहल तथा कृष्णा नदी के तटवासी बौद्ध भिक्षुओं के बीच मैत्री और सौहार्दपूर्ण वातावरण क़ायम रहा था। इसका एक मुख्य कारण सिंहल देश के बंदरगाहों तथा कृष्णा नदी के मुख द्वार पर स्थित प्रमुख बंदरगाह 'कंटकसेल' (घंटशाला) के बीच का समुद्री व्यवसाय ही हो सकता है। व्यवसायी वर्ग ही प्रायः बौद्ध धर्मावलंबी हुआ करते थे। इसमें क़तई संदेह नहीं कि कृष्णा नदी के किनारे प्रसारित-परिव्याप्त बौद्ध धर्म की स्थापना का पूरा श्रेय समुद्री व्यापारियों को है। इनके द्वारा एकत्र साधन से ही राजा-महाराजा तथा वणिक वर्ग अमरावती के महा-स्तूप सदृश स्तूपों का भव्य निर्माण करा पाये।

श्री लांग हर्स्ट के नेतृत्व में आयोजित खुदाइयों में एक बड़ा स्तूप (शिलालेखों) में अभि-वर्णित 'महा चेतिय', ८ छोटे-छोटे स्तूप, ४ विहार (संघाराम) ६ चैत्य (गज-पृष्ठाकार वाले बुद्ध के आयतन), ४ मंडप, १ राज-गृह-निवेश आदि प्रकाश में आये। ये सारे निर्माण २०"+१०"+३" आकार के ईंटों से किये गये थे। इस आकार की कुछ ईंटें पटना (पाटलिपुत्र) के समीप उपलब्ध हुई थीं। दीवारें ईंटों तथा मिट्टी से तैयार हुई थीं और ऊपर प्लास्टर किया गया था। लगता है कि न केवल फ़र्श की सुरक्षा के लिए ही, अपितु रंगों की लिपाई की सुविधा के लिए ही इन सारी इमारतों पर चूना लगाया जाता था। शिल्पगत सुविधाओं के लिए स्तंभों की ज़मीन से मजबूत बँधाई तथा विशेष शिल्प-रचना के लिए संगमर्मर की कोटि के एक दूसरे क़िस्म के

दूधिया पत्थर का प्रयोग किया गया था, जिसका रंग सफ़ेद तथा भूरे रंगों का सम्मिश्रण-सा लगता था। यहाँ पर कुल मिला कर छह संघाराम के आविष्कार हुए थे।

साधारणतः ईंट तथा चूने से बनने के बावजूद नागार्जुन कोंड के स्तूप उत्तर भारत के अन्य स्तूपों की भाँति मजबूत न थे। यहाँ स्तूपों के गुंबद घड़े, पत्रे आदि से सज्जित और चक्राकार होते थे। पत्रों की भाँति निर्मित दीवालों के बीचोबीच मिट्टी भर कर, उनके चारों तरफ़ पत्थर का प्रयोग कर, तिस पर अंडाकार का निर्माण हुआ करता था। विन्यास में वह भले ही चक्राकार में रहा हो, किंतु बीच के रंध्र में तो इसका निर्माण छत्र की आकृति में ही दिखायी पड़ता है। विभिन्न आकार वाले ९ स्तूप प्रकाश में आये थे, जिनमें २०" वृत्ताकार वाले छोटे-छोटे टीलों से ले कर १०६" वृत्ताकार के विशाल स्तूपों तक का प्रश्रय था। कुछ छोटे-छोटे स्तूपों के चक्र-नाभि के स्थान पर स्थित कोई-कोई स्तंभ विन्यास में चतुरस्राकार होते थे। लेकिन बृहदाकार स्तूपों की भाँति ही बड़े-बड़े स्तूपों में छत्रदंड सदृश वृत्ताकार दिखायी पड़ने के लिए ही निर्मित मालूम होते हैं। स्तूप को ऊपर से नीचे तक प्लास्टर किया गया था। स्तूपों के आकार के अनुरूप तीन से ले कर पाँच फुट तक ऊँची अंडाकार वेदियाँ बनायी जाती थीं।

नागार्जुन कोंड से मिली प्रायः सभी सुंदर शिल्प-कला-कृतियाँ आयताकार वेदियों पर स्थित पायी गयी हैं।

नागार्जुन कोंड के स्तूप दो प्रकार के हैं। पहले क़िस्म के स्तूप ईंट और चूने से बने हुए साधारण क़िस्म के हैं और दूसरे नीचे से ऊपर तक शिल्प-कृतियों से अलंकृत किये हुए। ईंट से बने स्तूपों के निचले भाग पर शिल्पालंकृत दूधिये पत्थर प्लास्टर से चिपकाये गये थे। वेदी पर अंडाकार और तिस पर दीर्घ-चतुरस्राकार की पेटी की भाँति हर्मिकाएँ बनायी जाती थीं। इन पर भारी पत्थर के या लकड़ी के बने ढक्कन लगाये गये प्रतीत होते थे। ढक्कन पर एक या अनेक छत्राकार खुदे हुए होते थे। छत्र भारत खंड में धर्म-साम्राज्य के प्रतीक माने गये थे।

स्तूपों पर शिल्प-रचना या तो शिलाओं पर या फ़र्श पर ही की जाती थी। इस प्रकार स्तूपों पर कुछ शिल्प-कृतियों तथा कुछ फ़र्शगत शिल्प-रचनाओं से सजाने की कला गांधार-बौद्ध शिल्प-कला के प्रभाव से ही आंध्र में शुरू हुई थी। शिलालेखों में भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि आंध्र तथा गांधार बौद्ध भिक्षुओं के बीच सद्भावनापूर्ण वातावरण क़ायम रहा था। इसके अलावा रोमन शिल्प-कला का प्रभाव नागार्जुन कोंड की शिल्प-रचनाओं में बड़ा ही स्पष्ट देखने को मिलता है।

छठे स्तूप का निर्माण भी महान चैत्य की भाँति चक्राकार में ही हुआ था। इसकी दीवारें पत्तों के आकार में ईंट से बनायी गयी थीं। चक्रांतभाग ८ त्रिभुजाकार के क्षेत्रों में बँट गया था। इसकी उत्तरी दिशा में बुद्ध के अवशेष एक स्वर्ण डिबिया में रखे पाये गये थे। यह डिबिया स्तूप-आकार वाली एक दूसरी चाँदी की डिब्बी में सजायी गयी थी। डिबिया में अवशेषों के साथ कुछ प्रवाल, कुछ मोती, गरुड़-मरकत जैसी मणिकाओं के साथ ५/८" व्यास की छोटी-छोटी दो स्वर्ण-मुद्रिकाएँ भी उपलब्ध हुई थीं। इन मुद्रिकाओं पर किसी रोमन व्यक्ति का उभरा हुआ सिर दिखायी पड़ता था।

श्री लांग हर्स्ट के नेतृत्व में की गयी खुदाइयों में लगभग ५०० शिला शिल्प-रचनाएँ प्राप्त हुई थीं। इनमें सुंदर कला-कृतियों से युक्त अनेक शहतीरें और उभरे चित्रों से अलंकृत शिला-फलक भी शामिल थे। चित्र की प्रणाली भगवान बुद्ध के जीवन, जातक-कथाओं तथा अन्य लोक-कथाओं पर आधारित रही थी। बुद्ध-गाथा की संक्षिप्त कहानी की विविध घटनाओं का एक ही फलक पर चित्रांकन किया गया था। ये कृतियाँ न केवल भगवान बुद्ध के निजी जीवन तथा उनके पूर्व जन्मों पर आधारित थीं, वरन 'जातक कथाओं', 'निदान कथा', 'ललितविस्तर', 'महावस्तु', अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित्र', 'सौंदरनंदम्', 'दिव्यावदानम्', 'धम्मपद' पर बुद्ध घोष की व्याख्या, 'सक्क पन्न सुत्तांत', 'दीघनिकाय' के अंतर्गत, महा परिनिब्बान सुत्तांत, 'दीघनिकाय' पर सुमंगल विलासिनीकृत व्याख्या आदि प्र ाचीन बौद्ध ग्रंथों और चीन तथा सिंहल में विशेष रूप से प्रचलित बुद्ध चरित्र से भी कथा-वस्तु ग्रहण करती थीं।

सन १९३८ में पुनः नागार्जुन कोंड की खुदाई तीन अलग-अलग स्थानों पर आरंभ की गयी। इनमें से एक जगह तो बड़ी ही विस्तीर्ण तथा ऐतिहासिक महत्व की थी। इस प्रदेश में एक विहार प्रकाश में आया था, जिसमें एक स्तूप, दो चैत्य तथा इनके बीच एक मंडप से युक्त एक संघाराम थे। इसके अलावा विहार की उत्तरी दिशा में कुछ दूर हट कर एक छोटी सी कोठरी, एक कर्मागार एवं बाहर वृत्ताकार और अंदर चतुरस्र एक गृह का अनावरण हुआ था। आयताकार वेदियों से युक्त एक स्तूप का व्यास ४०'-८' था। यहाँ कई संश्लिष्ट शिल्प-रचना के दूधिया पत्थर के छप्पर के शिला-फलक प्राप्त हुए थे। इनमें से कुछेक पर भगवान बुद्ध की जीवन-घटनाओं का शिल्पमय अंकन हुआ था। स्तूप की पूर्वी दिशा में गज-पृष्ठाकार दो चैत्य आमने-सामने थे। दक्षिण दिशा के एक चैत्य में आराधना-स्तूप रहा था और पद्मासन पर खड़ी हुई दूधिया पत्थर की एक बुद्ध मूर्ति वाला एक दूसरा स्तूप उत्तरी दिशा में था। पद्मासन के ऊपरी भाग पर बुद्ध मूर्ति के दोनों पैरों के बीच एक छोटा सा छेद था, जो दूधिया पत्थर के टुकड़ों से भरा हुआ पाया गया था। इन टुकड़ों को निकाल देने पर १³/४" गहरे तथा १/२" व्यास के उस विवर से ३/४" लंबा एवं १/३" व्यास के आकार का एक स्वर्ण चोंगा मिला था। चोगे में कुछ १/८" व्यास के एवं कुछ सरसों के आकार के—कुल मिला कर ८५ मोती तथा अस्थि-भस्म भी प्रस्तुत हुए थे। सुवर्ण चोंगे का ढक्कन मज़बूती से दबा दिया गया था। यह बुद्ध मूर्ति के प्रतिष्ठान की विधि थी। चूँकि इस विधि में तथा आधुनिक हिंदू-दैव प्रतिष्ठान में मेल बैठता है, अतः यह निक्षेप बड़े ऐतिहासिक महत्व का माना जाना चाहिए। चैत्यों की पूर्वी दिशा में आवरणरहित एक संघाराम था, जिसका विस्तार ८५'-८"×७२"-२" था। संघाराम ८'-३'×७' विस्तीर्ण फ़र्श के तीन कक्ष थे। संघाराम के बीच जहाँ आँगन का होना अनिवार्य था, वहाँ आँगन के बदले पाँच क़तारों में दूधिया प्रस्तर-स्तंभों का एक मंडप था। दक्षिण पार्श्व के कक्षों की क़तार में आग्नेय कोण पर दक्षिण की ओर कुछ झुक कर एक चतुरस्र आकार का, पत्थर से बना मूत्र-कुंड था। इसके ठीक बीच में १/२" व्यास के एक बिल द्वारा २२' दूरी पर भूगर्भस्थित एक गंदे पानी के कुंड में त्यक्त मूत्र के जमा होने का प्रबंध था। कुंड की लंबाई १९', चौड़ाई ८' तथा गहराई ६' थीं। इसमें पहले बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े, फिर कंकड़ी, फिर बालू और चूना एक के बाद एक पर्तों में बिछाये पाये गये थे।

प्रतीत होता है कि उत्तरी भाग के कमरे विशेष ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। पहले नंबर वाले कमरे में ज़मीन पर दूधिया पत्थर का एक पूर्ण कलश पाया गया था। इसका क़द १५", बीच की गोलाई का व्यास १० १/२" और मुँह का व्यास ४" था। कलश का निर्माण चार विभागों में हुआ था। कलश के ३ ३/४" ऊँचे आधार के बाद १ १/२" चौड़ा पट्टा था। यहाँ से गले तक की ऊँचाई ३ १/४" और गले की ऊँचाई १ १/२" की थी। गले पर ३/४" ऊँचाई, ५ १/८" व्यास का कोर था। कलश का मुख दो पद्म की आकृतियों से कस कर बाँध दिया गया था। पद्म-द्वय ६ १/२" व्यास के रीति-छत्र की बुनियाद पर ही आधारित थे। कलश-कर्णिका को हाथी-दाँत से कस दिया गया था। इतना सारा प्रबंध कलश में संचित वस्तु की मर्यादा के अनुरूप ही था। इसमें १/४" व्यास के जबड़े तथा सामने के दाँत सुरक्षित पाये गये थे। दाँत के अवशेष आकार-प्रकार में छोटे थे। इसके अलावा कलश में और कुछ भी उपलब्ध नहीं हुआ था। प्रचलित स्थानीय ऐतिह्य के अनुसार ये दाँत आचार्य नागार्जुन के ही माने गये थे।

संघाराम की उत्तर-पूर्वी दिशा पर स्थित मंडप के आखिरी कोने पर और चैत्यों एवं स्तूपों की निचली सीढ़ियों के बीच के रिक्त स्थानों पर क़िस्म-क़िस्म के फ़र्शगत अनगिनत अलंकरण-शिल्प सुरक्षित थे। इनमें साधारण कमल, रेखाचित्र, मेंहदी वर्ग के मनोहर पुष्प, सिंह, बाघ, बंदर तथा साँप आदि जानवरों के सिरों की शिल्प-रचनाएँ थीं। इनका इतनी शताब्दियों बाद भी सुरक्षित रह पाना संभवतः मानव-स्पर्श या धूप और वर्षा से बच पाने के कारण ही हो पाया था।

चैत्यों की उत्तरी दिशा में एक छोटा सा कमरा और एक विशालकाय कारखाना पाया गया था। इसके कमरों का क्षेत्रफल १२"-८"×६"-३" था। कमरों में नासिक की आकृति के बर्तन और छोटे-छोटे लाल पत्थरों से बने गुड़िये——जिनमें कुछेक के सिर पर ढिबरी तथा कुछेक के बगल में दीप-स्तंभ पाये गये थे। ये ढिबरी तथा दीप-स्तंभ संभवतः संघाराम की उपयोगिता के लिए रखे गये हों। मुख के चारों तरफ़ ढिबरियों से युक्त एक कुंभ-आरती का घट भी था। यह हिंदू रीति-रिवाज का एक मंगलमय प्रतीक है। एक और कारखाना, जिसकी चौड़ाई १२"-८" थी, प्रकाश में आया था। चूँकि इसकी खुदाई अब तक मात्र २६"-६" की लंबाई तक ही हुई थी, अतः इसकी लंबाई ठीक से बतायी नहीं जा सकती। इस भाग में एक स्थान पर सजाये गये दूधिया पत्थर के फलक तथा छलने पर पड़े हुए पत्थर के टुकड़े उपलब्ध हुए थे, जिससे इस अनुमान को पुष्टि मिलती है कि यह निश्चय ही एक शिल्प-कर्मागार होगा। इस कर्मागार से प्राप्त ६१ शिला-फलकों में ४८ फलकों पर किसी तरह की शिल्प-रचना नहीं हुई थी। ये ४८ फलक प्राचीरों को ढाँकने के काम आते रहे होंगे। शेष फलकों पर शिल्प-रचना हुई पायी गयी थी। ये सीधे या आड़े-तिरछे

नागार्जुन कोंड शिल्प
(इक्ष्वाकु काल)

सजाने में काम आ सकते हैं। इसी कर्मागार से १'-८"×१'-२" आकार वाले गंदुमी रंग के एक दूधिया पत्थर का फलक भी प्राप्त हुआ था। एक टीले के छोर पर स्थित इस फलक पर साँप के दाँत की तरह नुकीले आकार में एक हाथ में एक टहनी पकड़े तथा दूसरे हाथ को कमर पर टेक कर लोचदार भंगिमा में खड़ी एक युवा सालभंजिका और उसकी मदद के लिए हाथ में एक तिलकदान लिये एक दासी की आकृति की एक अपूर्व रेखाकृति थी।

('तेलुगुविज्ञानसर्वस्वमु' के तृतीय खंड से साभार)

—अनु० : नि० बा०।

('युगप्रभात' से साभार)

खंडवल्ली लक्ष्मीरंजनम्

सामाजिक जीवन में व्रत; पर्व और त्यौहार

इन दिनों भारतवर्ष में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है, जो भावात्मक एकता को नये सिरे से प्रोत्साहित कर के देश में राष्ट्रीयता की वृद्धि करना चाहते हैं। इन व्यक्तियों को ज्ञात होना चाहिए कि कई शतियों से इस देश में भावनात्मक एकता विद्यमान है।

हमारी परंपरागत भावात्मक एकता का आधार है हमारे विभिन्न प्रांतों की समान सामाजिक व्यवस्था और समान ढंग का रहन-सहन।

इस समय पूरे देश पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ रहा है। एक पीढ़ी पहले पूर्वजों द्वारा परिपालित परंपराओं का प्रभाव सर्वत्र देखा जा सकता था। अपनी सामाजिक परंपराओं के परिचय के लिए हमें विभिन्न सामाजिक वर्गों की जानकारी पाना आवश्यक है। ब्राह्मण आदि अग्रगण्य जातियों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शेष लोग छोटी जातियाँ में गिने जाते हैं। यह विभाजन उचित है या अनुचित, इसका विवेचन इस स्थल पर आवश्यक नहीं है।

स्थितिः स्वगतिश्चिन्तनीया। अर्थात जो स्थिति है, उसका चिंतन करना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था की भाँति हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि हमारा समाज स्त्री तथा पुरुष नामक दो वर्गों में बँटा है। आर्य तथा द्रविड़ संस्कृति के अंतर को भी हमें समझ लेना चाहिए। इस विभाजन को हम 'आर्य-आचार' तथा 'देशी आचार' के नाम से भी व्यक्त कर सकते हैं।

हमारे पूर्वजों ने सामाजिक आचार को 'सोलह संस्कारों' के रूप में स्वीकार किया था। इन संस्कारों में मुख्य हैं—जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, गर्भाधान, विवाह, अंत्येष्टि। इनमें भी उपनयन संस्कार केवल द्विजों के लिए विहित है। सभी वर्णों की महिलाओं और द्विजेतर पुरुषों के लिए यज्ञोपवीत लेना विधिसम्मत नहीं है। स्त्रियों के लिए 'पुंसवन' और 'सीमंतम्' दो विशेष संस्कार हैं। गर्भ के चिन्ह प्रकट होते ही पुरुष बालक की कामना से किया जाने वाला संस्कार पुंसवन कहलाता है। गर्भ के छठे महीने जो शुभ संस्कार किया जाता है, उसे 'सीमंत' या 'सीमंतोन्नयन' कहती हैं। इस अवसर पर गर्भवती को नयी चूड़ियां पहनाते हैं। कुछ परिवारों में गर्भवती को हल्दी, कुंकुम लगाने और तांबूल प्रदान करने में ही सीमंत संस्कार मान लिया जाता है। इन परिवारों में नयी चूड़ियाँ नहीं पहनायी जातीं। इस कथन

से कुछ विरोध होगा कि हमारे समाज में आर्य तथा द्रविड़ रीति-रिवाजों का समन्वय हो चुका है। रीति-रिवाजों के समन्वय से नयी व्यवस्था का उदय हुआ है। आर्यों के आचार बहुत हद तक संस्कृति से संबंधित हैं। देशी आचारों का आधार बहुत कुछ अंधविश्वास है।

प्रसूति-गृह की व्यवस्था का विवरण तेलुगु काव्यों में विस्तार से मिलता है। कुछ रीति-रिवाज, स्वास्थ्य से संबंधित हैं और कुछ भूत-बाधा दूर करने के लिए।

विवाह-संस्कार में आर्य और द्रविड़ रूढ़ियों का संगम दिखायी देता है। पाणिग्रहण, सप्तपदी, प्रस्तरावरोहण आर्य आचार हैं। इसलिए इन विधियों की पूर्ति के समय वेद-मंत्र पढ़े जाते हैं। मंगल-सूत्र धारण करना देशी आचार ज्ञात होता है। मंगल-सूत्र धारण करते समय वैदिक मंत्र नहीं पढ़े जाते, श्लोक बोले जाते हैं। आंध्र में मंगल-सूत्र का धारण करना विवाह का आवश्यक अंग है। यहाँ तक कि कुछ ईसाई परिवारों में भी मंगल-सूत्र धारण कराया जाता है। विवाह के उपलक्ष में जो रीति-रिवाज संपन्न होते हैं उनमें बहुत से 'देशी-आचार' कहे जा सकते हैं। ये रिवाज अल्पवयस्क वर-वधू के प्रेम बढ़ाने का अवसर प्रदान करते हैं। गेंद खेलना (पुष्प-कंदुकम्), द्वार पर पति से पत्नी का और पत्नी से पति का नाम लिवाना, एक थाली में वर-वधू को भोजन कराना। ऐसे रिवाज भी हैं, जिनसे वर-वधू आनंदित हों और दोनों पक्षों के बड़े-छोटे लोग भी प्रसन्नता अनुभव करें। दंडाडिपू में अल्पवयस्क वर-वधू को बड़े लोग गोद में उठाते हैं और उन पर गुलाल बरसाते हुए नृत्य करते हैं। दोंगबेलम् में वधू का बहनोई अपनी साली (वधू) को छिपा देता है और वर-पक्ष के लोग उसे उपायन दे कर वधू को मुक्त कराते हैं। एक रस्म का संबंध हाँड़ियों से है। इसे अैरेणि कुंडलु कहते हैं। विविध रंगों से रँगी हुई हाँड़ियाँ अैरेणि कुंडलु कहलाती हैं। ब्राह्मणेतर जातियों में यह रस्म अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। सुहागिन इन हाँड़ियों को लाती हैं; हाँड़ियों में पानी के साथ सोना-चाँदी के छोटे आभूषण, जैसे छल्ला, बिछिया आदि डालते हैं। वर-वधू इन आभूषणों को पानी से निकालते हैं। सोने का गहना जो निकाल लाये, वही विजयी समझा जाता है। ब्राह्मणों में भी यह रस्म प्रचलित है।[१] रंग-बिरंगी छोटी-छोटी हाँड़ियों का उपयोग नाकबली के अवसर पर ब्राह्मण परिवारों में भी होता है।

वर-वधू का परस्पर मस्तक पर अक्षत डालना 'तलंब्रालु' कहलाता है। यह प्रथा बहुत दिनों से प्रचलित है। 'मुक्तास्ताश्शुभदा भवंतु, भवतां श्रीराम वैवाहिकाः' का उच्चारण करते हुए अक्षत डाले जाते हैं। अक्षत के स्थान पर जवारी का उपयोग सभी जातियों में पाया जाता है। अरुंधती-दर्शन प्राचीन प्रथा है। बहुत प्राचीन काल में आर्यों ने अंतरिक्ष का परिचय प्राप्त किया, था। अरुंधती-दर्शन इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

वरपक्ष के लोग जब कन्या के ग्राम में पहुँचते हैं, तो वधू पक्ष के लोग शानदार ढंग से उनकी अगवानी करते हैं। तेलुगु में अगवानी को एदुरु कोड्लु कहते हैं। विवाह की अंतिम रस्म है

---

१. उत्तर भारत में भी यह प्रथा प्रचलित है। राजस्थान में 'कांगन जुआ' और अवध में 'नहछू' तथा अन्य क्षेत्रों में विविध नामों से यह प्रथा प्रचलित है।

'अप्प गितलु'।[1] इस रस्म में वधू पक्ष की ओर से वर-पक्ष के लोगों को नाम ले-ले कर बुलाया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति नूतन वस्त्र भेंट में पाता है। फिर कन्यापक्ष के लोग वधू को बिदा करते हैं। इस अवसर पर किसकी आँखों से आँसू नहीं बहते! **वैकलव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः, पीड्यंते गृहिणः कथं तनयाविश्लेष दुःखैर्नवैः।** कण्व ऋषि की यह बात अक्षरशः सत्य है न? विवाह में बूजमुबंति जैसी कई रस्में प्रचलित हैं। श्रीनाथ ने 'नैषध' में इस प्रथा का वर्णन किया है। इससे पता चलता है कि यह रिवाज दीर्घकाल से चला आ रहा है। विवाह के अवसर पर वयस्क लोग भी एक दूसरे पर खाद्य पदार्थों से प्रहार करते हैं। विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में हास्य तथा करुणा का समन्वय 'चाँदनी की फुहार' ही समझिए। आज की औद्योगिक संस्कृति में इस प्रकार के समारोह मधुर स्वप्न बन कर रह गये!

पुरुष पहले से ही घर के बाहर व्यस्त रहा है, वह घरेलू जीवन में अधिक नहीं रम पाया। इसीलिए सामाजिक रीति-रिवाजों में स्त्री ही भाग लेती है। हल्दी, कुकुम, सुगंधित द्रव्य, रंग, अलंकरण, साज-सज्जा, आभरण, वेश-भूषा आदि पर स्त्री का एकाधिकार रहा है।

जन्म के ग्यारहवें दिन बालसारे नामक रस्म होती है। जन्म का नक्षत्र अशुभ हो तो इस दिन शांति के लिए शिशु को छाया-पात्र में छाया दिखायी जाती है। यह प्रथा नाम मात्र के लिए ही क्यों न हो, आज भी प्रचलित है।

ग्यारहवें अथवा इक्कीसवें दिन शिशु को पालने में लिटाते हैं। इस दिन से जच्चा छोटे-छोटे घरेलू कामों में हाथ बटाने लगती है। स्त्रियाँ जच्चे को कुएँ पर ले जाती हैं और उसके हाथों वहाँ चर्खी पर तेजू डलवाती हैं।[2] इस अवसर पर शिशु के नाल का सुरक्षित कुछ अंश ऐसी स्त्री को सुँघाते हैं, जिसे बच्चा न हुआ हो। विश्वास किया जाता है कि सूखी नाल के सूँघने से स्त्री गर्भवती होती हैं। जब महिलाएँ संतानहीन युवती से नाल सूँघने के लिए कहती हैं, तो वह उत्तर देती है—'आप सूँघिए, आप सूँघिए, मुझे बालक नहीं चाहिए। संतानहीन युवती तकल्लुफ़ से हँसती है तो ऐसा लगता है, जैसे चमेली की बेल खिल उठी हो।

बच्चे का पहली बार मुंडन होता है तो उसे 'चौल' संस्कार कहते हैं। कहीं-कहीं लड़कियों के बाल भी समारोहपूर्वक उतरते हैं। बड़ी आयु के स्त्री-पुरुष भी तिरुपति तथा अन्नवरम् जैसे तीर्थ-स्थलों में बाल उतरवाते हैं। लोगों का विश्वास है कि तीर्थस्थल में इस प्रकार के केश-समर्पण से देवता प्रसन्न होते हैं। नथ और बाली पहनाने के लिए लड़की के कान-नाक आज भी बिंधवाये जाते हैं।

उपनयन आर्य-आचार है। यह संस्कार द्विज मात्र के लिए विहित है। कुछ समय पूर्व तक ब्राह्मणों में यह संस्कार समारोह पूर्वक संपन्न होता था, किंतु अब उनमें भी आकाश-कुसुम बनता जा रहा है, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए निर्धारित आयु में पीला कौपीन धारण किया

---

१. उत्तर भारत में 'बिदाई' की रस्म से मिलती-जुलती रस्म।

२. उत्तर भारत में यह प्रथा 'कुआँ पूजना' के नाम से प्रचलित है।

हुआ पलाशदंडयुक्त ब्रह्मचारी जब माँ से 'भवति भिक्षां देहि' कह कर भिक्षा माँगते समय बहुत सुंदर दिखायी देता है। **अयाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।**

श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को ब्रह्मचारी वेदाध्ययन प्रारंभ करता है। यह यज्ञोपवीत-पूर्णिमा कहलाती है। अब ब्राह्मणों में भी बहुत कम लोग श्रावणी पूर्णिमा को अपना नैमित्तिक कार्य संपादित करते हैं।

लड़कियों को बचपन से ही सुगृहिणी बनाने का प्रयत्न किया जाता है। पुराने सामाजिक जीवन में 'सम्मिलित परिवार-प्रणाली' सदाचार मानी जाती थी। प्रत्येक देश और समाज ने लड़की को पराये परिवार में जीवन-यापन करना पड़ता है, यह असि-धारा-व्रत है। इस व्रत के विधिवत समापन के दो ही उपाय हैं—सहिष्णुता तथा मितभाषिता। मितभाषी बनाने के लिए आंध्र में एक प्रथा प्रचलित है—**मूगनोमि**। सूर्यास्त के समय लड़कियाँ अक्षत-कुंकुम ले कर पड़ोस सुहागिनों के पास जाती हैं और उनसे अपने सिर पर अक्षत-निक्षेप करा कर लौटती हैं। सुहाग-भाग के लिए यह प्रथा संपन्न होती है, घर से जाते और लौटते समय लड़की होठ भी नहीं हिलाती, शरारती बच्चे ही नहीं, बड़े लोग भी लड़कियों का मौन तुड़ाने के लिए अनेक यत्न करते हैं, किंतु वे अपना मौन बनाये रहती हैं। 'मूगनोमु' दीपावली के दूसरे दिन से कार्तिकी पूर्णिमा तक चलता है। 'मूगनोमु' के दिनों में सूर्यास्त का वर्णन एक लोक-गीत में कितना आकर्षक है :

पश्चिम में जब सूर्यास्त हो रहा है, वह वेला,
गायों के लौटने की वेला
स्त्रियों के कलश सिर पर रखने की वेला
धोबी के कपड़े लाने की वेला
तुरई के फूल खिलने की वेला

बालिकाओं के लिए कुछ और प्रथाएँ भी प्रचलित हैं। आलस्य, अधिक निद्रा तथा निष्क्रियता लड़कियों के लिए शोभा नहीं देती, वैसे देखा जाय तो ये दुर्गुण पुरुष के लिए भी लज्जाजनक हैं।

कुछ प्रथाएँ इसलिए प्रचलित हैं कि उनका पालन करने से लड़की सदैव सुंदर और स्वच्छ दिखायी दे, जैसे चिट्टि बोट्टु, उदय कुंकुम आदि। यदि लड़की किसी व्रत को तोड़ती है तो कहा जाता है, दंडस्वरूप उसे बूढ़ा पति या सौत मिलती हैं। अंधे लड़के, लँगड़े, लूले, अपाहिज बालक की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार की एक चीज भी किसी स्त्री के लिए सह्य नहीं है।

प्राचीन काल में स्त्री-जीवन को अनुशासित करने वाले तीन नियम थे। १. स्त्री स्वतंत्र नहीं है। **न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।** २. उसका संपत्ति में अधिकार नहीं है। ३. घरेलू कामकाज में स्त्री को दक्ष होना चाहिए, उसके लिए किसी अन्य विद्या की आवश्यकता नहीं है। यदि

कोई इन तीनों बातों को दासता का प्रतीक बताये तो हम उससे सहमत हो सकते हैं और असहमत भी हो सकते हैं। यदि हम व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रेमी हैं, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पुराने समाज में स्त्री को दूसरे दर्जे की नागरिकता मिली हुई थी। सचाई यह है कि २०वीं शती के आरंभ होने तक भारत में ही नहीं, संसार भर में स्त्री का स्थान पुरुष की अपेक्षा गौण था। कुछ ही दिनों से यह स्थिति बदली है।

स्त्रियों के लिए हमारे समाज में जितने व्रत-नियम प्रचलित हैं, वे उसे घर की रानी बनाते हैं। श्रावण में गौरी-व्रत, वरलक्ष्मी-व्रत, पोलेरम्मा आदि ग्रामदेवी-देवता का आराधन। डंड्राळ्ळतद्या, बतकम्मा का त्यौहार, अट्लतद्या, नागुल चविति, बोम्मल नौमु, रथसप्तमी आदि।

पोलेरम्मा का समारोह स्पष्टतः देशी आचार है। इस दिन एक ऐसा कंद उखाड़ कर घर लाया जाता है, जिस पर कुछ पत्ते भी हों। कंद को कुंकुम-अक्षत से पूजते हैं। यह माना जाता है कि जिस तरह कंद से अनेक पत्ते फूटते हैं, उसी तरह, कंद की पूजा के फलस्वरूप संतान की वृद्धि होती है। प्राकृतिक पदार्थों का किसी दैवी शक्ति का प्रतीक मानना आर्यों में भी प्रचलित था। राज्याभिषेक में शल्यकी नामक तृण का उपयोग आर्याचार है, विश्वास किया जाता है कि जिस तरह शल्यकी भूमि में फैलती है, उसी तरह राजा का राज्य विस्तार पाता है। पोलेरम्मा के अवसर पर एक लोकगीत गाया जाता है। नटखट कृष्ण इस गीत का नायक है। गोपियाँ कृष्ण की शिकायत यशोदा से करती हैं:

गोपियाँ

पोलेरम्मा के लिए जब हम आटा गूंथ रही थीं,
तुम्हारा बेटा उसे औंधा कर चला गया।
हाय, तुम्हारा बेटा औंधा कर चला गया।

यशोदा

हमारा बेटा नहीं है, कोई दूसरा होगा।
मेरा बेटा तो ग्वाड़े में है।
हमारा बेटा ग्वाड़े में है।

गोपियाँ

पोलेरम्मा के लिए हम कपड़े लायीं तो वह उसमें से कौपीन फाड़ ले गया।
हाय, वह कौपीन फाड़ कर ले गया,
हाय, वह कौपीन के लिए कपड़ा फाड़ कर ले गया।

यशोदा

हमारा नहीं है, कोई और होगा।

गोपियाँ

पोलेरम्मा की बलि के लिए हम बकरा लायी थीं, उसे तुम्हारा बेटा गरम शलाका से दाग दे गया। दाग के कारण अब उसकी बलि नहीं दी जा सकती।

गीत में इसी ढंग से गोपियों और यशोदा का संवाद चलता है।

उंड्रालतद्दि (तद्या) भाद्रपद कृष्ण तृतीया को और अट्ल तद्या आश्विन कृष्ण तृतीया को मनायी जाती है। दोनों अवसरों पर स्त्रियाँ अभ्यंग स्नान कर के मेंहदी लगाती हैं, मेंहदी सुहाग का चिन्ह है। उससे सुंदरता भी बढ़ती है। इन दोनों अवसरों पर चंद्र-दर्शन के पश्चात भोजन करने की प्रथा है। इस संदर्भ में एक कथा प्रचलित है। सुकुमारी अक्कम्मा भूख सहन न कर सकी। चंद्र-दर्शन से पहले ही उसने भोजन कर लिया। फलस्वरूप उसका विवाह एक बूढ़े व्यक्ति से हुआ। विकलांग बच्चे हुए।

अट्ल तद्दि के दिन तड़के-तड़के दही-भात कर लड़कियाँ चाँदनी में खेलती हैं और गाती हैं :

छींके के नीचे ढेला,
ताक पर रुपया,
तेरा पति सिपाही।

दीपावली तो बच्चों का त्योहार ही है। अंवाड़े (वण) का सूखा पौधा लाते हैं, फटा-पुराना कपड़ा लपेट कर वण के डंठल को तेल में डुबाते हैं। उसे सुलगा कर बच्चे चक्राकार घुमाते हैं और गाते हैं :

दिब्बु, दिब्बु दीपों का त्योहार,
फिर आयेगी नाग चतुर्थी
मैं चलिमिडि[1] मुद्दा कब खाऊँगा ?

तेलंगाने में बतकम्मा का त्योहार समारोहपूर्वक मनाया जाता है। भाद्रपद की अमावस्या से आश्विन शुक्ल नवमी तक बतकम्मा का त्योहार मनता है। स्त्रियाँ रंग-बिरंगे फूल चुनकर ढंग से जमाती हैं। यही बतकम्मा है। संध्या समय स्त्रियाँ बतकम्मा के चारों ओर नाचती हुई गाती हैं :

बतकम्मा, (जीवन की देवी) बतकम्मा, झूला।
तुम्हारी बेटी का नाम क्या है ? झूला।

---

१. चलिमिडि---कच्चे आटे में गुड़-तिल आदि मिला कर एक खाद्य पदार्थ तैयार किया जाता है। नागों को चिलिमिडि का भोग लगता है।

दोनों बहनों को झूला।
दोनों एक ही गाँव में ब्याही हैं, झूला।
हमारा एक ही बड़ा भाई है, झूला।
वह यहाँ मिलने नहीं आता, झूला।
बहन मैं कैसे आऊँ, झूला।
नदियाँ बीच में हैं, झूला।

गीत इसी तरह आगे बढ़ता है।

दसवें दिन बतकम्मा का तालाब में विसर्जन होती है। महिलाएँ अपने साथ **चल्दि** (पाथेय) ले जाती हैं, उसे तालाब के किनारे खा कर लौट आती हैं। 'चल्दि' के कारण 'चल्दुल बतकम्मा' कहलाती है।

श्राद्ध के दिनों में कुमारी लड़कियाँ **बोडेम्मा पंडुगा** त्योहार मनाती हैं। इसमें फूलों की प्रदक्षिणा करते हुए लड़कियाँ नृत्य करती हैं।

स्त्रियाँ **नागुलचवति** भी बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति से मनाती हैं। कार्तिक शुक्ल चतुर्थी को यह व्रत संपन्न होता है। घरों में नाग-प्रतिमा की पूजा करने के पश्चात स्त्रियाँ वाल्मीकि के निकट जाती हैं। दूध से सर्पराज को पूजती हैं। पूजा के समय दीपक नहीं लगता। चलिमिडि[1] का भोग चढ़ता है। स्त्रियों का विश्वास है, चलिमिडि आमाशय की ऊष्णता को कम करता है। जिस तरह श्राद्ध के समय पिता, पितामह तथा प्रपितामह का नाम पुरुष लेते हैं, उसी तरह नागुलचवति को सर्पराज को पूजते समय महिलाएँ अपनी सास तथा सास की सास का नाम लेती हैं। **शेषम्मा कोलिचिन नागेंद्रुडा, सीतम्मा कोलिचिन नागेंद्रडा, श्री शैल भ्रमरांबा कोलिचिन नागेंद्रुडा, चीकटी वाकटा मावळ्ळु नडुस्तुउटारु तोक तुक्किते तुलिगिपोयि, नउमुतुक्किते नावाळ्ळत्र अनुकुनि पडग पडग तुक्किते पारिपोयि वाळ्ळानि रक्षिचु** शेषम्मा से पूजित नागेंद्र, सीतम्मा से पूजित नागेंद्र, श्री शैल की भमरांबा से पूजित नागेंद्र, अँधेरे-उजाले में हमारे (लोग) चलते-फिरते हैं, यदि उनके पाँवों से तुम्हारी पूँछ दब जाय तो तुम दूर चले जाना, यदि वे तुम्हारी कमर कुचलें तो उन्हें मेरे आत्मीय जन जान क्षमा कर देना। यदि वे तुम्हारा फन कुचलें, तो वहाँ से भाग कर तुम उनकी रक्षा करना)। स्त्रियाँ इसी तरह सर्पराज की प्रार्थना करती हैं। पुराने आंध्र नाग के उपासक थे, कुछ इतिहासज्ञों का कहना है, आंध्र लोग नाग जाति से संबंधित थे।

श्रावण मास में समारोहपूर्वक बोनालु मनाया जाता है। इसके लिए कोई विशेष तिथि निश्चित नहीं है। यह समारोह ग्राम-देवता की प्रसन्नता के लिए आयोजित होता है। वर्षा ऋतु में हैज़ा तथा अन्य महामारियाँ फूट पड़ती हैं। इन महामारियों से बचाने के लिए 'बोनालु' द्वारा ग्राम-देवता को पूजते हैं। बोनालु का अर्थ है—पक्का चावल, दही, एक मीठा,

---

१. कच्चे आटे से बनाया गया खाद्य पदार्थ।

अर्शेलु।[1] कटोरी को हल्दी से लीप कर उसमें बोनमु रखते हैं। यही बोनमु ग्राम-देवता को चढ़ता है। भोग के पश्चात धोबी या कुम्हार बोनमु अपने घर ले जाता है।

बोम्मल नोमु—नवविवाहिता लड़कियाँ मकर सक्रांति के पश्चात कनमु (संक्रांति के पश्चात तीसरे दिन) से नौ दिन तक बोम्मल नोमू पूजती है। इस नोमू का संबंध सावित्री गोरम्मा से है। नववाहिता लड़कियाँ मंगलवाद्यों के साथ कुम्हार के घर जाती हैं। उसे धान दे कर मिट्टी की गुड़ियाँ लाती हैं। इन गुड़ियों की संख्या सात या नौ रहती है। इनमें एक गुड्डा रहता है, जो पंचांग देखने वाला ब्राह्मण होता है। नित्यप्रति गुड़ियों को कोई न कोई पकवान चढ़ता है। नौ दिन तक पूजने के बाद युवतियाँ इन गुड़ियों को तालाब अथवा नदी में विसर्जित कर देती है। सुहाग-भाग के लिए यह व्रत किया जाता है।

रथ-सप्तमी—स्त्रियाँ इस दिन पाल पागलि[2] से सूर्य को पूजा करती हैं।

उगादि के दिन लोग नये कपड़े पहनते हैं और नीम के बगर तथा कच्ची कैरियों के रस से बना हुआ पेय पीते हैं।

पुरुषों द्वारा संपादित व्रत-त्योहार वैदिक तथा पौराणिक आचारों से पूर्णतया मेल रखते हैं। श्रीराम नवमी, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, श्रावण पूर्णिमा, विनायक चतुर्थी तथा विजयादशमी को सीमोल्लंघन और शमी-दर्शन। ग्राम-मंदिरों में शिव-कल्याण और विष्णु-कल्याण नामक समारोह आयोजित होते हैं। मकर-संक्रांति, भोगी (संक्रांति के दूसरे दिन मनाया जाने वाला त्योहार), भीष्म-एकादशी, कामदेव-पूर्णिमा (होलिका-दहन), शिवरात्रि-जागरण आदि उल्लेखनीय उत्सव है। दशहरे से पहले नवरात्र तथा सरस्वती-पूजा का समारोह। दीपावली के अवसर पर किसान अपने बैलों तथा गाय-भैंसों के सींग रँगते हैं। ग्वाले अपनी भैंसों को रँगते हैं और अपने ग्राहकों के घर जा कर नाच-गा कर त्यौहारी माँगते हैं। इस अवसर पर ग्वालों का वीररस-प्रधान लोक-नृत्य दर्शनीय होता है।

मकर-संक्रांति पर लोग पण बाँध कर मुर्गे लड़ाते हैं। भेंड़े भी लड़ाये जाते हैं। यह प्रथा आंध्र प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित है।

आधुनिक काल में यांत्रिक सभ्यता गाँव की सीमा में पहुँच रही है। आवागमन की सुविधा, कुछ प्राचीन रीति-रिवाजों का भद्दापन, सिनेमा के प्रचार तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से उपर्युक्त प्रथाएँ लुप्त होती जा रही हैं।

—अनु० : श्रीराम शर्मा—ई० कृष्णमूर्ति
२१-७-६२, गांधी बाजार, हैदराबाद-२।

---

१. भीगे चावल को पीसकर उसे गुड़ की चाशनी में डालते हैं और पूरी की तरह बेल कर अर्शेलु तैयार करते हैं।

२. दूध में चावल-दाल से बनाया गया खाद्य-पदार्थ।

नटराज रामकृष्ण

आंध्र प्रदेश के नृत्य-संप्रदाय

आंध्र प्रदेश दक्षिण भारत का अन्न-भंडार कहलाता है। वह अन्न-भंडार ही नहीं, विविध ललित कलाओं का भी भंडार है। गोदावरी नदी इस प्रदेश में प्रवाहित हो कर इसे सोने में बदल देती है। नटखट बालकृष्ण की पायल की झंकार जैसी आवाज़ करती हुई कृष्णा नदी यहाँ प्रवाहित होती है। तेलुगु माताओं की कुंकुम पूजाएँ ग्रहण करती हुई प्रवाहित होने वाली तुंग और भद्र नदियाँ इस भूमि को उपजाऊ बनाती हैं। परम शिव की जटा में अलंकृत चंद्रमा जैसे अर्ध-चंद्राकार में व्याप्त पूर्वी घाटियों की एक घाटी (तिरुपति) में भक्तवत्सल और संकट-हरण वेंकटरमण आसीन है। दूसरी ओर भ्रमरांब समेत महादेव श्री शैल पर्वत (कर्नूलु ज़िला) पर, अपना स्थिर आवास बनाकर दयार्द्र दृष्टि से भक्तों की रक्षा कर रहा है। वैभव से ओत-प्रोत वैष्णव धर्म, त्याग-तपस्या से संपन्न शैव धर्म तथा सारे विश्व में शांति का संदेश प्रसारित और प्रतिपादित बौद्ध-जन धर्मों ने इस प्रदेश के जन-जीवन, संस्कृति और कला के निर्माण और उत्थान में अपना योग दिया है।

नृत्य-कला, जो हिन्दू आराधना-पद्धति में एक मार्ग है, शातवाहनों के समय में ही सर्व संपूर्ण कला के रूप में विकसित होकर प्रचार में आयी थी। तत्कालीन बौद्ध स्तूपों में अलंकृत, पत्थरों में उत्कीर्ण शिल्प-भंगिमाएँ, उनके विन्यास और उनके रस-भाव-प्रदर्शन-विधाओं आदि के द्वारा जो अमर काव्यों के रूप में आज भी विद्यमान हैं तथा कला के आराधकों को दिव्य संदेश दे रही हैं, इनके द्वारा हमें तत्कालीन नृत्य-कला का बोध होता है। हमारे नृत्य-संप्रदायों के विवरण देने वाले अनेक ग्रन्थ तत्कालीन राजनीतिक झगड़ों के कारण नष्ट किये जाने पर भी, प्राचीन आंध्र नृत्य-कला-वैभव को प्रतिपादित करने वाली वह सुंदर शिल्प-संपदा आज भी खँडहरों में विद्यमान है। यह तो लोकविदित सत्य है कि जब नृत्य करने वाले नर्तक होंगे, तभी पाषाणों में उनकी सजीव मूर्तियों को उत्कीर्ण करने वाले शिल्पकारों की कलाकृतियाँ सम्भव हैं।

बहुत पहले से ही आंध्र प्रदेश में शास्त्रीय नृत्य-कला दो रूपों में पोषित हो कर विकसित होती आ रही है। (१) मंदिरों में ईश्वर के सान्निध्य में आराधना के समय होने वाली नृत्य-पूजा के रूप में और (२) राजाओं के दरबारों में उनकी अभिरुचियों के अनुसार विकसित नृत्य-संप्रदायों के रूप में। ये दोनों संप्रदाय भरत के नाट्यशास्त्र के सूत्रों के अनुकरण पर विविध अंग-प्रत्यंग-विन्यासों के साथ और उनके अपूर्व लय-तालों में विकसित हुआ।

'भुजंग', 'भुजंग-त्रास', 'शुद्ध', 'शुभलीला', 'मंडल ललित डोलपाद', 'सप्त लास्य-विन्यास' और 'नवसंधि नाटक', आदि 'मार्ग' (शास्त्रीय) संप्रदाय के रूप में विकसित नृत्य हैं।

शास्त्रीय संप्रदायों का एक ओर आदर होने पर उन दिनों दूसरी ओर प्रांत विशेष के राजा-महाराजाओं की अभिरुचियों के आधार पर विशेष नृत्य-कला-विन्यास जैसे पेरिणी, 'जक्किणी', 'यति-नाट्य', 'कुरवंजी', 'यक्षगान', 'लामाकलाप' आदि देशी संप्रदाय की विशेष रूप से विकास में आये।

इनके अलावा 'नट्टुव मेळा संप्रदाय', जिसमें पुरुष केवल आचार्य और निर्देशक के रूप में काम करते हैं और जो केवल स्त्रियों द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है तथा 'नाट्य-मेळा' संप्रदाय, जिसमें स्त्रियों का निषेध होता है और जहाँ पुरुष ही स्त्री-पुरुष दोनों पात्रों का वेष धारण कर नृत्य करते हैं, विकसित हुआ।

देवदासी जन, राजनर्तकियाँ और कलावंती स्त्रियों द्वारा प्रदर्शित आराधना-नृत्य और सभा-नृत्य 'नट्टुव मेळा' संप्रदाय की कोटि में आते हैं। रामायण, महाभारत और भागवत आदि के पुराण-पुरुषों की दिव्य गाथाओं को तथा उन पवित्र आत्माओं के जीवन-वृत्तों को जनता-जनार्दन में प्रचार करने के निमित्त कलाकारों के द्वारा नृत्य और संगीत के सम्मिश्रण से प्रदर्शित किये जाने वाले 'यक्षगान' और 'वीधि भागवतमु' आदि 'नाट्य-मेळा' की कोटि में आते हैं।

वीधि भागवतमु

आंध्र प्रदेश में जब शैव और वीर शैव संप्रदायों का प्रचार अत्युन्नत शिखर पर पहुँच गया था, तब शिव से संबंधित गाथाओं को 'नाट्य-मेळा' के रूप में नर्तक प्रदर्शित करते थे। बाद में जब वैष्णव धर्म का विपुल मात्रा में प्रचार हुआ, तब ये नर्तक भागवत के कृष्ण की गाथाओं के गायन के साथ नृत्यों में प्रदर्शित करने लगे। तब से ये नर्तक 'भागवतुलु' और इनके द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले नृत्य 'भागवतमुलु' कहलाने लगे। साधारण जनता में धर्म और संस्कृति का कलाओं के माध्यम से प्रचार करने के उद्देश्य से वीथियों (गलियों) में मंच बना कर नर्तक लोग इनका प्रदर्शन करते थे। इस कारण ये नृत्य 'वीधि भागवतमुलु' (वीधि भागवतमु का बहुवचन) कहलाने लगे और इनको प्रदर्शित करने वाले 'वीधिभागवतुलु'।

जसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि शास्त्रीय और देशी, दोनों नृत्य-संप्रदायों के लिए आधार भरत का नाट्यशास्त्र ही है। फिर भी इन नृत्य और नृत्याभिनय-प्रदर्शन में बहुत कुछ अंतर है। ये सारी नृत्य-नर्तन-विधाएँ देश-काल-परिस्थितियों के अनुरूप तरह-तरह के परिवर्तन प्राप्त करते हुए अनेक नवीन पद्धतियों को ग्रहण करते हुए नूतनता प्राप्त करने लगी। लेकिन आराधना के समय पर की जाने वाली नृत्य-पूजा ही एक ऐसी है जो प्रारंभ से आज तक उसी रूप में, अपनी प्राचीन शोभा को खोये बिना और अपने निज स्वरूप को त्यागे बिना चलती आ रही है। यदि इन पूजाओं में किये जाने वाले नृत्यों का अध्ययन किया जाय तो अतिप्राचीन अनेक भारतीय नृत्य-संप्रदायों का, जो संप्रति काल के गर्भ में विलीन हो गये हैं, संपूर्ण स्वरूप हमारे सामने आ सकता है। विविध मंदिरों औरआरामों में आज हम जो अतुलनीय शिल्प-कला देख

रहे हैं, उसके लिए तथा अजंता तथा एलोरा गुफाओं के भित्ति-चित्रों में अंकित अमूल्य नृत्य-कला-विन्यासों के लिए उस समय की देव-नर्तकियों के आराधना-नृत्य अथवा नृत्य-पूजा ही आधार हैं।

बौद्ध संप्रदाय

'शातवाहन' और 'इक्ष्वाकु' राजवंशों के राज्य-काल में जो साहित्य रचा गया था, उसमें वर्णित नृत्य-वर्णनों के द्वारा तत्कालीन नृत्य-कला-विन्यास के संबंध में थोड़ा परिचय मिलता है, लेकिन उन दिनों विकसित विशिष्ट संप्रदायों के संबंध में, इस साहित्य में वांछित विवरण नहीं मिल पाता है। फिर भी 'नागार्जुन कोंड' में पाषाण-शिलाओं में उत्कीर्ण मूर्तियों तथा उनकी विविध नृत्य-भंगिमाओं को देखने से आंध्र प्रदेश में नृत्य-कला के संबंध में कुछ अधिक परिचय प्राप्त होता है। राजनीतिक तथा धार्मिक झगड़ों के कारण आंध्रप्रदेश में बौद्धयुगीन अनेक अपूर्व ग्रंथों के नाश किये जाने पर भी, जापान देश में बौद्ध आलयों में, देवदासियों के द्वारा आज तक प्रदर्शित किये जाने वाले नृत्यों को देखने से हमारे आराधना-संप्रदाय में बँधी तथा वहाँ की नृत्य-कला में अतीव निकट संबंध दृष्टिगोचर होता है।

शैव संप्रदाय

तेलुगु के महाभारत और भागवत आदि पुराणों के अध्ययन से बौद्ध युग के उत्तर-काल में आंध्र प्रदेश में विकसित नृत्य-कला के संबंध में कुछ परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस युग के बाद शैव और वीर शैव -संप्रदायों ने नृत्य-कला के प्रचार में अधिक योग दिया। शिव से संबंधित अनेक नृत्य, आराधना-कला में प्रवेशित किये गये। 'काकतीय' साम्राज्य-काल में पाशुपत शैव-संप्रदाय आंध्रप्रदेश में व्याप्त हो गया। इस संप्रदाय से संबंधित आराधना-कला में विशिष्टता यह है कि प्रत्येक मंदिर की 'गर्भगुडि' में ईश्वर की मूर्ति के सामने वृत्ताकार और चमकदार एक शिला-वेदिका निर्मित की जाती है, जिसे 'बलि पीठमु' कहते हैं। इस 'बलि पीठमु' के ऊपर देव-नर्तकी प्रतिदिन विविध समयों में की जाने वाली पूजाविशेष के अनुसार संबंधित अर्चना-विधान के अनुरूप नाट्य करती है। हमारे देश के अन्य कुछ प्रदेशों में भी मंदिरों में नृत्याराधना की व्यवस्था तो है, लेकिन 'गर्भगुडि' के सामने इस प्रकार की विशिष्ट वेदिका की व्यवस्था सिर्फ़ आंध्र प्रदेश में है। उस समय के नृत्य-संप्रदायों को जानने के लिए हमें अनेक आधार-ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनमें प्रमुख हैं—'भारतार्णव' और 'वृत्तरत्नावली'। हमारे दुर्भाग्य से 'ओरुगल्लु (वर्तमान वरंगल जो काकतीय साम्राज्य की राजधानी थी। दुर्ग के नामोनिशान के बिना नष्ट किये जाने के कारण उस दुर्ग के मंदिरों की सुंदर शिल्प-कृतियों के न मिलने पर भी, उसी समय 'पालमपेटा' के समीप निर्मित 'रामप्प गुडि' की शिल्प-कृतियों को, जो आज भी सुरक्षित हैं, देखने से आंध्रों के तत्कालीन नाट्य-कला-वैभव का सम्यक परिचय प्राप्त होता है। उन शिल्प-कृतियों में उन दिनों के अनेक नृत्य-संप्रदायों का परिचय सुरक्षित है।

इनके अतिरिक्त 'पंडिताराध्य चरित्र', 'बसवपुराणमु' (ये दोनों काव्य वीर शैव-संप्रदाय के प्रथम प्रगतिवादी तेलुगु कवि श्री पाल्कुरिक सोमनाथ के द्वारा रचित है। इनका समय सोलहवीं सदी है।) 'पलनाटि वीर चरित्र', क्रीडाभिराममु (ये दोनों काव्य तेलुगु के प्रख्यात कवि श्री श्रीनाथ के द्वारा रचित हैं) आदि काव्य-ग्रंथों में भी उन दिनों के अनेक नृत्यों का विपुल वर्णन हमें प्राप्त होता है।

वैष्णव संप्रदाय तथा अभिनय-कला का विकास

वैष्णव धर्म-प्रचार के कारण वास्तव में आंध्र-नृत्य-कला में एक नवीन दिशा आ गयी है। तब से अभिनय-कला नाट्य-नर्तन-नृत्य सप्रदायों के साथ-साथ एक प्रत्येक अंग के रूप में विकसित हो कर क्रमशः उनके एक प्रधान अंग बन कर आज उनका एक अभिन्न अंग बन गया है। तब तक शिव-गाथाओं के आधार पर नाट्य-नृत्य करने वाले नर्तक राधा-माधव की प्रणय-लीलाओं को विविध रीतियों में अभिनय के द्वारा प्रदर्शित कर अपने आपको कृत्कृत्य समझने लगे। किसी एक पौराणिक गाथा को आधार बना कर नृत्य करने के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओं की एक छोटी सी घटना को ले कर विविध भंगिमाओं में, विविध भावों में आंगिक अभिनय के अतिरिक्त सात्विक अभिनय के भी प्रदर्शित करने की परंपरा कृष्ण-भक्ति से ही प्रारंभ हो गयी है।

भरत-नाटयम्

आंध्र नृत्य-कला के विकास में, विजयनगर साम्राज्य के पतन के कारण बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हुई थी। लेकिन आगे चल कर दक्षिणांध्र साम्राज्य के साथ वह 'तंजावूर' में पुनः प्रतिष्ठित हो पायी। आज न केवल दक्षिण भारत में, अपितु विश्व के कोने-कोने में भी विख्यात विशिष्ट नृत्य-संप्रदाय 'भरत-नाट्यम्' दक्षिणांध्र साम्राज्य में ही 'नायक राजाओं के समय विकसित हुआ था। 'रघुनाथ नायक' और 'विजयराघव' नायक' राजाओं की दरबारी नर्तकियों तथा उनके नाट्याचार्यों ने इसको सुंदर और उपयुक्त रूप दिया। इसी समय के प्रख्यात तेलुगु पद-रचयिता तथा माधुरी भक्ति के उपासक 'क्षेत्रय्या' ने भारतीय नृत्य-कला की सिरमौर अभिनय-कला की वृद्धि के लिए अपने पदों के द्वारा अमूल्य व्यवस्था प्रदान की है। उस महापुरुष की रचनाओं के कारण न केवल आंध्र प्रदेश में बल्कि समस्त दक्षिणभारतीय नृत्य-संप्रदायों में रसाभिनय की, जो भारतवर्ष के किसी भी नृत्य-संप्रदाय में विकसित नहीं हो पाया था, वृद्धि हो पायी है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनय-कला भारतीय नाट्य-कला का प्राण है। नायक राजाओं के परवर्ती मराठी राजाओं ने भी मधु के समान मधुर तेलगु भाषा की ही आराधना कर उस भाषा में अनेक नूतन कला-खंडों का सर्जन किया और करवाया।

जमींदारों का आश्रम

उन दिनों जब दक्षिणांध्र साम्राज्य का शासन चल रहा था, आंध्र प्रदेश में अन्य जमींदारी प्रांतों के पुण्य क्षेत्रों में भी नृत्य-कला का विकास होता रहा। नृत्य-कला के विकास में योग देने

वाले ज़मींदारी प्रांतों में 'वेलम राजवंश' से संबंधित 'कालहस्ती', 'वेंकटगिरि', 'कोल्लापुरम्', 'पीठापुरम्', 'बोब्बिलि', क्षत्रिय राजवंश से संबंधित 'कार्वेटिनगरम्', 'पेद्यापुरम्', 'विजयनगरम् और रेड्डी राजवंश से संबंधित 'गद्वाल', 'वनर्पति' आदि प्रमुख हैं। इन ज़मींदारी राज्यों के अतिरिक्त श्रीकूर्मम्', 'अरसविल्ली', 'पीठापुरम्', 'कनिगिरि', 'जोन्नवाडा', 'माचेला', 'श्री-काकुलम्', 'बापट्ला', 'मन्नारु', 'पोलूरु', 'कलहस्ती' और 'चेय्यूरु' आदि पुण्य-तीर्थ-स्थानों से भी जहाँ देवदासियों के द्वारा ईश्वर की आराधना में नृत्य-कला पोषित होती रही, नृत्य-कला के विकास के लिए अधिक योग दिया। 'तंजावूर' नामक राजाओं के बाद 'कार्वेटिनगर' के राजाओं तथा 'विजयनगरम्' के गजपति राजाओं' ने नृत्य-कला के पोषण के लिए सक्रिय कार्य किये। इन्हीं राजाओं के काल में अनेक नृत्य-कला संबंधी रचनाएँ प्रकाश में आयीं। उनमें प्रमुख हैं— 'कार्वेटि नगर' के राजा 'वेंकट पेरुमाळे राजेंद्र' के समय 'गोविंद सामय्या' के द्वारा रचित 'पंचरत्न' (मोहन नवरोजु, 'केदार गौळ' आदि रागों का) नामक पाँच बड़े-बड़े वर्ण (वर्णमुलु) और 'विजयनगरम्' के 'आनन्द गजपति' राजा के समय रचित 'मंडूक भरतमु' आदि। इन दो रचनाओं को संगीत-नृत्य-कला के अलंकरण कर सकते हैं।

देवदासियाँ, मंदिरों में नृत्य-कला

मंदिरों को हिन्दू संस्कृति के अमूल्य भंडार कह सकते हैं। समस्त ललित कलाओं का जन्म-स्थान मंदिर ही हैं। सभी कलाओं की भाँति नृत्य-कला भी दैव-सान्निध्य में जन्म ले कर, मंदिर-प्रांगण में पोषित हो कर भगवान को संतुष्ट करने के उद्देश्य से देवदासी जनों के द्वारा आरा-धित हो कर प्रचार में लायी गयी। भारतवर्ष की सभी कलाओं में अतिप्राचीन, शास्त्रीय और भारतीय संस्कृति के विकास की वाहिनी तथा पूजनीय कला देवालय-नृत्य-कला ही मानी गयी है। अन्य कला-संप्रदायों में देश-काल-परिस्थितियों के अनुरूप कई परिवर्तन आ गये, लेकिन देवालय-नृत्य-कला प्रारंभ से ले कर आज तक उसी मूल रूप में प्रदर्शित होती आ रही है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नृत्य-पूजा तथा नाट्य-कलाविद् प्रत्येक व्यक्ति को मंदिरों में जा कर नृत्य करने का अधिकार नहीं होता। यह अधिकार उर्वशी वंशसंजात प्रत्येक जाति तक ही सीमित रहता है।

'देवदासी' जाति के उदय के संबंध में कहते हैं कि बदरिका वन में जब नारायण तप कर रहे थे, तब इंद्र ने इस संदेह से कि कहीं मेरा पद छिन न जाय, नारायण के तप को भंग करने के लिए अपनी दरबारी नर्तकी रंभा को उनके पास भेजा था। नारायण ने यह जान कर, इंद्र के घमंड का नाश करने के उद्देश्य से अपने उरुओं में से एक अतीव सुंदर नर्तकी का सर्जन किया। यही उर्वशी थी। इंद्र को जब यह मालूम हुआ, तब उसने नारायण के पास आ कर अपनी भूल के प्रति क्षमा-याचना की नारायण ने इंद्र को क्षमा करने के अतिरिक्त उन्हें उर्वशी को भी भेंट में दिया। तब से उर्वशी इंद्र-सभा के लिए एक अलंकरण बन गयी। उस उर्वशी की संतान ही देवदासियाँ कहलाने लगीं। नारायणसंभूत अंश उनमें होने के कारण देवदासियाँ मंदिरों में नृत्य करने के योग्य समझी गयीं। ये ईश्वर के लिए छत्र-चामर धारण करने 'कुंभ तारती' देने पूजा के समय

'कवुतमु' करने और ईश्वर का जब दरबार लगता है, तब 'केलिका' करने के लिए नियुक्त की जाती हैं।

ये देवदासियाँ बचपन से ही नृत्य-संगीत का अभ्यास तथ.संस्कृत और तेलुगु भाषा का अध्ययन करती हैं। इनमें निपुणता प्राप्त करने के बाद पंडितों से इनकी परीक्षा की जाती है। इसके उपरांत इनका मुद्र-धारण (वैष्णव-संप्रदाय में 'शिव-चक्र' मुद्र, शैव संप्रदाय में लिंग मुद्र) होता है। तदुपरांत इनको मंदिरों में नृत्य करने की अनुमति दी जाती है। इस दिन से ये प्रत्येक संध्या समय आरती के समाप्त होते ही ईश्वर के सामने कवुतमु, नामक विशिष्ट नृत्य-कलाकृतियों का अपूर्व लय-तालों के साथ प्रदर्शन करती हैं। विशेष तिथि-त्योहारों के समय जब 'कल्याण-मंडल' में ईश्वर का दरबार लगता है, 'केलिकाओं' का प्रदर्शन करती हैं। 'केलिकाएँ' हास्य-विनोद से भरी रहती हैं। अतः इनमें 'कवुतमु' के नृत्य-नाटकों के अतिरिक्त अभिनय भी समाविष्ट रहता है। इन मंदिरों के प्रांगण में कभी-कभी 'अष्ट दिक्पालकों' की भी आराधना होती है। इन अवसरों पर वे उन-उन देवताओं से संबंधित शास्त्र-सम्मत नृत्य करती हैं। इस प्रकार मंदिरों से संबंधित समस्त नृत्य-कलापों में (शैव और वैष्णव, दोनों संप्रदायों के अनुरूप) निपुणताप्राप्त स्त्रियाँ ही देवदासियाँ बन सकती हैं। इन्हें राजाओं के दरबारों में भी जाकर अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन करने का अधिकार है। किंतु राज-नर्तकियों को मंदिरों में जा कर आराधना-कलाओं में भाग लेने का अधिकार नहीं है। इससे यह स्पष्टतः विदित होता है कि समाज में देवदासियों को उच्च स्थान प्राप्त है।

राजनर्तकी

राजाओं के दरबारों में अनेक नर्तक और नर्तकियाँ रहती हैं, लेकिन उनमें एक ही राजनर्तकी होती है। दरबार में इसका विशिष्ट स्थान और सम्मान होता है। ललित कलाओं में से कोई ऐसी कला और किसी भी कला-विशेष में से ऐसा कोई अंश नहीं होता है, जिसे वह नहीं जानती हो और उनका निपुणता से प्रदर्शन नहीं कर सकती हो। इसी प्रकार इसके आचार्य भी अपनी कलाओं में प्रकांड पंडित होते हैं। तत्कालीन आंध्र के राजा नृत्य आदि ललित कलाओं का पोषण करने के अतिरिक्त स्वयं उन कलाओं का अभ्यास भी करते थे तथा उन पर लक्षण-ग्रंथ भी रचते थे। इस प्रकार के ग्रंथों में 'जायप सेनानीकृत 'नृत्य-रत्नावली और 'दोमरगिरि' राजा रचित 'वसंतराजीवमु' नृत्य-कला से संबंधित प्रमुख ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में तत्कालीन कई नृत्य-संप्रदाय समुचित रीति से वर्णित किये गये हैं। आज प्रदर्शन और प्रोत्साहन के अभाव में, उनमें से कई संप्रदाय लुप्त से हो गये हैं। राजाओं के साथ-साथ उन दिनों की राजनर्तकियाँ भी संस्कृत और तेलुगु भाषाओं के अतिरिक्त अन्य बहु-भाषाओं में विदुषी होती थीं। इस कारण वे अन्य कवियों तथा यक्ष-गान-कर्ताओं की कृतियों को नृत्य-नाट्यों में प्रदर्शन करने के अतिरिक्त स्वयं कई यक्षगान, काव्य और प्रबंधों का भी प्रणयन कर तथा उनका स्वयं प्रदर्शन कर दर्शकों को मंत्र-मुग्ध करती थीं। इस कारण वे तत्कालीन ख्यातिप्राप्त कवियों की भाँति कनकाभिषेक आदि राज-सम्मान की भी अधिकारिणी हो गयी थीं। ऐसी नर्तकियों में प्रमुख हैं—काकतीय साम्राज्यकालीन 'मुद्दसानी'

तथा उनकी पौत्री 'माचलि देवी, रेड्डी साम्राज्यकालीन लकुमादेवी, विजयनगर साम्राज्य-कालीन रंजकम् कुप्पायी और तंजावूर साम्राज्यकालीन, 'रामभ्रंदांब, 'मधुरवाणी, 'रंगाजम्मा, 'कृष्णा जी' और 'मुद्दु पलनी' आदि हैं। 'माचलि देवी' के संबंध में कहते हैं कि शास्त्रीय नृत्यों को स्वयं प्रदर्शित करने के अतिरिक्त इन्होंने 'माचलि देवी-चरित्र' नामक यक्षगान की रचना का स्वयं प्रदर्शन भी किया। 'रामभद्रंब' ने संस्कृत में कविता की। 'रंगाजम्मा' संस्कृत तेलुगु में ही नहीं, प्रत्युत 'शौरसेनी', वैदेही (मैथिली) और 'मागधी' अपभ्रंश इत्यादि भाषाओं की ज्ञाता ही नहीं, अपितु इन्होंने इन भाषाओं में रचनाएँ भी कीं। नृत्य करने के अतिरिक्त कविता करने में भी सिद्धहस्त होने के कारण यह स्वाभाविक ही है कि समाज में तथा राजदरबारों में उनका उच्च स्थान हो। राजा लोग भी इन राजनर्तकियों को रत्न-जटित पालकियाँ भेज कर दरबारों में स्वागत करने के लिए स्वयं उपस्थित होते थे तथा पहले-पहल उनको तंबूल आदि दे कर सर्वाधिक सम्मान करते थे।

यक्ष अथवा 'जक्कुलवारु'

'यक्ष' और 'नाग' अथवा 'नागासु' नामक गंधर्व जाति के लोग बहु प्राचीन काल से आंध्र प्रदेश में रहते आ रहे हैं। यक्ष ही 'जक्कुलवारु' के नाम से तेलुगु में पुकारे जाते हैं। इनका मुख्य पेशा नृत्य-संगीतों का अभ्यास तथा इनका प्रदर्शन होता है। इनके द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली संगीतात्मक नृत्य-कला-कृतियों को ही यक्षगान कहते हैं। ये देशी संप्रदाय से संबंधित हैं। किसी एक प्रख्यात गाथा को नृत्य और गाने के माध्यम से दर्शकों के सम्मुख प्रदर्शित करना ही यक्षगान है। प्रारंभ दशा में 'जक्कुल पुरंध्री' (यक्ष जाति की स्त्री) सर्वालंकरणशोभिता हो कर, सभा में प्रवेश कर गाथा का गान करते हुए उसकी घटनाओं के अनुरूप अभिनय, नृत्य और नाट्य का प्रदर्शन करती थीं। काल-क्रम से इसमें हास्य-विनोद के लिए विदूषक पात्र प्रवेशित किया गया था। इस प्रकार यह एकपात्री नृत्य द्विपात्रक हो गया और बाद में बहुपात्रात्मक। इसी ने आगे चल कर 'वीधि भागवतमु' का रूप धारण कर लिया। इसमें अनेक देशी छंद, संगीत, राग-रागिनियाँ, नृत्य-नाट्य-विन्यासों का सम्मिलित प्रदर्शन होता है।

कूचिपूडि भागवतुलु

ऊपर 'नाट्य-कलाओं का परिचय दिया गया है। 'नाट्य-मेला' के प्रदर्शन करने वाले को 'भागवतुलु' कहते हैं। भागवत से संबंधित गाथाओं का नृत्य करने से इनको यह नाम दिया गया है। चूंकि इनका प्रदर्शन वीथियों (गलियों) में होता है, अतः इनको 'वीधि भागवतुलु' भी कहते हैं। नाट्य-रूपकों के समान खेले जाने के कारण ये 'वीधि नाटकमुलु' भी कहे जाने लगे। यक्षगान संप्रदाय में 'कूचिपूडि' के ब्राह्मणों ने अधिक ख्याति प्राप्त की है। इन लोगों ने नृत्य-कला के माध्यम से हमारी संस्कृति का प्रचार किया है। मुख्यतया जनसाधारण में धर्म, कला तथा इतिहास आदि का इन लोगों ने प्रसार किया तथा उनके विकास के लिए अंत तक कार्य किया है। संगीत में लोग आंध्र प्रदेश में ही नहीं, देश के अन्य प्रांतों में भी इन नृत्यों का प्रदर्शन कर रहे हैं। सर्वप्रथम सिद्धेंद्र

योगी' ने इनको इस कला में दीक्षित किया। 'सिद्धेंद्र योगी' कृष्ण-भक्त थे। कृष्ण के जीवन की मधुरतम घटना 'पारिजात कथा' को ले कर इन्होंने यक्षगान लिखा। इसे इन ब्राह्मणों को सिखा कर इसके द्वारा इनका प्रदर्शन करवाया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन 'गोलकुंडा' के नवाब के द्वारा इन लोगों के इस कला-शिक्षण की निर्विहत व्यवस्था के लिए कूचिपूडि अग्रहारम का दान दिलवाया और इन ब्राह्मणों से यह वचन लिया कि वे अपने परिवार में जन्म के प्रत्येक पुरुष से जीवन में कम से कम एक बार 'सत्यभामा' का वेष धारण कर यक्षगान का प्रदर्शन करवायेंगे। सच्चरित्र तथा 'जान जाइ पर बचन न जाई' सिद्धांत को मानने वाले ये ब्राह्मण भी अपने पूर्वजों के वचन का आज भी पालन करते आ रहे हैं। तथा 'भामाकलापमु' नाम से उस परिजात यक्षगान' गाथा को प्रदर्शित करते आ रहे हैं। क्या पंडित क्या जनसाधारण, आज भी उनके प्रदर्शनों को देख रहे हैं, आनंदित हो रहे हैं। अभिनंदन कर रहे हैं और उनका आदर कर रहे हैं।

कूचिपूडि कृष्णा जिला का एक ग्राम है। इस ग्राम के पास ही 'मुव्व' नामक गाँव है। इसमें वेणुगोपाल का मंदिर है। इसी ग्राम के रहने वाले कृष्ण-भक्त तथा नाट्य-संगीत-कला-पारंगत और तेलुगु के महान पद-रचयिता क्षेत्रय्या ने अनेक पदों की रचना कर उन्हें इस 'मुव्वगोपाल' को अंकित किया। इनके पदों ने दक्षिण भारत की नृत्य-कला में एक क्रांति ला दी है।

कर्णाटकम्: कचेरी नाटच और मेजुवाणी

भरत-विद्या (एकपात्री नाटक) नर्तन, नृत्य तथा अभिनय नाम से तीन भागों में विभाजित हो कर आंध्र प्रदेश में तांडव और हास्य दो रूपों में प्रचलित है। इसमें जो रस-भावरहित हो कर ताल-लय से आश्रित हो कर हस्त-पदादि-विन्यास से परिपूरित होता है, नर्तन कहलाता है। इसी-लिए यह भरत-विद्या से साधारण विद्या मानी जाती है।

किसी गीत के अर्थ को हस्त-विन्यासों और मुद्राओं के द्वारा और ताल-लय-विन्यासों से प्रदर्शित करना ही नृत्य कहलाता है। यह नर्तन से उच्च माना जाता है।

किसी गीत के भाव को सात्विक-संचारी भावों की सहायता से नव-रसों की निष्पत्ति के अनुसार प्रदर्शन करना ही अभिनय है। अभिनय हिंदू नाट्य-कला में सर्वोत्तम माना गया है।

लास्य-तांडव : सभा में बैठ कर नर्तकी के द्वारा पद, श्लोक, कीर्तन गीत तथा कविताओं का अभिनय करना लास्य, सभा में खड़े हो कर नर्तकी के अथवा नर्तक के द्वारा वर्ण, गीत, अष्टपद और तरंग आदि रचनाओं का नृत्यों द्वारा प्रदर्शन करना तांडव कहलाता है।

आंध्र प्रदेश में कुछ वृत्ति के रूप में जो नृत्य की आराधना करते हैं, उनके नृत्यों को 'कर्णाटकमु' और मेजुवाणी' के नाम दिये गये हैं। 'कर्णाटक-संगीत' संप्रदाय के अनुसार स्वर-पल्लव, स्वर-जाति, पद-वर्ण, पद, श्लोक, 'दसवु', 'तिल्लानलु', 'जावलीलु' आदि रचनाओं को नर्तकीगण नर्तन-नृत्य-अभिनय आदि के द्वारा प्रदर्शित करता है, अतः यह 'कर्णाटकमु' कहलाता है।

विदुषी नट्टुवकर्तिणियों का नृत्य-कला-प्रदर्शन रसिक हृदयों को ज्ञान-विज्ञान के प्रीति-भोज के समान है, अतः यह मेजुवाणी (प्रीतिभोज) कहलाता है। राजाओं के दरबार में प्रदर्शित की जाने वाली कला कचेरी नाट्य अथवा कचेरी (सभा) कहलायी।

भामाकलापम और गोल्लकलापम

चार प्रकार के अभिनयों (आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य) लास्य-तांडव नर्तन-नृत्यों को पूर्णतः सम्मिलित रूप में प्रदर्शित की जाने वाली कला ही भामाकलापम और गोल्लकलापम है।

कचेरी नाट्य में नर्तकी यदि संगीत में तथा गायन में कुशल न हो, तो भी उसकी कला-प्रदर्शनी में कोई कमी नहीं आ पाती है। लेकिन भामाकलापम तथा गोल्लपम में नर्तकी को संगीत-ज्ञान ही नहीं, अपितु सम्यक् वाक-चातुरी की भी आवश्यकता होती है। इससे अपने द्वारा अभिनीत प्रत्येक गीत, श्लोक, पद आदि की स्वयं व्याख्या भी करनी पड़ती है। भामाकलापम से भी गोल्ल-कलापम अधिक जटिल होता है। इसको प्रदर्शित करने वाली नर्तकी-नर्तकों को संगीत-नृत्यों में प्रवीणता के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का समुचित ज्ञान, वेदों, स्मतियों तथा पुराणों के विविध श्लोकों का व्याख्यासहित अर्थ करने की क्षमता होनी चाहिए। इसीलिए कोई भी जब तक तेलुगु के पंच काव्यों का अक्षुण्ण अध्ययन नहीं कर पाता, तब तक गोल्लकलापम में दीक्षित नहीं हो पाता है। इसी कारण नृत्य-मर्मज्ञों के द्वारा यह अत्युत्तम कला के रूप में प्रशंसित की जाती है।

भामाकलापम् श्रृंगार रसभरित होता है। यह अष्ट नायिका अभिनययोग्य निर्मित रचना होती है। गोल्लकलापम वेदांत से संबंधित, वैराग्य तथा भक्ति-ज्ञानप्रबोधिनी संगीत-रचना होती है। इस कारण भामाकलापम का कोई भी कलाकार जिस सुगमता से अभ्यास कर उसका प्रदर्शन कर दर्शकों का रसास्वादन कर सकता है, इतनी सुगमता से गोल्लकलापम का नहीं। इसी कारण बहुत ही कम लोग इसका अभ्यास करते हैं।

मधु से भी मधुर तेलुगु भाषा ही दक्षिण भारत की सभी भाषाओं में संगीत कला के लिए अधिक उपयुक्त है। अतः अन्य भाषा-भाषी संगीत-नृत्य कलाकारों ने भी तेलुगु सीख कर इस भाषा में अपनी रचनाएँ की हैं। इसीलिए हम दक्षिण भारतीय संगीत-नृत्य रचनाएँ तेलुगु में अधिक पाते हैं। अभिनय-कला भी आंध्र प्रदेश में अधिक प्रचार में है। आंध्र भाषा (तेलुगु) दक्षिण भारत की सांस्कृतिक भाषा के रूप में विकसित हुई है। आंध्र प्रदेश में भागवतुलु तथा नर्तक-नर्तकीगण अन्य प्रदेशों के लिए भी आदर्श माने जाते हैं और उनके द्वारा प्रदर्शित नृत्य-संप्रदाय अधिक शास्त्र-सम्मत माने जाते हैं।

अति प्राचीन काल से आंध्र प्रदेश में नृत्य-कला का विकास और प्रचार होने पर भी कुछ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषम परिस्थितियों के कारण गत तीन-चार दशकों से देवदासियों के द्वारा नृत्य, पूजा, राजनर्तकियों के द्वारा कचेरी नृत्य आदि को त्याग देने से इस कला को अपार क्षति पहुँची है। लेकिन 'कूचिपूडि' के ब्राह्मणों के द्वारा अब भी अपनी

कला की आराधना की जाने के कारण कम से कम हमारा यह प्राचीन नृत्य-संप्रदाय अब भी अक्षुण्ण रूप में सुरक्षित रह पाया है।

देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति तथा आंध्र प्रदेश के अवतरण से पुनः आंध्र के कलाकारों में अपनी प्राचीन कलाओं के प्रति उत्सुकता जाग्रत हो गयी है। वे अब उनके पुनः अभ्यास और प्रदर्शन में लग गये हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अब वह दिन दूर नहीं है, जब आंध्र के युवा और युवती कलाकार नृत्य-कला की आराधना के द्वारा अपने प्राचीन नृत्य-संप्रदायों की पुनः प्रतिष्ठा करेंगे तथा देश-देशांतरों में इनकी ख्याति फैलायँगे।

—अनु० : विजयराघव रेड्डी,

नर्तकी (काकतीय काल)

विरुदुराजु रामराजु

आंध्र का लोक-गीत साहित्य

लोकगीत के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं। १. अज्ञातकर्तृकता अर्थात रचयिता का पता न चलना। अथवा सामूहिक कर्तृकता अर्थात एक से अधिक कवियों की कृति होना। २. स्थिर रूप-रहितत्व अर्थात गीत का रूप समय-समय पर बदलते रहना। ३. रचना-काल अज्ञात रहना। ४. जनता में मौखिक रूप से प्रचार पाना। ५. सहज शैली। ६. गेयता। ७. ज़बानी ही रचा जाना। ८. एक ही भाव की पुनरावृत्ति। ९. गीत की वस्तु का सर्वपरिचित होना। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हर लोकगीत में इन सभी गुणों की उपस्थिति आवश्यक है। इन सभी गुणों को समाहित करने वाले दो गुणों का गीतों में होना पर्याप्त है : १. अज्ञातकर्तृकता तथा २. विश्वजनीनता। इन गुणों के अनुसार प्राक्तन अशिक्षित मानव के मनोगत भावों की लयान्वित अभिव्यक्ति तथा कुशल पंडितों के द्वारा प्रणीत पदकविताएँ, लोकगीतों के अंतर्गत ही आती हैं। एक-एक गुणविशेष की कसौटी पर इस निर्णय पर पहुँचने की अपेक्षा कि कौन लोकगीत है अथवा कौन नहीं है, साहित्य के मूलभूत तत्वों के आधार पर स्थूलतः सारी कविता को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। १. 'ज्ञातशिल्प' की कविता तथा २. 'अज्ञातशिल्प' की कविता। ज्ञातशिल्पीय कविता की सर्जना प्रबुद्ध एवं भावुक कलाकार की सर्जना है, जिसका निर्माण प्रयत्न-पूर्वक होता है। अज्ञातशिल्पीय कविता किसी अशिक्षित जानपद व्यक्ति की सर्जना है, जो अनायास अभिव्यक्त होती है और ज़बानी एक से दूसरे को और एक प्रांत से दूसरे प्रांत को पहुँच जाती है। उसमें दिखायी देने वाली साज-सजावट और कलात्मक श्रृंगार सहज तथा अप्रयत्नसिद्ध है। प्रथम वर्ग की कविता एककर्तृक होती है, जब कि द्वितीय वर्ग की कविता अज्ञातकर्तृक अथव अनेककर्तृक होती है। प्रथम सभ्यता-मंदार-संवासित है तो दूसरी पृथ्वी-गंधबुंधर है। तज्ञों के विचार में प्रथम वर्ग की कविता द्वितीय का परिणत एवं परिष्कृत रूप ही है। आंध्र कविता भी इस परिणाम-क्रम से वंचित नहीं कही जा सकती। कई प्रमाणों के बल पर यह कहा जा सकता है कि तेलुगु का लोक-गीत-साहित्य ही कालांतर में, देशी कविता में परिणत हुआ है। 'सीसमु' 'गीतमु', 'रगड', 'द्विपद', 'मध्याक्कर', 'तरुवोज' आदि देशज वृत्तों का आविर्भाव कतिपय लोकगीतों से माना जा सकता है

लोकगीत-साहित्य का संवर्धन अति प्राचीन काल से तेलुगु प्रदेश में होता आया है, इस तथ्य के प्रमाण प्राज्ञ साहित्य में हमें कई स्थानों में मिलते हैं। सभी लोकगीत मात्रा छंदों में लिखे जाते हैं। आदिकवि नन्नय्य के पूर्व शिलालेखों में देशज वृत्त उपलब्ध होते हैं। नन्नय्य ने स्वयं ही

'तरुवोज, 'मध्याक्कर', 'अक्कर', 'मधुराक्कर', नामक वृत्तों का प्रयोग किया था। नन्नेचोड कवि ने अपने काव्य 'कुमारसंभव' में 'अंकमालिकलु', 'ऊयेलपाटलु', 'अलतुलु', 'गौड़गीतमुलु', 'रोकटिपाटलु' आदि लोकगीत विधाओं का उल्लेख किया था। इन लोकगीतों का सबसे अधिक उल्लेखन पालकुरिकि सोमनाथ की कृतियों में मिलता है। कहा जाता है कि आम जनता में उस युग में प्रचलित भक्ति-पूर्ण लोकगीत ही सोमनाथ की कविता की आधार-भूमि है। उन्होंने स्वयं यह माना है कि बसव के पुरातन भक्तों के गीत ही अपनी कृति की मातृका है। सोमनाथ के उल्लेखन में 'रोकटि पाटलु', 'तुम्मेद पदमुलु', 'प्रभात पदमुलु', 'पर्वत पदमुलु' 'आनंद पदमुलु', 'शंकर पदमुलु', 'निवालि पदमुलु', 'वालेशु पदमुलु', 'गोब्बि पदमुलु', 'वेन्नेल पदमुलु' आदि मिलते हैं। 'एगंटि' के काल-ज्ञान-वचनों में, 'तुम्मेद पदमुलु', 'एलपदमुलु', 'लेल्ले पाटलु' आदि का प्रयोग किया गया था। लाक्षणिकों के द्वारा अभिहित नाचन सोमनाथ के 'जाजरपाट' छंद में ही आज तक तेलंगाना के ग्रामवासी कामपूर्णिमा के अवसर पर लोकगीत गाते रहते हैं। 'दशकुमारचरित' में, केतन्ना ने कुछ गीतों का स्मरण किया, जो संस्कृत के मूल ग्रंथ में नहीं हैं। श्रीनाथ ने 'यक्षगान' तथा 'जाजरों' का स्मरण किया था। मंचन शर्मा तथा टिट्टिभशेट्टि नामक दो मित्र 'ओरुगल्लु' नगर देखने गये। वहाँ उन्होंने द्विपदप्रबंध शैली में वीरगीत गाने वाली एक वनिता को, परशुराम की कथाओं का गान करने वाले बवनील चक्रवर्ती को महालक्ष्मी तथा विष्णु के प्रेम को गाने वाली जक्कुओं की एक वनिता को देखा था। महाकवि पोतन्ना ने 'गोविंद' पर लिखे गीतों का उल्लेख किया था और कोरवि गोपराजु ने' 'वेन्नेलगुडिपाट' का स्मरण किया। ताल्लपाक अन्नमाचार्य ने अपने युगानुकूल सभी लोकगीतों की शैली में संकीर्तनों की रचना की। इनकी पत्नी ताल्लपाक तिम्मक्क की कृति भी इसी लोकगीत-शैली में प्रणीत हुई। ताल्लपाक चिनतिरुमलाचार्य ने न केवल पदों की रचना की, अपितु संकीर्तन-लक्षण भी लिखा था। लोकगीत न होते हुए भी ताल्लपाक कवियों की कृतियों में हमें गीतों के विविध रूप तथा लोकगीतों के क्रम-परिणाम अवश्य मिलते हैं। संकीर्तन पर रचित रीतिग्रंथों में 'एललु','गोब्बिल्लु', 'चंदमाम पदमुलु', 'अर्धचंदिकलु' आदि गीतों के लक्षण बताये गये हैं। जैत्र यात्रा पर निकलने वाले महान सम्राट श्रीकृष्णदेवरायलु को एक लोकगीत से मिली हुई प्रेरणा संबंधी जनश्रुति को सब जानते हैं। स्वयं उस महाराजा ने प्रातःकाल में अनेक गीत सुने। रुद्रकविप्रणीत 'सुग्रीवविजय' नामक यक्षगान में, कई प्रकार की गीत-शैलियाँ मिलती हैं। दामेरल वेंगल भूपाल ने 'जाजर पादलु', 'धवलमुलु', 'कल्याण गीत' आदि का ज़िक्र किया था। कदिरीपति नामक ने 'सुव्वालु', ,शोभनमुलु', 'धवलालु', 'एललु', 'चर्खागीत', 'परशु-राम गीत' का स्मरण किया। तंजौर नायक राजाओं के युग में, रंगा जी, रामभद्रांब, विजय-राघव नायक आदि ने पदकविता की रचना की। भद्राचल रामदास के पद लोकगीतों के रूप में आम जनता में प्रसिद्ध हुए। क्षेत्रय्यपद और त्यागराजु की संगीत-कृतियाँ, कर्णाटक संगीत के शिरोमाणिक्य हैं। अन्य उल्लेखनीय पद-रचयिताओं में एलकूचि बालसरस्वती, कंकंटि पापराजु, गोगुलपाटि कूर्मनाथ कवि, आलूरि कुप्पन आदि मुख्य हैं। पदकविता होने के बावजूद उनकी कविता यथोचित प्रौढ़ भी है। यह कविता देशी कविता के अंतर्गत आती है। फिर भी लोकगीत-विधा के परिणाम से अवगत होने के लिए सहायक सिद्ध होगी।

त्यागराजु के अनंतर, अनेकानेक ऐसे गीत हमें मिलते हैं, जिनकी रचना स्वयं ग्रामीणों ने की अथवा जिनका प्रचार जनपदों में हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि कुछ लोकगीत काल-कवलित हुए होंगे। कोई भी वाङमय इस विप्लव से बच नहीं पाया है। सुरक्षित रखने वाले होते तो अवश्य यागेटि लक्ष्मय्यवचनमुलु जैसी अति प्राचीन रचनाएँ कुछ उपलब्ध होतीं। प्राचीन ताड़पत्र-ग्रंथों में कहीं-कहीं कतिपय गीत आज भी उपलब्ध होते हैं। मुद्रण-सौकर्य के अनंतर लोकगीत-साहित्य का कुछ अंश प्रकाश में आ सका। मुद्रित गीतों में अधिकांश तो आधुनिक ही हैं। मौखिक रूप में प्राप्त छोटे-छोटे गीतों का प्रकाशन आधुनिक उत्साही युवक कलाकारों के द्वारा संपन्न होने पर भी करणीयांश ही बहुत अधिक है। इन प्रकाश्य लोकगीतों की संख्या लाखों की संख्या में होगी। अधिकतर लोकगीतों का उद्गम एवं नाश, जनता के जिह्वांचलों पर ही हो रहा है। यह पता लगाना कठिन ही है कि कौन-सा गीत कब का है और कितने परिवर्तनों का शिकार बना है। इस अखंड जातीय संपदा के संबंध में सर्वप्रथम आंध्रों को सचेत करने वाले महानुभाव सी० पी० ब्राउन थे। तीस वर्ष के अनंतर श्री जे० एल० बायल नामक एक पश्चिमी विद्वान ने लोकगीतों का संग्रह किया था। तदुपरांत बीसवीं शती के आरंभ में, उत्साही पंडित एवं प्रकाशक ने इन गीतों का संग्रह कर के प्रकाशित किया।

आज तक उपलभ्यमान प्रकाशित और अप्रकाशित लोकगीतों का अध्ययन सुविधा की दृष्टि से हम कतिपय वर्गों में विभाजन कर सकते हैं।

पौराणिक गीत : लोकगीत भी अभिजात साहित्य की भाँति विविध पुराण एवं इतिहास से संबद्ध हैं। इस वर्ग के लोकगीत सर्वाधिक प्रचार में हैं। वास्तव में तेलुगु में अनूदित रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में मूलातिरिक्त अनेकानेक कथाएँ हैं। इस प्रकार की कई अतिरिक्त कथाएँ हमें लोक-साहित्य में भी उपलब्ध होने से यह बताना कठिन हो जाता है कि इनअतिरिक्त कथाओं का प्रथम उद्गम-स्थान पंडितों का अभिजात साहित्य है अथवा लोक-साहित्य, जिसकी देखादेखी पंडितों ने इन कथाओं को अपने शिष्ट साहित्य में भी अपनाया है। लोकगीत-साहित्य में हम लगभग सभी मूलातिशायी पौराणिक कथाओं को पा सकते हैं। बात यह है कि पौराणिक कथाओं में ग्रामीण जनता की आत्मा सहज ही रमती है। अतः ये समय-समय पर इन कथाओं में अपनी रुचि के अनुकूल नये परिवर्तन लाते रहते हैं। इस वर्ग के लोकगीत-साहित्य में, कूचकोंड रामायणमु शारद रामायणमु, धर्मपुरि रामायणमु, रामायणकथासुधार्णवमु, मोक्षगुंड रामायणमु, सूक्ष्मरामायणमु, संक्षेपरामायणमु, मुत्तेनदीवि रामायणमु, चिट्टि रामायणमु, श्रीरामदंडमुलु, रामायण गोब्बिपाट, श्रीराम जाबिलि, अडवि, शांत पेड्डिल, सेतु गोविंद नाम जैसी कृतियाँ, रामायण कथासुधासार की मनोहर लहरें हैं। 'विट्टिकूचि रामायण' जैसी रचनाएँ जो प्रातः समय गायी जाती थीं। न जाने कितनी संख्या में लुप्त हो गयी हैं। इनके अतिरिक्त अनेकानेक ऐसी कृतियाँ हैं, जिनमें रामायण कथा के किसी एक अंश को ले कर चली हैं। इन लोकगीतों की भाषा में, अभिव्यक्त भावों में नियोजित कल्पनाओं में, सभी में ग्रामीण सभ्यता की गंध महक उठती है।

रामायण-कथाओं के अनंतर महाभारत की कथाएँ उल्लेखनीय हैं। इसमें 'नलचरित्र', 'देवयानी चरित्र', 'सुभद्राकल्याणमु', 'सुभद्र सारे', 'धर्मराजु का द्यूत', 'द्रौपदी के चीर', 'विराट

पर्व', 'पद्मव्यूहमु', 'विश्वरूपमु', 'भगवद्गीत कथागीतमु', 'शशिरेखापरिणयमु', 'गयोपाख्यानमु', 'पराशर मत्स्यगंधि संवादमु' आदि उल्लेखनीय हैं। बृहद् लोकगीतों में जो ग्रामीणों की जिह्वाओं पर हैं, विराटशल्यपर्व, उत्तर-दक्षिणगोग्रहणमुलु स्मरणीय हैं। इसी प्रकार अनेक भागवत संबंधी कथाओं को भी ग्रामीण लोग गाते रहते हैं।

इन लोकगीतों में सर्वत्र अनुभूयमान सत्य यह है कि ये ग्रामीण कवि अपनी काव्य-वस्तु के साथ तादात्म्य की स्थापना करते हैं और उनकी भक्ति, वर्णित देवी-देवताओं के प्रति अत्यंत निर्मल और निष्ठापूर्ण है। मूल कथाओं में और लोकगीतों के इतिवृत्त में उपलब्ध विपर्ययों के पीछे ग्रामीणों की मनोवृत्तियों का हाथ साफ़ लक्षित होता है।

ऐतिहासिक लोकगीत : लोकगीत-साहित्य में, ऐतिहासिक गीतों का एक विशिष्ट स्थान है। वस्तु, शैली तथा कथा-कथन-पद्धति में, अन्य लोकगीतों से ये विलक्षणता रखते हैं। इन्हीं को वीरगीत कहा जाता है। ऐतिहासिक वीरगीतों का आविर्भाव, वीरतापूर्ण घटनाओं के तुरंत बाद होता है। उस वीरतापूर्ण प्रसंगों को आँखों से देख कर अथवा सुन कर कोई एक जानपद व्यक्ति आवेश के साथ गाता है। वह गीत सर्वत्र व्याप्त होता है। इस प्रचार के कारण गीत के कलेवर और इतिवृत्त में परिवर्तन होता है। इन ग्रामीणों की वाणी हमें, नवीनगीतों में पुराने गीतों के कुछ अंश मिल जाते हैं। वास्तव में आरंभ में इन गीतों में ऐतिहासिक तथ्यों के मिलने की संभावना है। परंतु कालांतर में नवीन कल्पनाएँ गीत में घर कर लेती हैं, जिससे इतिहास आच्छादित हो जाता है। अंत में इतना रूप-परिवर्तन हो जाता है कि ये अपनी ऐतिहासिकता को खो कर केवल दंतकथाओं में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐतिहासिक वीरगीतों का तथा अन्य लोकगीतों के लक्ष्य भिन्न हैं। वीरगीत न केवल उत्साह और उल्लास के लिए अपितु ज्ञान के लिए भी गाये जाते हैं। आंध्र प्रदेश पहले से ही वीरप्रसू है। आंध्रों में वीरता का आवेश अधिक पाया जाता है। अतएव आंध्र प्रदेश में, वीरपूजाएँ खूब चलती हैं। अन्य लोकगीतों की भाँति ही तेलुगु प्रदेश में, ऐतिहासिक गीत भी अधिक संख्या में पाये जाते हैं। स्वर्गीय सुरवरम् प्रताप रेड्डी के मतानुसार तेलंगाना में ही मियासाब, सोभनाद्रि, रामेश्वर राव, रानि शंकरम्मा, सर्ववेंकट रेड्डी, कुमार रामुडु, कर्नूलु नवाबु आदि वीरों की कथाएँ प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त सदाशिव रेड्डी, पर्वताल मल्लारेड्डी, सर्वायि पापडु, बल्गूरि कोंडल रायडु जैसे वीरों की कहानियाँ भी वीरात्मक लोकगीतों में उपलब्ध होते हैं। इतिहास के अनुसार सर्वप्रथम वीरगीतों में पल्नाटि चरित्रमु का एक महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीनाथरचित बालचंद्र को युद्ध ही अब तक प्रकाशित हुआ है। प्राच्यलिखित पुस्तक-भंडार में, इन वीरों की अनेक कथाएँ अप्रकाशित अवस्था में पड़ी हुई हैं।

आध्यात्मिक लोकगीत : भक्ति, कर्म तथा ज्ञानपरक लोकगीत तेलुगु में लाखों की संख्या में हैं। भक्तिपरक गीतों के हम दो विभाग कर सकते हैं। १. शैव गीत २. वैष्णव शैव ! गीत। प्राचीन शैव गीतों में आज भी कुछ उपलब्ध होते हैं। ताल्लपाक कवियों की कृतियाँ, क्षेत्रय्य के श्रृंगारी पद, त्यागराजु की कृतियाँ, 'परिमलरंग के पद, घट्टपल्ल, धर्मपुरी, छत्रपुरी, की 'जावलियाँ', संगीतज्ञों की संपदा बन गयी हैं। अध्यात्मरामायण के कीर्तन आम जनता तथा गायकों की संपदा

हैं। ग्रामीण जनता में अत्यधिक आदर पाने वाले थे भद्राचल रामदास। हरिदास घर-घर भीख माँगते समय तुमु नरसिंहदासु, परांकुशदासु, निट्टल प्रकाश दासु, ताटंकमु वेंकटदासु जैसे भक्तों के गीतों का गायन करते रहते हैं। संकीर्तन, पद, मेलुकोलुपुलु (जागरण-गीत) अथवा प्रभात-गीत, लालि-गीत, जोल पाटलु, कोलाट गीत, 'मंगलारात्रिक गीत' आदि भक्ति-गीतों में समाहित हो जाते हैं। 'कोलाट' गीतों में, मधुरा भक्ति का प्राधान्य रहता है। इनमें संगीत और साहित्य के साथ, कुछ नृत्य भी रहता है। पालकुरिकि के द्वारा वर्णित प्रभातपद जागरण-गीत ही हो सकते हैं। इनको भूपाल गीत भी कहा जाता है। कारण यह है कि ये गीत प्रायः भूपाल राग में ही गाये जाते हैं। वेदांतपरक जागरण-गीत भी हैं। श्रीकृष्णपरक गीतों में मधुरा भक्ति अनुभवगम्य होती है। आरती के गीत सभी देवी-देवताओं पर उपलब्ध होते हैं। ये वर्णन के रूप में, स्तोत्रों के रूप में तथा सेवा के रूप में उपलब्ध हैं।

भक्ति-गीतों की तरह वेदांतपरक गीत भी बड़ी संख्या में हैं। वेदांतविषय को अथवा तत्व को प्राधान्य देने से ये गीत तत्व-गीत अथवा 'तत्व-मुलु' भी कहे जाते हैं। ये तत्व-गीत अधिकांशतः अद्वैत मत के होते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन तत्व-गीतों के प्रणेता अधिकतर अब्राह्मण ही हैं। अद्वैत में जीव-ब्रह्मैक्य का सिद्धांत प्रतिष्ठित है। अतः वेदांत-वियोग विचार में समाज में पाये जाने वाले निम्नोन्नत के लिए अथवा विषमताओं के लिए स्थान नहीं है। इसलिए अधिकारी विद्वान ज्ञान-प्राप्ति के लिए तथा अनधिकारी जन आत्म-संतोष के लिए इन 'तत्वों' का गायन किया करते हैं। अग्र वर्णों के आधार पर विचार, पूजा-विधान आदि की आलोचना इन 'तत्व-गीतों' में पायी जाती है। इन गीतों में रहस्यात्मक भावनाएँ भी निहित हैं।

व्रत और त्योहारों के द्वारा तत्संबंधी गीत-साहित्य भी तेलुगु में है। व्रत और पर्व, दोनों महिलाओं में अत्यंत प्रचलित हैं। अतः स्त्री-गीतों के रूप में इस प्रकार का साहित्य सुरक्षित है। अनुमान किया जा सकता है कि नन्नय्य के समय से ले कर ये व्रत और पर्व प्रचलन में हैं। मुख्यतः स्त्रियों और शूद्रों को पूजा का अधिकार दिलाने के लिए इनकी आयोजना की गयी। महिलाओं और अन्य अब्राह्मण जातियों को यह सुविधा वीर शैव और वीरवैष्णव जैसे सुधारात्मक आंदोलन व फलस्वरूप मिला होगा। मदनद्वादशी व्रत, नित्यदान व्रत, दीपदान व्रत, पद्मव्रत, चातुर्मास्य व्रत, कृत्तिक दीप व्रत, वरलक्ष्मी गीत, कामेश्वरी व्रत, श्रावण शुक्रवार व्रत, श्रावण मंगलवार व्रत आदि से संबद्ध अनेकानेक लोकगीत बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें कामेश्वरी गीत का ज़िक्र 'क्रीडाभिराम' में मिलता है। लक्ष्मी-गौरी-व्रत अग्रजातियों की महिलाओं के लिए हों, तो समाज के निम्न वर्गों की महिलाओं के लिए एल्लम्मा, मैसम्मा, पोचम्मा, बालम्मा आदि क्षुद्र देवताओं की पूजाएँ हैं। इन देवताओं की सेवाएँ ग्रामों में, बवनी लोग करते हैं। एल्लम्मा ही रेणुका देवी है। क्रीडाभिराम में परशुराम की कथाओं का ज़िक्र है।

महिला-गीत : जीवन की यात्रा में स्त्री का ही अधिक प्राधान्य है। उसी प्रकार गृह-जीवन में कविता के आलंबन भी अधिकतर महिलाएँ ही हैं। इन गीतों को हम महिला-गीत कह सकते हैं। इन गीतों में कल्पना की अपेक्षा यथार्थ के लिए अधिक स्थान है। मातृत्व की भावना ने न जाने कितने गीतों को जन्म दिया है। इन गीतों में संतान के लिए तरसने वाली स्त्रियों की हार्दिक

वेदना, उनसे रखे जाने वाले व्रत, मनौतियाँ, वंध्या स्त्रियों की दयनीय स्थिति आदि वर्णित हैं। संतान के साथ ही लालि पाटलु, जोलपाटलु आदि फूट निकलते हैं। इनमें महिलाएँ अपनी संतान को राम, कृष्ण अथवा शंकर के रूप में देखती हैं। लड़की हो तो सीता, रुक्मिणी अथवा पार्वती के रूप में देखी जाती है। गृहस्थ जीवन का महत्वपूर्ण प्रथम चरण विवाह को ले कर, न जाने कितने भावभीने मधुर गीतों की सर्जना हुई है। इन विवाह-गीतों के अनेकानेक अवांतर भेद भी हैं। विवाह के विभिन्न अवसरों पर आधारित आचारों के अनुसार ये गीत रचे गये हैं। यही नहीं, विवाह की हरेक छोटी-मोटी प्रथा को ले कर अनेक गीत रचे गये हैं। महिलाओं के लिए आचार-संहिता का उपदेश देने वाले कई गीत हैं। सास, ननद आदि के द्वारा अत्याचारों का करना चाहिए, ननदों, अड़ोस-पड़ोस से किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, इन सब भी वर्णन कहीं-कहीं इन गीतों में मिलता है। निष्कर्ष यह है कि इन महिला-गीतों में हमें आंध्र के सामाजिक जीवन का अधिकांश चित्रण मिलता है।

श्रमिक गीत : कई साहित्यिक विद्वानों की मान्यता है कि कविता के माध्यम से न केवल मन को उल्लास की उपलब्धि होती है, अपितु श्रमापनोदन भी होता है। मनुष्य के स्वभाव में आदिम काल से ही यह गुण पाया जाता है कि वह काम करते समय अपने श्रम को विस्मरण करने के लिए, लयान्वित रूप में कुछ न कुछ गुनगुनाता रहता है। कुछ लोगों ने इस प्रकार की साहित्यिक सर्जना को श्रमिक-साहित्य कहा है। सामूहिक रूप में इसकी सर्जना होती है। कुछ लोगों ने इस साहित्य को कार्मिक-कर्षक साहित्य नाम से अभिहित किया है। इन श्रमिक गीतों की वस्तु विविध और अनंत होती है। श्रृंगार, भक्ति, वेदांत, स्थानीय घटनाओं का वर्णन, विषादपूर्ण वृत्त, सभी इन गीतों में पाये जाते हैं। श्रमिक-गीत आम तौर पर अपना श्रमानुकूल लय से शोभित होते हैं। श्रमिक गीतों की और एक विशेषता यह है कि उनमें 'लिबिडो' का अनुरणन होता है। इंद्रिय-सुखों के स्मरण से श्रमजीवी सुख का अनुभव करते हैं। अतएव इन गीतों में ऐंद्रिय भोगों का अतिवेलवर्णन हुआ करता है। जादूगर के गीतों में जिस प्रकार जनता को आकृष्ट करने के लिए, असभ्य श्रृंगार को प्रश्रय मिलता है, उसी प्रकार श्रमिक गीतों में भी, श्रमापनोदन के लिए, ग्राम्य श्रृंगार को प्रश्रय मिलता है। इस प्रकार के ग्राम्य श्रृंगारात्मक गीत कुछ 'घुमघुमापाटलु' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

बाल-गीत : लोकगीत-साहित्य में बाल-गीतों के लिए एक विशिष्ट स्थान है। ये दो प्रकार के हैं। १. बालकों के लिए बड़ों द्वारा रचित गीत और २. बालकों द्वारा ही लिखे जा कर एक पीढ़ी दर पीढ़ी ज़बानी पहुँचने वाले गीत। पुनः बड़ों द्वारा लिखे गये गीतों में दो भाग हैं। १. बच्चों को सुलाने के लिए अथवा चुमकारने-पुचकारने के लिए उपयुक्त गीत तथा २. बच्चों को ही इति-वृत्त बना कर अथवा किसी मनोहारी विषय को ग्रहण कर के उसके वर्णन द्वारा बच्चों को आह्लादित करने के हेतु लिखे गये गीत। लालि अथवा जोलपाटलु का आनंद बच्चे अनुभव नहीं कर सकते। उनमें निहित संगीत-तत्व से बच्चे सो जाते हैं या आश्वस्त होते हैं। यही उन गीतों का प्रयोजन है। दूसरे वर्ग के गीत बच्चों के कुछ बड़े होने तक काम में आते हैं और वे भी उनको कुछ समय तक गाने लगते हैं। तदनंतर वे स्वयं उस शैली में गीत गुनगुनाने लगते हैं। बड़ों के गीतों

से बच्चे क्रमशः नाद, लय तथा अभिनय सीखने लगते हैं। नाद से बच्चे आकृष्ट होते हैं। लय से उनका उत्साहवर्धन होता है तथा अभिनय से उनका शरीर पुष्ट होता है। चार-पाँच वर्षों की उमर तक पहुँचते-पहुँचते बच्चे अपने आप गुनगुनाने लगते हैं। बच्चों के निजी गीतों को भी हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। बड़ों के अनुकरण पर उन्हीं के गीतों में कुछ अपनी ओर से जोड़ना और एक नया गीत बनाना तथा अपनी प्रतिभा के आधार पर नये गीतों को लिखना। पहले वर्ग के गीत समय के साथ अर्थविहीन बन जाते हैं। इसीलिए इन गीतों को 'नान्सेंस राइम्स' कहते हैं। बड़ों के द्वारा बच्चों के लिए लिखित गीत 'नर्सरी राइम्स' कहे जाते हैं। चार साल की उमर से ही बच्चों का सारा जीवन क्रीडामय बन जाता है। इनमें भी लड़कों के खेल अलग और लड़कियों के खेल अलग हैं। और कुछ खेल ऐसे हैं, जिनको दोनों मिल कर खेला करते हैं। इन विभिन्न क्रीड़ाओं के आधार पर तदनुकूल अनेक क्रीडा-गीतों की रचना हुई।

शृंगार-गीत : लोकगीतात्मक साहित्य में कई गीत शृंगारप्रधान हैं। परंतु इनकी प्रापणीयता के विलोम अनुपात में इनका प्रकाशन हो पाया है। इन लोकगीतों के शृंगार के संबंध में चर्चा चलाना कि इनमें प्रतिपादित शृंगार स्वकीय है अथवा परकीय, उत्तम नायिकानिष्ठ है अथवा ग्रामीण नायिकानिष्ठ अनावश्यक ही नहीं अपितु कोई माने भी नहीं रखता। प्राकृत अथवा ग्राम्य शृंगार के प्रसंगों में अभिजात साहित्य के लक्षणों को ढूँढ़ना बुद्धिमत्ता नहीं है। कारण यह है कि जानपद कवियों के द्वारा वर्णित सीताराम के शृंगार भी प्राकृत गंध से परिमलित है। इस साहित्य की सर्वोपरि विशेषता यह है कि इसमें पात्रों के द्वारा भी प्राकृत जनों के ही मनोभाव व्यक्त होते हैं, उन-उन पात्रों के भाव कदापि नहीं। किसी भी गीत को लीजिए, उसमें आपको प्राकृत जनों के प्रेमकलाप, उनके सहज वार्तालाप, साधारण सामाजिक नियमों का उल्लंघन आदि ही दिखायी देते हैं। जीवन का यथातथात्मक नग्न रूप ही इनमें दर्शन देगा। लोकगीतों में न औचित्य-विचार है, न तदनुकूल पात्र-पोषण अथवा चरित्र-चित्रण है। इन धर्मों का अभाव ही लोकगीत-साहित्य की शोभा है। इस साहित्य में सभ्य शृंगार, ग्राम्य शृंगार, औचित्य, चरित्र-पोषण अथवा हनन, रसाभास अथवा रस का सम्यक नियोजन, सभी परस्पर विरुद्ध धर्म समांतर रूप में चला करते हैं। फिर भी कुछ लोकगीतों में धर्म पर आधारित सभ्य शृंगार का वर्णन हुआ है। इनमें 'सीता का क्रोध', 'सीता की पहचान', 'उर्मिला की निद्रा' आदि उल्लेखनीय हैं। ये गीत मनोहारी भावों से संवलित हैं। 'सुंदरकांड' नामक पद में वियोग शृंगार का सुंदर वर्णन हुआ है। महाभारत संबंधी लोकगीतात्मक कथाओं में, 'नलचरित्र', 'सुभद्राकल्याणमु', 'शशिरेखापरिणयमु', 'देवयानि-चरित्रमु' शृंगारप्रधान हैं। भागवत संबंधी अनेक लोकगीतात्मक कृतियाँ शृंगार रस से ओतप्रोत हैं। 'देसिंगुराजुकथा', 'बोब्बिलि कथा', 'सदाशिवरेड्डि कथा' आदि वीररसात्मक ऐतिहासिक लोकगीतों में भी उन-उन दंपतियों का प्रेम-वर्णन बहुत ही ऋजुतापूर्ण और मनोहारी लगता है। 'लक्ष्मम्मा', 'संन्यासम्मा', 'भंडपेट पापम्मा', 'नल्लतंगाल', 'एरुकल नांचारि', 'वीरराजम्मा', इन महिलाप्रधान ऐतिहासिक लोकगीतों में धर्मावलंबी प्रेम का सुंदर वर्णन मिलता है। 'गंगा-विवाह' में शिव जी दक्षिण नायक के रूप में अभिवर्णित हुए हैं। 'सुराभांडेश्वर'

में परकीय श्रृंगार का आयोजन है। 'वरदराजु विवाह', 'आंडाल चरित्रमु', 'वेंकटेश्वर का शिकार', 'चेंचेतकथा' आदि लोकगीतों में श्रृंगार अंगी है। श्रृंगारप्रधान छोटे-छोटे लोकगीतों में, 'चलमोहन रंगा', 'वेंकटय्या चंद्रम्मा पाट', 'नारायणम्मा पाट', 'सिरिसिरि मुव्व', 'रंगम् पद' आदि उल्लेखनीय हैं और वे प्रकाशित भी हुए हैं। तेलंगाना में, कामपूर्णिमा के अवसर पर गाये जाने वाले सभी लोकगीत श्रृंगार कला खंड ही हैं।

अद्भुत कथाएँ : प्राकृत जनों में अद्भुत रसाभिनिवेश अधिक होता है। साधारण विषयों में भी असाधारणता का समावेश उनको अभीष्ट होता है। विनोद के साथ, भक्ति अथवा भय भी इन अतिमानवीय कल्पनाओं से आदमी के मन में घर कर लेते हैं। दुष्कर प्रसंगों में किसी अद्भुत करिश्मे द्वारा समस्या का समाधान निकाला जाता है। समस्या का समाधान करने वाले उपकरण साधारणतया कोई मंत्रदंड, देवी-देवताओं के वरदान, बीजाक्षर, महिमापूर्ण खँड़ाऊ आदि होते हैं। किसी असाधारण शक्ति के द्वारा, जीवन की कठिन समस्याओं के समाधान की आकांक्षा रखना मानव-मनोविज्ञान का नैसर्गिक गुण है। इसी मनोविज्ञान के आधार पर ग्रामीण कवियों ने इन लोकगीतों में अतिमानवीय कल्पनाएँ की हैं। अद्भुत लोकगीतात्मक कथाओं में सबसे अधिक प्रचलित कथा 'बालनागम्मा' की है। इस कथा का कार्यस्थल महबूब नगर ज़िले का पानुगल्लु ग्राम है। यह स्थानीय रामायण कथा जैसी है। अविश्वसनीय अद्भुत और आश्चर्यकारी घटनाओं से यह कथा भरी हुई है। 'कम्मवारि पणति' नामक लोकगीतात्मक कथा भी अपनी अद्भुतता के लिए प्रसिद्ध है। 'पसल बालराजु' कथा में वर्णांतर विवाह का वर्णन मिलता है। गांधारी कथा भी अपने आश्चर्यकारी रोमांच के लिए प्रसिद्ध है। इस वर्ग के अन्य गीतात्मक कथानकों में धर्मांगद पामुपाट, कांभोजे राजु कथा, बालराजु कथा जैसी कथाएँ, प्राकृत जनों में सत्य और धर्म की महत्ता और उपादेयता का उपदेश दे कर उनकी जीवनियों को समुज्वल बनाने वाले हैं।

करुणरसात्मक गीत-साहित्य : प्राकृत जन श्रृंगार के अनंतर अद्भुत और करुण को ही अधिक प्राधान्य देते हैं। मानव के नित्य जीवन में दुख की मात्रा ही अधिक है। अतः जानपद कवियों ने दुख का प्रभावांकन अपने गीतों में सहज रूप से किया है। यहाँ भी इन कवियों में अभिजात साहित्य-प्राप्त आदर्शवादिता अथवा औचित्य की भावना नगण्य है। अपने वीरों के वीर कृत्यों पर उत्साहित हो जाना तथा उनके दुर्मरणों पर आँसू बहाना इन कवियों का काम रहा। उत्साह और करुण, इन दो भावों से वे सहज ही उद्विग्न हो जाते हैं। आंध्र के लोकगीत-साहित्य में करुणाप्रधान एवं चित्त को द्रवीभूत करने वाले अनेकानेक गीतात्मक कथानक मिलते हैं। सास की निर्ममता के कारण अथवा पतिदेव के अत्याचारों के कारण ननदों अथवा जेठानी या देवरानी की निष्ठुरता के कारण पिस जाने वाली औरत की कथाएँ आंध्र लोकगीतात्मक साहित्य-समुद्र में उठने वाली अश्रुवीचियाँ हैं। वास्तविक घटनाओं को कल्पना से अतिरंजित करना लोक-साहित्य के कवियों के लिए बायें हाथ का खेल है। स्थानीय करुणात्मक इतिवृत्तों में 'कन्यकांब कथा' का एक विशिष्ट स्थान है। यह कथानक अति प्राचीन है। कामंभकथा का प्रचार 'पिच्चुक कुंट्लु' नामक घुमक्कड़ जाति में बहुत

है। यथार्थवादी दृष्टिकोण से घटना का वास्तविक चित्रण लक्षम्मा कथा में हम पाते हैं। लक्षम्मा की सहन-शक्ति, त्याग-निरति, तेलुगु जाति के लिए गर्व करने योग्य वस्तुएँ हैं। संन्यासम्म कथा में अविभक्त परिवार में कनिष्ठों से अनुभूत कष्टों का वर्णन है। करुणरसात्मक लोकगीतों में सती नारियों के कथानकों का अपना अलग महत्व माना जाता है। 'कामम्मा कथा', 'पापम्मा कथा', 'शृंवरपु', 'कोट एरुकम्म कथा', 'संन्यासम्म कथा', 'तिरुपतम्मा कथा' जैसी सतियों की कथाएँ प्रकाशित हुई हैं। सती-प्रथा के निषेधानंतर इन स्त्रियों के द्वारा अतीव प्रयत्न कर के सहगमन किया जाना निस्संदेह रोमांचकारी घटनाएँ हैं। यह इन नारियों की विशेषता है। प्राकृत जनों का विश्वास है कि ये पतिव्रता स्त्रियाँ, अवश्य जनों की कामनाओं की पूर्ति करती हैं। नल्लतंगाल की कथा तमिलनाडु से संबद्ध है। 'वीरराजम्मा कथा' 'पलनाटि सीमा' की है। 'तेलंगाना में 'एरुकल नाचारि कथा', 'रामुलम्मा कथा', 'सरोजिनी कथा', 'मूसि पोंगु कथा' आदि करुणात्मक लोकगीत-कथानक बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

हास्य-गीत : सुख-दुःखों की अनुभूति की मात्रा अमीरों और गरीबों, दोनों के लिए बराबर है। सुख का बाह्य लक्षण हँसी है, तो दुख का रोदन है। ये भी दोनों के लिए समान हैं। एवंविध सुखसूचक हँसी का प्रदर्शन लोकगीत-साहित्य में कहीं-कहीं किया गया है। शांतगोविंद नामों में ऋष्यशृंग, अडवि गोविंद नामों में कुंभकर्ण, सूक्ष्मरामायण में, शूर्पणखा जैसे पात्र हास्य के अच्छे आलंबन हैं। 'सीतगडिय' नामक गीत में हास्य तथा शृंगार का सुखद समावेश हुआ है। सीता की हास्योक्तियाँ 'व्याहार' के उदाहरण माने जा सकते हैं।

लोकगीत और पिंगल : प्राङन्नय्य युग से ले कर आज तक सुनायी देने वाले हमारे देशी छंदोविधान सब पदपूर्ण हैं। इस देशी रचना में मात्राबद्ध वृत्तों का ही प्रयोग होता है। यह संगीतानुकूल लय से शोभित होती है। इनमें कुछ तमिल, कन्नड तथा तेलुगु में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिए तमिल के 'ओरूउ मोवे', 'कूरंभोवे, 'तोडे' आदि वृत्तों से तथा कन्नड़ के 'भामिनी षट्पदि' 'भोगषट्पदि', 'वार्धिक षट्पदि', 'ललिता', 'मंदानिल, 'छंदो-वतंस' से सदृशता रखने वाले गीत आंध्र के लोकगीतों में हैं। अभिजात साहित्य के पिंगल-विधान के आधार पर लोकगीतों का अध्ययन पूरा नहीं हो पाता। वास्तव में यह समझना उचित होगा कि लोकगीतों में उपलब्ध कतिपय रचना-शैलियों को अपना कर तथा उनको परिष्कृत कर के तथा सँवार के अभिजात साहित्य के कवियों ने देशी वृत्तों का आविष्कार किया है। इन्हीं परिष्कृत छंदों और वृत्तों का ही उल्लेख विन्नकोट पेद्दन्ना से ले कर अप्पकवि तक के लाक्षणिकों ने अपनी पिंगल संबंधी कृतियों में किया है। संगीत का भी विभाजन पूर्वलाक्षणिकों ने (भरत, मतंग, शारड, गदेव जैसे) किया है और उन्होंने देशी विभाजन के अंतर्गत कई प्रयोगों का जिक्र किया था। जाने तेलुगु लोकगीतों में प्रचलित 'एलपद' उन लाक्षणिकों को कितना रुचिकर प्रतीत हुआ है। उन सबने इसका प्रसंग खूब चलाया था। लगता है कि हमारे 'जाजरगीत' ही संस्कृत में 'चर्चरी' गीत बने। अतः देशी छंदों के स्रोतरूप लोकगीतों को न अभिजात साहित्य के छंदो-विधान के आधार पर आँकना उचित है, न अन्य सीमित मानदंडों के आधार पर। तत्व की बात यह है कि प्राकृत जनों के द्वारा इतनी विविधता के साथ लोकगीतों का आविर्भाव नहीं हो सकता।

कितने ही गीत उन्होंने क्यों न गाया हो, कितने ही मनोभावों को उन्होंने क्यों न आविष्कृत किया हो, फिर भी यही मानना पड़ता है कि कुछ ही परिमित लय-तालबद्ध रागों में इनकी रचना हुई होगी।

हमारा लोकगीत-साहित्य अब तक बहुत कुछ लुप्त हो गया है। अतः हमारा पवित्र कर्तव्य यह है कि जो अवशिष्ट है, कम से कम उसकी रक्षा हम करें। आजकल लोकगीतात्मक शैली का प्रयोग राजनीति-क्षेत्र के कार्यकर्ता कर रहे हैं। उनका यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। स्वतंत्रता के आंदोलन में तथा समाज-सुधार के आंदोलनों में अनेकानेक लोकगीत आविष्कृत हुए हैं। सामयिक प्रयोजन से लिखे गये इन गीतों का प्रभाव जनता पर पड़ा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज लोकगीत और लोक-साहित्य आदर के साथ देखा जा रहा है। एक समय था, जब यह साहित्य के अंतर्गत गिना ही नहीं जाता था। अब लोक-साहित्य इस घृणित अवस्था से उबर गया है। समाज-विज्ञान के विद्वान इस साहित्य का उपयोग कर रहे हैं। पंडित और समालोचक इस साहित्य में से अनेकांश अपने कथन की पुष्टि में दे रहे हैं। सिद्धहस्त कवि इस साहित्य में प्राप्त इतिवृत्त के आधार पर नये काव्यों का निर्माण कर सकते है। सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन के लिए लोक-साहित्य अनुपम सहायता पहुँचा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के प्रचार के लिए लोकगीत-शैली का प्रयोग लाभ के साथ किया जा सकता है। यह जनता को प्रबुद्ध करने वाला बहुत ही प्रबल उपकरण है। पश्चिमी विद्वान और उत्तर भारत के विद्वान तथा गवेषक लोक-साहित्य के अध्ययन, संकलन, संपादन आदि दिशाओं में बहुत दूर अभियान कर चुके हैं। यदि तेलुगु का विद्वत्समाज इस दिशा में इतोधिक ध्यान देता तो आंध्र जनता, आंध्र भाषा तथा आंध्र संस्कृति आदि के लिए एक वरदान प्रमाणित होगा।

(संग्रह 'आंध्र विश्वकोश' से)

—अनु० : हनुमच्छास्त्री अयाचित,
हिंदी विभाग,
अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

मोदलि नागभूषण शर्मा

आंध्र प्रदेश की लोक-नाट्य-परंपरा

वीथि-नाटक, जन-नाटक, जानपद नाटक और लोक-धर्म-नाटक आदि विविध नामों से विविध प्रांतों में प्रचलित लोक-नाट्य-रूपक तथाकथित नागरिकों के शास्त्रीय नाटकों से भिन्न होते हैं। ये लोक-मानस के लिए सुलभ-साध्य हो कर उसे रंजित करने के लिए प्रयुक्त प्रमुख नाट्य-नाटक प्रक्रियाओं के रूप में विकसित हुए हैं।

यह कहना कठिन है कि इन लोक-नाट्य-रूपकों की उत्पत्ति कैसे हुई। लेकिन इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं कि ये ईस्वी सन के पूर्व से भारतवर्ष में अविच्छिन्न रूप से प्रचार में थे।

अनुकरण मानव की एक सहज प्रवृत्ति है। मानव ने जब भाषा में तथा वेश-भूषा में अनुकरण करना प्रारम्भ किया था, तभी से प्रथमतः नाट्य-नाटक-प्रक्रिया का श्रीगणेश हुआ है। धार्मिक तिथि-त्योहारों पर मानव ने आनंदातिरेक से जो क्रियाएँ की थीं, इसी को हम प्रथम नृत्य-विन्यास कह सकते हैं। इसमें क्रमशः संगीत एवं संवाद का समावेश हुआ तो उसने लोक-नाट्य तथा लोक-नाटक का रूप धारण कर लिया।

इसके प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि स्वयं पात्रविशेष का वेष धारण कर अभिनय करने से पहले मानव ने पुत्तलिकाओं के द्वारा और उनके खेलों के द्वारा अभिनय का प्रदर्शन कराया था। इन पुत्तलिकाओं के नृत्य तथा खेलों के विकसित रूप ही वर्तमान लोक-नाट्य-रूपक हैं। इस विकास-क्रम के अध्ययन से हमें यह भी स्पष्ट विदित हो जाता है कि ये लोक-नाट्य-रूपक आरंभिक दशा में हरिकथा और भागवत-कथा आदि कथा-कथनों के रूप में प्रचार में थे। लोक-नाट्य-रूपकों के विकास-क्रम की तीन अवस्थाओं में कथा-कथन अथवा कथा-गायन एक पात्र के द्वारा होता था। इस कोटि में हरिकथा आदि आती है।

इस विकास-क्रम की दूसरी अवस्था में इन नाट्य-रूपकों में दो अथवा तीन पात्र भाग लेते रहे। इस अवस्था से संबंधित लोक-नाट्य-रूपकों में जंगम कथा, जमुकुल कथा और पगटि वेषाल प्रमुख हैं। गोल्लकलापम को भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है।

तीसरी अवस्था में आ कर प्रथम तथा द्वितीय अवस्था के विभिन्न कला-रूपक सम्मिलित किये गये। इस समय के नाट्य-रूपकों ने क्रमशः विकास पाते हुए समूह-नाट्य तथा लोक-नाटकों का रूप धारण कर लिया है। ये प्रांतविशेष की विशेषताओं को ग्रहण कर, उन-उन

प्रांतीय विशिष्ट नाट्य-रूपकों में विकसित हो कर आज भी ग्रामीण जनता के मनोरंजन के साधन हैं।

आज भी आंध्र प्रदेश में विद्यमान विविध लोक-नाट्य-रूपकों में पुत्तलिका-नृत्य, हरिकथाएँ, जंगम-कथाएँ, यज्ञ-गान, वीथि-नाटक और पगटि वेषाल उल्लेखनीय हैं।

यहाँ यह स्मरणीय रखना आवश्यक होगा कि भारतीय लोक-नाट्य-रूपकों के अनेक पाश्चात्य और उत्तर भारतीय अध्येताओं ने कूचिपूडि नृत्य-नाटकों को भी लोक-नाटकों में गिनाया है। लेकिन यह ठीक नहीं है। वास्तव में कूचिपूडि नृत्य-नाट्य-संप्रदाय शास्त्रीय संप्रदाय है और यह भरत नाट्य-परंपरा से संबंधित है। संस्कृत नाटकों की भाँति इसे भी राज-दरबारों में समादर-स्थान प्राप्त था। रजवाड़ों के पतन के साथ-साथ अन्य ललित कलाओं की भाँति इसको भी राजाश्रय से वंचित रहना पड़ा और इस कारण कूचिपूडि के कलाकारों को गाँव-गाँव में घूम कर अपनी कला का प्रदर्शन करना पड़ा। कूचिपूडि के नृत्य-नाट्य भागवत-कथा से संबंधित होने के कारण ग्रामीण जनता में अधिक प्रचार में आने लगे। ग्रामीण जनता में अधिक प्रचरित होने मात्र से इनको लोक-नाट्य कहना अशास्त्रीय ही होगा।

कूचिपूडि कलाकारों के द्वारा गाँवों में प्रदर्शित भामा-कलाप, गोल्ल-कलाप, तथा परवर्ती काल में उनके द्वारा अपनाया गया तथा प्रदर्शित यक्ष-गान ग्रामीण जनता के लिए सुलभ साध्य हो कर उनके आदर के पात्र बन गये हैं। इस आदर के फलस्वरूप भले ही हम इन्हें जनादृत नृत्य-नाटक कहें, लेकिन लोक-नृत्य-नाटक नहीं कह सकते।

पुत्तलिका-नृत्य

पुत्तलिका-नृत्य दो प्रकार का होता है। एक कठपुतलियों का और दूसरा धर्म-पुत्तलिकाओं का। इनमें धर्म-पुत्तलिका नृत्य ही आंध्र प्रदेश में अधिक प्रचार में है। इन पुत्तलिकाओं को नचा कर इनका खेल दिखलाने वालों की मातृभाषा 'अरे' कहलाती है। यह महाराष्ट्रीय अपभ्रंश बोली है। इनको बोंदिवीलु तथा बोंदिवी क्षत्रिय भी कहते हैं।

जिस प्रकार कूचिपूडि कलाकारों में अपने नाट्य-संप्रदाय को अपनी जाति के सभी लोगों को सिखाने की परंपरा है, इसी प्रकार ये लोग भी अपनी संतान को यह कला सिखाते हैं। इनके प्रदर्शनों की अधिकांश कथाएँ रामायण से संबंधित होती है। रंगनाथ रामायण के अनुकरण पर गाये जाने वाले गीतों की घटनाओं के अनुसार पुत्तलिकाओं का नचाना इस कला की प्रथम और कुशल कसौटी है।

ये पुत्तलिकाएँ हिरण तथा बकरे के चमड़े से बनायी जाती हैं। देव-पात्रों से संबंधित पुत्तलिकाओं को हिरण के चमड़े से तथा शेष पात्रों को बकरे के चमड़े से बनाने का आचार है।

एक सफेद पर्दे को कस कर बाँध कर, उसके आगे दिया जला कर इस प्रकार व्यवस्थित रूप से रखते हैं, जिससे पुत्तलिकाओं की छाया पर्दे पर पड़ सके। पुत्तलिकाओं के अंग-प्रत्यंग में डोरों को इस प्रकार बाँध कर उन्हें पर्दे के पीछे हाथों में पकड़ लेते हैं, जिससे उन्हें अपनी इच्छा

के मुताबिक़ बचाया जा सके। इन डोरों को हिलाने में ही खेल को आकर्षित बनाना निर्भर है। डोरों को हिलाने में काफ़ी निपुणता की आवश्यकता होती है।

पुत्तलिकाओं का नाच सूत्रधार के कथा-कथन के अनुरूप चलता है। सूत्रधार ही गीत आदि गाता है। वही रावण और राम आदि सभी पात्रों के आवश्यक अभिनयात्मक संभाषण का अनुकरण करता है। स्त्री-पात्रों के संभाषण गीत आदि के लिए स्त्रियाँ ही काम करती हैं।

खेल के प्रारंभ होने से पहले गणपति की प्रार्थना होती है। इसके बाद गणपति और सरस्वती पर्दे पर आ कर दर्शकों को आशीर्वाद देते हैं। इसके उपरांत बंगारक्का और केतिगाडु आते हैं। ये और जुट्टुपोल गाडु, अल्लाटप्पगाडु और गंदोडिगाडु हास्यप्रधान पात्र होते हैं। हम यह कह सकते हैं कि वास्तव में दर्शक इन पात्रों के हास्य और हाव-भाव की चेष्टाओं और संवाद को देखने-सुनने के लिए ही इन प्रदर्शिनियों में आते हैं।

एक ही पात्र से संबंधित विविध आकारों की अर्थात विविध परिमाणों की पुतलिकाओं का बार-बार निर्माण करना वास्तव में व्ययसाध्य होता है। अतः एक बार बनायी गयी इन सभी परिमाणों की पुत्तलिकाओं को दीर्घ काल तक ये लोग रखते हैं।

हरिकथा

'हरिकथा' नाम से ही हमें ज्ञात होता है कि यह भगवान के गुण-गान करने वाली कथा है। यह केवल एक व्यक्ति पर आधारित रहती है। इसे दृश्य-विनोद कह सकते हैं। वास्तव में यह नाट्य-रूपक विशेष न होते पर भी लोक जनता में इसका जो प्रचार है, उसकी दृष्टि से यह एक विशिष्ट कलाकृति मानी जाती है। इस कथा के गायक को हरिदास कहते हैं। कहीं-कहीं भागवतावतार भी। भगवान की कथा को ये गद्य-पद्यात्मक रूप से गान करते हैं। पाँवों में पायल धारण कर हाथों में करताल लिये, विशिष्ट नृत्य-गानों से नवरसों का पोषण कर भगवान की गाथा का गायन करना इनकी बपौती होती है। आजकल हरिकथाओं में सहायक वाद्य-यंत्रों के रूप में मृदंग, वायलिन आदि का प्रयोग किया जा रहा है। लेकिन पहले तँबूरा और करताल के आधार पर ही हरिकथा का कार्यक्रम चलता था।

हरि कथा-गायन में अप्रतिम प्रवीणता प्राप्त कर, आंध्र प्रदेश के चारों कोनों में दिग्विजय-यात्रा कर हरिकथा-पितामह विरुदांकित श्री आदिभट्ल नारायण दास ने इस कला में अन्यतम ख्याति प्राप्त की और हरिकथाओं में जान फूँक दी। आज भी हरिकथाएँ आंध्र प्रदेश के गाँवों में अधिक प्रचार में हैं।

जंगम-कथा और जमुकुल-कथा

जंगम-कथा को बुर्र कथा भी कहते हैं। कथा-गायकों की जाति (जंगम) के नाम के आधार पर पहला नाम और उनके द्वारा इस कथा-गायन में प्रयुक्त विशेष वाद्य-यंत्र के नाम के आधार पर दूसरा नाम प्रचार में आया होगा।

इस कला के गायन में तीन व्यक्ति होते हैं। एक मुख्य कथा-गायक और शेष दोनों उसके अनुगायक और व्याख्याता भी। मुख्य कथा-गायक जमुकु अथवा बुर्र (विशेष प्रकार का तँबूरा) को दायें हाथ से बजाते हुए बायें हाथ से करतालों को बजाते हुए लय के साथ गाता है। अनुगायक बुडिगों को बजाते अनुगायन और व्याख्या करते हैं। बडिगा सुराहीनुमा एक तरफ़ चमड़े से आच्छादित दूसरी तरफ़ (गले की तरफ़) अनाच्छादित वाद्य-यंत्र होता है।

ये कथाएँ सम्प्रति आंध्र प्रदेश में विविध राजकीय पार्टियों के प्रचार के साधन बन गये हैं। वैसे इनकी कथाओं में पुराण-गाथाएँ, वीर-गाथाएँ और सुहगिनी अथवा पतिव्रताओं की कथाएँ अधिक रहती हैं। जंगम-कथाएँ प्रायः रगड नामक देशी छंद में रहती हैं। कथा-गायकों की वेश-भूषाएँ, उनकी नृत्य-भंगिमाएँ और बुडिगों की लयात्मक ध्वनि आदि इन कथाओं की आकर्षक विशेषता है। वास्तव में कहा जाय तो कथा-गायन और कथा की घटनाओं के अनुसार कथा-गायकों का हाव-भाव, नृत्य-नाट्य-विन्यास आदि इन कथाओं को अत्यंत आकर्षक बनाते हैं।

इनके अतिरिक्त इसी प्रकार करुण तथा वीर रस से संबंधित गाथाओं का गान करते हुए अपने उदर-पोषणार्थ गाँव-गाँव घूमने वाले गायक जैसे बवनीलु, पिच्चुकुंटलवारु और शारद-कांड्रु आदि को भी इन गायकों की परंपरा में गिनाया जा सकता है।

पगटि वेषालु

जनता-जनार्दन के मनोरंजन के लिए जो नृत्य-नाटक आदि कला-रूपों का प्रदर्शन होता है, वह प्रायः रात के समय होता है। लेकिन आंध्र प्रदेश में कुछ ऐसे भी नृत्य-नाट्य-रूपक हैं, जो दिन में प्रदर्शित किये जाते हैं। इस कारण ये पगटि (दिन को) वेषालु कहलाने लगे हैं। इनमें अन्य रूपकों के समान कथा तथा पात्रों के बीच सह-संबंध की आवश्यकता नहीं होती। प्रतिदिन एक अलग-अलग वेश धारण कर सारे गाँव में घूमना लोगों को आकृष्ट करना इन वेषधारियों की विशेषता होती है। इन वेषों में प्रमुख हैं—पठान, मराठी दंडु (मराठी सेना) आदि। एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि साहित्य-जगत में महाकाव्य के सामने खंडकाव्य का जो स्थान है, नाट्य-जगत में नाटक के सामने इनको एकांकी के अनुरूप समान स्थान प्राप्त है।

इन वेषधारियों का प्रदर्शन-कौशल अद्भुत होता है। दो या तीन व्यक्तियों का एक दल बना कर ये लोग गाँव में आ कर अपने कला-रूपों का प्रदर्शन करना प्रारंभ करते हैं। बैरागी (विरागी) के वेष से प्रारंभ कर पंद्रह-बीस दिनों तक प्रतिदिन अलग-अलग वेष धारण कर सारे गाँव में घूमते हैं और अंतिम दिन शारदा का अथवा अर्ध-नारीश्वर का वेष धारण कर घर-घर में जा कर गायन करते हैं।

कहते हैं कि ये ६४ प्रकार के वेष धारण कर सकते हैं। इनमें बुड बडक्कलवाडु (डमरू बजाने वाला), सोमयाजी (यज्ञ करने वाला), सोमिदेवी (सोमयाजी की पत्नी), जंगम देवरा, कोमटी (बनिया), और लिंग बलिजलु (लिंगायत धर्म को मानने वाली जातिविशेष), आदि हास्यरसपूर्ण हैं। ये लोग इन वेषों के द्वारा समाज में फैली कुरीतियों का व्यंग्यात्मक रूप से

बड़ा फोड़ करते हैं। पठान, मराठी दंडु, पंतुलु आदि भयात्मक वेष हैं तो अर्धनारीश्वर, शारदा आदि भगवतात्मक वेष हैं।

पात्र के अनुरूप वेष धारण करना तथा वेषानुरूप व्यवहार करना और व्यवहार के अनुरूप सुर में बात कर ग्रामवासियों को संतुष्ट करना इनकी कला की निपुणता होती है। इसमें विविध प्रांतों तथा विविध स्तर की जनता से इनके निरंतर संबंध का तथा इनकी सूक्ष्म निरीक्षण एवं अनुकरण-शक्ति का बोध होता है।

दिन में वेष धारण कर दर्शकों को संतुष्ट करना कठिन काम है, लेकिन इस कठिन काम को भी अनायास संपन्न कर सफलता के साथ ये लोग इनका निर्वाह करते हैं। कहते हैं कि यह कलाविशेष कूचपूडि में प्रारंभ हुई थी और बाद को गोदावरी जिले के काकरपर्रु में जा कर इसने पूर्ण विकास प्राप्त किया।

कूचिपूडि में 'हरिवारु' और वेदांतम्वारु ने इस कला में अधिक नाम कमाया है। कूचि-पूडि भागवतों के अतिरिक्त इस कला को गड्डिपाडु भागवत और भिष्टिपाडु जगम लोगों ने भी अनुपम ख्याति प्राप्त की है।

वीथि-नाटक

संस्कृत के दश रूपकों में 'वीथि' और 'नाटक' नामक दो अलग-अलग रूपकों का उल्लेख हुआ है। इनके साथ आंध्र प्रदेश के वीथि-नाटकों का कोई संबंध नहीं है। वीथियों (गलियों) में, प्रायः चौराहों पर इनका प्रदर्शन होता है, इस कारण इनको यह नाम दिया गया है। रायल सीमा तथा मैसूर के कुछ प्रांतों में प्रदर्शित किये जाने वाले 'बयलाटलु' तथा तमिलनाडु के 'तेरु-क्कूत्तुल)' भी इसी कोटि में आते हैं।

पालकुरिकि सोमनाथ कवि (बारहवीं सदी) की रचनाओं तथा शिलालेखों से इसका प्रमाण मिलता है कि वीथि-नाटक ई० सन १२वीं सदी में ही आंध्र प्रदेश में प्रचार में थे। सोमनाथ ने अपने समय के इन नाटकों का लक्षण इस प्रकार बताया है: 'सांग भाषांग क्रियांगंबुलु' अर्थात ये शास्त्रसम्मत रीति से प्रदर्शित किये जाने वाले बहु नाटक थे। यहां 'बहु' शब्द वर्तमानकालीन अर्थ में प्रयुक्त न हो कर महान और श्रेष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि इन नाटकों ने राजाश्रय प्राप्त किया है। १२वीं सदी से प्रचलित 'सिरियालु चरित' आदि इन नाटकों की श्रेणी में आते हैं।

इन नाटकों के साथ गीत आदि के संयोग से क्रमशः यक्ष-गानों का उदय हो गया। राज-दरबारों में प्रदर्शित हो कर और राजाओं के द्वारा रचे जाने पर भी यक्ष-गानों को भी 'वीथि-नाटक' का नाम स्थायी रह गया। सभी वीथि-नाटक भागवत-कथा से संबंधित होते हैं। इन नटकों के प्रदर्शन-दलों को 'मेळम्' की संज्ञा दी गयी है। लेपाक्षी वालों का 'मेळम्' धर्मपुरी वालों का मेळम, वेमुलपल्ली वालों का मेळम् और ताडिपत्रि वालों का मेळम् आदि इनमें प्रमुख हैं।

उपर्युक्त दलों से कला-प्रदर्शन संबंधी निगूढ़ रहस्यों को ग्रहण कर पिल्लुकुंटल, गोल्ल

भागवतुलु तथा मानादि भागवतुलु भी इनके प्रदर्शन करने लगे। इस प्रकार वीथि-नाटक प्रदर्शन की दृष्टि से भी जनसाधारणसुलभ हो गया।

यक्ष-गान

सर्वप्रथम 'यक्ष-गान' शब्द का प्रयोग श्रीनाथ महाकवि ने (ई० सन १४३० के लगभग) किया है। लेकिन ई० सन, बारहवीं सदी के पालकुरिकि सोमनाथ कवि ने भी अपनी रचनाओं में एक जगह 'गंधर्व यक्ष वियादराडु लै पाडेडुवारु' अर्थात 'गंधर्व और यक्ष विद्या के साथ गाने वाले' का प्रयोग किया है। इस कारण हम कह सकते हैं कि उस समय (१२वीं सदी) भी यक्ष-गान-प्रक्रिया प्रचार में थी।

यक्ष-गान शब्द की उत्पत्ति के संबंध में एक मत नहीं है। इसका शाब्दिक अर्थ यक्षों का गान है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 'जुक्कुलु' शब्द का यह संस्कृतीकरण है। 'तेलुगु और कन्नड़ प्रदेशों में यक्षों की आराधना का आचार है। यक्षों की आराधना करने वाली इस लोक-जनता को 'जक्कुलवारु' की संज्ञा दी गयी होगी। यह विचार डॉ० पी० एस० अप्पाराव ने प्रकट किया है। यक्षों की जो कि आराध्य माने गये हैं, वेष-भूषा धारण कर, उन वेष-भूषाओं के गीत गाते हुए नृत्य करने से इनको 'यक्षुलवारु' और 'जक्कुलवारु' का नाम पड़ गया होगा, कहने में अधिक औचित्य ज्ञात होता है। यह कहने में अनौचित्य नहीं है, जिस प्रकार जंगमों की कथा का गायन करने वाले जंगमवारु, जमुकुलु वाद्य-यंत्र की सहायता से कथा-गायन करने वाले जमुकुलवारु, भगवान की कथा गाने वाले भागवतुलु कहलाने लगे, उसी प्रकार ये यक्षुलवारु कहलाने लगे और यही शब्द बाद को जक्कुलवारु बन गया होगा।

यक्ष-गानों के विकास में तीन दशाएँ दिखायी पड़ती हैं। (१) केवल गेय रूप की दशा, (२) गेय रूप के साथ संवादों का समावेश और (३) वीथि-नाटकों की भाँति नृत्यों का समावेश और उनसे अभेदता स्थापित करना।

प्रथम दशा में यक्ष-गान देशी छंदों में गाये जाते रहे और कहीं-कहीं कथात्मक गायन के रूप में भी।

दूसरी दशा में संवाद का सम्मिश्रण हुआ है। लेकिन यह संवाद भी पद्यों में अथवा द्विपदों में (देशी छंदों) होता था।

तीसरी दशा में यक्ष-गानों ने अपने में गेय-संवाद-नृत्य रूपों को समाविष्ट कर १७वीं सदी तक वीथि-नाटकों के साथ अभिन्नता का रूप धारण कर लिया था।

डॉ० एस० वी० जोगाराव ने ठीक ही कहा है कि ये यक्ष-गान दृश्य-श्रव्य-विनोद उपकरण के रूप में तेलुगु जनता के लिए चाहे वे व्यष्टि रूप हों अथवा समष्टि रूप में हों, काम आये हैं। उनके स्वर में स्वर मिला कर हम भी कह सकते हैं कि हरि-कथाओं के समान व्याख्यात्मक शैली में, घर-घर में स्त्रियों द्वारा चर्चित हो कर, पुत्तलिका-नृत्यकारों के द्वारा नेपथ्य-गीतों के रूप में प्रयुक्त होकर, वीथि-भागवतों के द्वारा नृत्य-नाटकों के रूप में प्रदर्शित हो कर बहु रीतियों में विकास पाते हुए बहुजन-प्रयोजनकारी सिद्ध हुए हैं।

चेन्न शौरि रचित 'सौभरि-चरितम्' प्रथम यक्ष-गान माना जाता है। किंतु अभी यह उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध यक्ष-गानों में कंदुकूरु रुद्रकवि-रचित सुग्रीव-विजयम ही प्राचीन यक्ष-गान है। इसमें विविध रगडों (एक देशी छंद) के अतिरिक्त द्विपद, अर्ध चंद्रिकाएँ, एललु आदि अनेक देशी छंदों के साथ-साथ संधि और वचनों का भी प्रयोग किया गया है।

कंकंटि पापिराजु जैसे यशस्वी कवियों द्वारा क्रमशः यक्ष-गानों में नयी-नयी पद्धतियाँ प्रवेशित की गयीं। दरुकु, द्विपद, गद्य और पद्य को यक्ष-गानों के प्रधान अंग कह सकते हैं।

भरत विद्या-प्रवीण कूचिपूडि कलाकारों के द्वारा ग्रहण किये जाने के उपरांत यक्ष-गानों में नूतन प्राण आ गया और इनका विपुल मात्रा में प्रचार होने लगा।

यक्ष-गान प्रमुखतः प्रदर्शनात्मक लोकगीत-नाट्य होने पर भी, उनकी श्रव्यात्मकता का उपयोग भी अलग रूप से बहुत समय तक चलता रहा। आदिभट्ल नारायण दास सरीखे हरिदासों ने यक्ष-गानों का उपयोग अपनी हरिकथाओं में भी किया है।

अधिकतर यक्ष-गानों की कथा-वस्तु पौराणिक होती है। हाँ, बसवेश्वर, विप्रनारायण आदि प्रसिद्ध मनीषियों से संबद्ध इतिवृत्त भी बाद में यक्ष-गानों के लिए ग्रहण किया गया था। परवर्ती यक्ष-गानों पर प्रबंध-काव्यों का भी प्रभाव पड़ा है। इस कारण हमको उनमें आश्वासांत कविताएँ मिलती हैं।

यक्ष-गानों का प्रदर्शन प्रायः गाँव के चौराहों में ताड़ के पत्तों से अलंकृत पंडालों में निर्मित रंगमंचों पर होता है। रंगमंच पर सफ़ेद कपड़े को पर्दे के रूप में बाँध देते हैं। पर्दे के आगे सूत्रधार आ कर कथा की घटनाओं का वर्णन, पात्रों का परिचय कराता है। और साथ ही साथ पात्रों के अनुसार उनके स्वर में स्वर मिला कर गाता है। सूत्रधार चतुर वक्ता होने के साथ-साथ गान-विद्या का सम्यक वेत्ता भी होता है। यक्ष-गानों का प्रदर्शन रात को दस बजे से प्रारंभ हो कर पूरी रात चलता रहता है। कुछ यक्ष-गानों का प्रदर्शन लगातार तीन-चार रातों तक चलता रहता है।

वास्तव में कहा जाय तो दक्षिण आंध्र साम्राज्य की राजधानी तंजावूर (संप्रति मद्रास का एक ज़िला) में तेलुगु यक्ष-गानों को अधिक प्रश्रय मिला था। उस समय के राजाओं ने अपने दरबारों में इनके प्रदर्शनों का आयोजन किया और स्वयं कई यक्ष-गानों की रचना भी की थी। उस समय यक्ष-गान, यक्ष-गान-नाटक के नाम से अभिहित होने लगे।

तंजावूर के राजाओं के अतिरिक्त मदरै के नायक राजाओं ने भी यक्ष-गानों की श्रीवृद्धि में अधिक योग दिया है। रघुनाथ नायक और विजयराघव नामक राजाओं के समय यक्ष-गानों के प्रदर्शन तथा प्रणयन के लिए स्वर्ण-युग माना जाता है। तंजावूर के नायक राजाओं के परवर्ती महाराष्ट्र राजाओं ने भी यक्ष-गानों का आदर कर, उनके प्रदर्शनों का आयोजन किया और स्वयं कई यक्ष-गानों की रचना भी की। इनमें शाह जी महाराज (१६८४-१७१२) का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। कहते हैं कि इन्होंने ३० यक्ष-गानों की रचना की है।

तंजावूर राजाओं के समकालीन नारायण तीर्थ, त्यागराज, मेलत्तूरु वेंकट्राम शास्त्री आदि वाग्गेयकारों ने भी यक्ष-गानों की रचना कर उनकी श्रीवृद्धि की है।

तेलंगाना में भी यक्ष-गानों का अधिक प्रचार है। यहाँ इनके प्रदर्शन की अपेक्षा, पारायण (वाचन) अधिक होता है। शेषाचल कवि की धर्मपुरी रामायण का यहाँ अधिक प्रचार है।

कोरवंजी को भी हम यक्ष-गानों की श्रेणी में रख सकते हैं। इसमें कोरवंजी नामक एक अतिरिक्त पात्र को प्रवेश किया जाता है। मैसूर के कंठीरवराजु रचित आंध्र कोरवंजी जैसी कुछ प्रमुख रचनाएँ हमें प्राप्त हुई हैं। इसमें कोरवंजी पात्रों के हाथ देख कर जोतिष्मय बनायी जाती हैं। और यात्रा के विविध देशों का मनोरंजनकारी वर्णन प्रेमी-प्रेमिकाओं को सुनाती भी हैं। ये दोनों अंश इसमें प्रधान होते हैं।

इनके अतिरिक्त पाल्कुरिक सोमनाथ कवि के समय प्रचलित सांग नाटक, बहुरूपक, खंडित गति नाटक आदि क्रमशः शेव लोक-नाट्य प्रक्रियाओं में अंतर्भूत हो गये होंगे।

उपर्युक्त सभी लोक-नाट्यों के प्रदर्शन तब से ले कर आज तक आंध्र प्रदेश की ग्रामीण जनता को मनोरंजन, ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा प्रदान करते आ रहे हैं।

—अनु० : विजयराघव रेड्डी,

గురుర్బ్రహ్మా - గురుర్విష్ణో ర్గురుదేవో మహేశ్వరః
గురుస్సాక్షాత్ పరబ్ర-హ్మాతస్మైశ్రీగురవేనమః

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु
गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुस्साक्षात्परब्रह्म
तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

पोकूरि श्रीरामुलु

अवधानम

'अवधानम' या अवधान बुद्धि का एक अत्यंत साहित्यिक चमत्कार है, जिससे पश्चिमी भाषा एवं संस्कृति नितांत अनभिज्ञ हैं। इस कला ने आंध्र प्रदेश में पूर्णता के उत्तुंग शिखरों को प्राप्त किया है, जिसका उदाहरण भारत के अन्य प्रांतों में शायद मिलता हो। असाधारण स्मृति-ज्ञान एवं आशु कविता के निर्माण में अपूर्व अभ्यास, इसके दो प्रमुख लक्षण हैं, जो उसको सफलता प्रदान करने में प्रधान भूमिका करते हैं। अवधान के ऐसे बहुत से वर्ग हैं, परंतु 'शतावधान' तथा 'अष्टावधान' इस कला की सर्वाधिक लोकप्रिय विधाएँ हैं।

अवधान का शाब्दिक अर्थ है एकाग्रता अथवा ध्यान। मन की एकाग्रता को आलोच्य वस्तु से हटा कर अन्य विषयों पर भटक जाने से उसे नियंत्रित करके, अनेक बाधाओं के बावजूद, प्रस्तावित विषय की ओर ही बनाये रखना इसकी प्रधान विशेषता है। मन सृष्टि की चित्र-विचित्र देनों में विचित्रतम देन है। चित्त को पूर्णरूपेण किसी दिशा-विशेष में एकाग्र करने पर भी, वह उसी भाँति भटकता रहता है, जिस भाँति किसी वस्तु-विशेष पर रश्मि-कांति केंद्रीकृत होने पर भी, उसकी छाया समीपवर्ती चीज़ों पर पड़े बिना नहीं रह सकती। दूसरे शब्दों में केंद्रीकरण एवं विकेंद्रीकरण, दोनों मनरूपी रथ के दो अजीब पहिये हैं। जो मनुष्य इस तरह की एकाग्रता पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, वह 'अवधानी' अभिहित किया जाता है, यद्यपि इसका व्यवहार, प्रारंभ में, ऐसे व्यक्ति से किया जाता था, जो वेदों का ही ज्ञान रखता था या वेदज्ञ था।

अवधान के पीछे एक बहुत प्राचीन परंपरा है, जो वेदाध्ययन में बद्धमूल थी। वेद के किसी अवयव (पन्न) का उल्लेख करने पर या पनसा (पंचाशिका) का ज्यों का त्यों उच्चारण करने वाले व्यक्ति को, विज्ञों ने अवधानी की संज्ञा दी है। पद, क्रम, जटा, घन एवं रथ इत्यादि को ध्यान में रखते हुए, तनिक भी अपस्वर या पाठ-दोष न आने देते हुए, सही-सही पाठ के लिए, अवधानी को अखंड धारण-शक्ति अपेक्षित होती है और वैदिक पाठ के लिए आवृत्ति जितनी अनिवार्य है, वह सुस्पष्ट है ही। वैदिक मंत्रोच्चार को उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय नाम के चतुर्विध स्वर-विधान द्वारा लयबद्ध कर दिया गया है। एक-एक पनसा एक-एक स्वर से प्रारंभ होती है। दूर में बैठा हुआ पृच्छक मन में किसी पनसा को सोच ले कर उसे अपनी अँगुलियों पर अंगुष्ठिका के स्पर्श द्वारा उसके स्वर-विशेष की ओर संकेत करता है। अँगुली का इंगित पा कर, अवधानी उस पनसा का पाठ कर जाता है। यह पद्धति 'स्वरावधान' नाम से प्रसिद्ध की गयी है।

'नेत्रावधान' नाम की एक अन्य कला में, दो अवधानी होते हैं। पृच्छक द्वारा दिये गये वाक्य से एक व्यक्ति अपने सहचर को केवल नेत्रों के हिलाने द्वारा अवगत कराता है। उसका सहचर नेत्र-चालन द्वारा प्रेषित भावों को शब्दों में उतार कर, उसे पुनः वाक्य के साँचे में ढाल कर पृच्छक को बतला देता है।

यह सर्वविदित है कि वेदों में 'स्वर' एवं 'वर्ण' पर जो बल दिया गया था, वह वास्तविक तथा उद्देश्यपूर्ण था, क्योंकि जैसा कि सुविज्ञ वैदिकों का मत है, 'स्वर' अथवा 'वर्ण' के अपोच्चारण होने पर, केवल उसके प्रभाव में ही अंतर नहीं आता, बल्कि उच्चारणकर्ता पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ सकता है। इस प्रकार के पापग्रस्त होने से बचने और अभीप्सित फल-सिद्धि के हेतु, वैदिक पंडित मंत्रोच्चार पर दृढ़ता देते थे और संभवतः 'अवधान' इसी का द्योतन करने के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा था। अवधान में 'स्वर' एवं 'वर्ण' पर जो बल है, उससे इस विषय की पुष्टि होती है। एकाग्रता की इस कला ने शनैः-शनैः वैदिक ज्ञान-सरोवर से साहित्य-महासागर तक अपना प्रसार कर लिया, जहाँ वह पूर्णावस्था को प्राप्त हुई।

'अष्टावधान' की तुलना आलंकारिक भाषा में, अष्टदल कमल और शतावधान की तुलना शतपत्र कमल से की जा सकती है। पृच्छक के प्रश्नों को नोट कर के अवधानी अंतर्मुखी होता है। उसकी इस दशा की समता मुकुलित कमल जैसी होती है। मन में प्रश्नों का मनन कर के, मन ही मन अब वह उसके उत्तर तैयार कर लेता है, तब प्रगट रूप में एक-एक कर के सारे प्रश्नों के उत्तर दे देता है। सूर्य के विमल प्रकाश का स्नेह-स्पर्श पाते ही धीरे-धीरे पाँखुरियाँ खोलने वाले कमल के फूल की भाँति, अवधानी के दिये हुए उत्तर प्रफुल्ल मन से सुन कर पाठकगण आनंदित होते हैं। 'अलंकारिका' के प्रणेता आचार्य वामन ने 'अवधानम' की परिभाषा 'चित्तैकाग्रता' मन की एकाग्रता की ओर, कविता के सहायक उपकरणों के रूप में उसे स्थान दिया। वास्तविकता तो यह है कि काव्य-रचना में जितनी हद तक मन या चित्त की एकाग्रता अपेक्षित है, उससे कहीं अधिक मात्रा में, 'अवधान' में है। उदाहरणार्थ, अष्टावधान (अष्टावधानम) में आठ विषयों में, एक ही समय पर, मन को एकाग्र किया जाता है, जैसे कविता, वार्तालाप, शास्त्रार्थ, आकाशपुराण, निषिद्धाक्षरी, शतरंज, व्यस्ताक्षरी एवं अंततः गणित। समस्या एवं वर्णन यों कविता ही के अंग हैं। पुष्प-गणना का स्थान कभी-कभी घंटी पर देने वाली चोटें ले लेती हैं। उपर्युक्त आठ विषयों में कुछ विद्वान, सुविधानुसार निकाल कर दूसरे विषय जोड़ कर छोटे-छोटे परिवर्तन कर लेते हैं, जैसे दत्तापदी, निषिद्धाक्षरी, किसी दी हुई अंग्रेजी तारीख का समानांतर वार बताना, यांत्रिकाचित्र इत्यादि। अवधान करने वाले पंडित व्यक्ति अपनी प्रतिभा तथा रुचि के अनुसार किन्हीं आठ वस्तुओं का चयन करते हैं।

इन आठ विषयों में प्रश्न-कर्ताओं का एक-एक कर के सामना करने में कठिनाई उतनी नहीं है, जितनी कि उनसे एक साथ निबटने में है। अवधानी और उसके आठ 'पृच्छक' अथवा प्रश्न-कर्ता एक ऊँचे मंच पर आसीन होते हैं, एक-एक प्रश्नकर्ता अपना प्रश्न प्रस्तुत करता है और उनका समाधान एक-एक कर के अवधानी देता जाता है। साधारणतः इन प्रश्नों के उत्तर पद्य-रूप में दिये जाते हैं, अतः अवधानी उन बंदों की प्रथम पंक्ति बोला जाता है। ऐसा करने में

वह शतरंज खेलता, सुनाये गये पौराणिक अंशों के अर्थ बताता, 'लोकाभिरामायण' के प्रस्तुत-कर्ता के प्रश्नों के उत्तर बड़े ही अनूठे व्यंग्यात्मक ढंग से देता और चित्त की एकाग्रता को नष्ट किये बिना शास्त्रीय चर्चा में लगा रहता है। अवधान के मध्य में, प्रत्येक बंद की शेष तीन पंक्तियाँ एक-एक कर के बोल जाता है और अंत में, सभी बंदों की एक साथ पुनरावृत्ति करता है। इन आठ में से किसी एक विषय में असमर्थता, संपूर्ण अवधान के रंग जमने में बाधक होती है।

निषिद्धाक्षरी में हर चीज पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है, किंतु प्रास इसका अपवाद है। एकाक्षर शब्द ज्ञान और संस्कृत तथा तेलुगु में निष्णातता इस बाधा को दूर करने में सहायक हो सकते हैं। जैसा कि स्पष्ट है, यह भी अत्यंत कष्टदायक प्रयास है।

'पुराण-पाठ' अवधान का शायद उतना महत्वपूर्ण अंग नहीं, फिर भी अवधान के रंग में भंग करने में यह जितना सहायकारी है, कोई अन्य नहीं। पृच्छक किसी पुराण या काव्य में से एक प्रसिद्ध गद्य या पद्य भाग को अवतरित करता और अवधानी को चुनौती देता है कि वह भाग किस पुस्तक से ग्रहीत है और उसका संदर्भ क्या है। अवधानी पृच्छक की चुनौती सहर्ष स्वीकार करता और अपने अपरिमेय काव्य या पुराण-ज्ञान के बल पर, संदर्भसहित उत्तर देते हुए उसकी सरस एवं मनोहारी व्याख्या कर देता है। आकाशपुराण की जगह कभी शास्त्र, व्याकरण या आलंकारिक चर्चा होना भी संभव है।

'दत्तपदी' में पृच्छक ऐसे चार शब्द देता है, जिनमें ध्वनि-साम्य है, किंतु वे असंबद्ध रहते हैं और उन चार शब्दों को एक-एक कर के चार पंक्तियों वाली कविता की प्रत्येक पंक्ति के प्रारंभ में निर्देशित वस्तु का वर्णन करते हुए तथा निश्चित छंद में उसका प्रयोग किये जाने का अनुरोध करता है। तात्विक दृष्टि से यह भी एक प्रकार से समस्या-पूर्ति ही है, जिसमें अवधानी को दिये गये चार असंबद्ध शब्दों के सहारे पूरे बंद का अर्थयुक्त सूत्र बुनना पड़ता है।

'वार्तालाप' : जहाँ एक ओर उपर्युक्त अंशों का सफलतापूर्वक निर्वाह करने में अवधानी व्यस्त रहता है, वहाँ दूसरी तरफ़ उस पर अपने क़दम बहकाने के यत्न में रत पृच्छक का भी समाधान करने का दायित्व भी निभाना पड़ता है। यहाँ पृच्छक की तुलना एक झगड़ालू सौत से की जा सकती है। 'आकाशपुराण', 'लोकाभिरामायण' या 'व्यर्थ प्रसंग' आदि इसी प्रकार के उसके कई और नाम हैं। वर्णन, व्यस्ताक्षरी, निषिद्धाक्षरी, गणित और समस्या-पूर्ति में एकाग्र अवधानी को भटकाने के हेतु, यह वाग्लापी पग-पग पर बेतुकी बकवास खड़ी कर देता है। वह ऐसे प्रश्नों की झड़ी लगाता है, जो बेतुके और बेसिर-पैर के होते हैं। किंतु सभी अपने-अपने अंशों में चमत्कार लिये होते हैं और प्रदर्शक के प्रवाह को अवरुद्ध करने वाले होते हैं। इन्हें टालना अवधानी की असमर्थता तथा प्रदर्शन की असफलता का सूचक ही है। तुर्रा यह कि प्रश्न जितना रससिक्त एवं चमत्कारपूर्ण होता है, उतना ही और, यदि संभव हो तो उससे भी अधिक रसपूर्ण तथा चमत्कारयुक्त होना अनिवार्य है। प्रश्न कितना ही कठिन या निराधार क्यों न हो, अवधानी को उस पर खीझ या असंतोष प्रकट करना शोभा नहीं देता। इससे उसकी आन पर आँच आने की संभावना है। उदाहरणस्वरूप किसी पृच्छक का यह प्रश्न : "महोदय, विश्व-शांति की स्थापना आज की ज्वलंत समस्या है। इसके स्थापनार्थ,अनेक महापुरुषों ने मनसा-

वाचा-कर्मणा जी-तोड़ प्रयत्न किये हैं। अंततः संयुक्त राष्ट्र संघ भी विफल हो गया है। आप तो प्रज्ञाधुरीण हैं, क्या आप राजनीतिक हल के अलावा इसका कोई सामाजिक हल सुझा सकते हैं?" अब अवधानी का मज़ेदार उत्तर सुनिए : "आपने बड़ा प्रश्न किया। फिर भी यथाशक्ति इसका उत्तर दूँगा। रूस और अमरीका के मध्य संबंध स्थापित करने के लिए, आपको मेरा सुझाव यह है कि रूस के प्रत्येक पुरुष से अमरीका की प्रत्येक युवती का विवाह करा दीजिए, शांति की समस्या अपने आप हल हो जायगी। जरूरत पड़े तो ब्राह्मण का काम मैं करूँगा।" इस हास्यपूर्ण हल से सभा में हँसी-मज़ाक के फ़व्वारे कम से कम पंद्रह मिनट तक फूट जाते हैं, जिसके अंदर अवधानी को अन्य अंशों के उत्तर तैयार करने के लिए समय मिलता है। यदि अवधानी सामर्थ्यवान है, तो इन अनावश्यक प्रसंगों का उपयोग उपर्युक्त ढंग पर किया जा सकता है।

'यांत्रिकाचित्र' विशुद्धतः गणित-विद्या है। इसमें पृच्छक एक बृहद गुणनफल देता है और अवधान करने वाले व्यक्ति से दिये हुए वर्ग के सभी स्थानों की पूर्ति ऐसी संख्याएँ डाल कर करने का अनुरोध करता है, जिन्हें खड़े, पड़े या तिरछे, तीनों तरह से गुणा करने पर आने वाला घात दी गयी संख्या के बराबर का होना चाहिए। यांत्रिकाचित्र की सफलता के लिए उच्च कोटि की गणित-प्रतिभा के अतिरिक्त, असमान याददाश्त की भी आवश्यकता होती है। यांत्रिकाचित्र के स्थान में कभी-कभी बड़ी-बड़ी संख्याएँ दे कर उन्हें जोड़ने या एक से दूसरा निकालने के लिए कहा जाता है।

उत्तम अवधान की आवश्यक प्रज्ञाएँ 'आभ्यंतरिक' एवं 'बाह्य' में विभाजित की जा सकती हैं। एकाग्रता, धारण और स्फुरण आभ्यंतरिक प्रज्ञाएँ हैं। अवधानी के चित्त को केंद्रीकृत कर के उसे दूसरे विषयों पर जाने नहीं देना चाहिए। जहाँ इसमें न्यूनता आयी, वहाँ उस अनुपात में वह प्रश्नों के उत्तर अल्प समय में न दे सकेगा। गृहीत विषयों को भुला न देते हुए मन में उन्हें धारना 'धारण' कहलाता है। पृच्छक के दिये हुए प्रश्नों के क्रमशः उत्तर बना कर, उन्हें उनके संदर्भों सहित बताना आवश्यक है। इस अवधान का 'प्राणतुल्य प्रतिज्ञा' के रूप में उल्लेख किया जा सकता है। सांद्र बन कर लदे हुए विषयों के ढेर में से आवश्यक भाग को सुलझे रूप में उद्धृत करने की प्रज्ञा 'स्फुरण' बतायी जाती है। आवश्यकता पड़ने पर, संबंधित भाग के चयन में बिलंब नहीं होना चाहिए।

बाह्य प्रज्ञाओं के अंतर्गत, आशु कविता, पांडित्य, समय-स्फूर्ति (प्रत्युत्पन्नमति), परिहासप्रियता उल्लेखनीय है। ये प्रज्ञाएँ गोचर हैं और जनता में रक्ति पैदा करने वाली शक्तियाँ हैं। अवधान का प्रथम अलंकार किसी भी विषय पर अप्रतिहत ढंग पर, आशु कविता करना है। धाराशुद्धि की अवधानी को अत्यधिक आवश्यकता है। उनकी कविता बोलने का ढंग हिमालय की उन्नत चोटियों से कलकल-ध्वनि करते हुए झरने वाले पहाड़ी झरने जैसा होना चाहिए तभी वह सभा को आनंद की लहर में बहा दे कर उनके मनोभावों पर पूरा नियंत्रण प्राप्त कर सकता है। किये गये हर प्रश्न का छंदोबद्ध उत्तर दूँगा, ऐसी प्रज्ञा उससे अपेक्षित है।

उपर्युक्त प्रतिभाओं या प्रज्ञाओं से हट कर अभ्यास-बल अवधानी की सर्वोपरि आवश्यकता है। कुछ लोगों के इस विश्वास में कि अवधान प्रज्ञा का संपादन प्रकृत सिद्धि या उच्चिष्ट गणपति की उपासना द्वारा किया जा सकता है। सत्यता तो दरकिनार, किंतु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसके लिए अभ्यास-बल की आवश्यकता अपरिहार्य है।

'अष्टावधान' का प्रदर्शन समाप्त होने में लगभग चार घंटे का समय होता है। विशेषज्ञों का कहना है कि अष्टावधान यथार्थ में शतावधान की अपेक्षा अधिक कठिन है, क्योंकि इसमें सभी विषयों से साथ नहीं निबटाया जाता। वास्तविकता कुछ भी क्यों न हो, शतावधान इतनी सरल वस्तु नहीं है। इसमें पृच्छक सौ होते और निर्देशित छंद एवं विषय पर जो भिन्न-भिन्न रहते हैं, सौ पद्य बनाने को कहा जाता है। अवधानी को सभी प्रश्नों की याद रखनी पड़ती और वह पहले सौ पद्यों की प्रथम पंक्ति बोल देता है। अवधानी की एकाग्रता को भटकाने के विचार से पृच्छक कभी अपने स्थान बदल देते हैं, परंतु अवधानी को अपनी पहचान को बनाये रखते हुए, प्रश्न, संबंधित विषय एवं छंद का स्मरण रखना चाहिए। इस प्रकार जब वह प्रत्येक पद्य की अंतिम पंक्ति बोल जाता है, तब उसके बाद पूरे सौ पद्यों को पूर्वोक्त एवं क्रमशः दोहराया जाता है। शतावधान की सफलता इस बात पर निर्भर रहती है कि अवधानी की स्मृति-शक्ति कितनी अचूक है और वह आशु कविता करने में कहाँ तक समर्थ है। साधारणतः शतावधान का प्रदर्शन १६ से १८ घंटे का समय लेता है।

अवधानी को महान कवि होने के समय ही सुशिक्षित विद्वान एवं चतुर-भाषी होना चाहिए, अन्यथा पृच्छक-गण प्रदर्शन में कई तरह की बाधाएँ उपस्थित कर के उनकी कुशाग्र बुद्धि पर पर्दा डालने के अनवरत प्रयत्न करते रहेंगे। जहाँ यह अनोखा प्रदर्शन अवधानी के लिए अग्नि-परीक्षा बन कर आता है, वहाँ पृच्छकों एवं प्रेक्षकों को काफ़ी आमोद-प्रमोद की सामग्री मिल जाती है। यदि सफलता अवधानी के चरण चूमती है, तो समझ लीजिए कि अच्छा रंग जमने के अलावा पंडित जी को यश और धन भी मिलता है, यदि असफल हुआ, तो उल्टे अगौरव तथा हँसी-मज़ाक का पात्र बन जाता है।

आंध्र देश में 'अवधानम' कला शायद उतनी ही प्राचीन है, जितना कि आंध्र का तेलुगु साहित्य। प्राचीन तेलुगु साहित्य में यों तो अनेक अवधानी हमें सुनने को मिलते हैं, किंतु उनमें तीन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'वसुचरित्रा' के महाकाव्यकार सुप्रसिद्ध भट्टमूर्ति घंटे में सैकड़ों पद्यों का निर्माण करते थे और एक दिन में पूरा एक प्रबंध लिख डालने का सामर्थ्य रखते थे। 'विक्रमांक चरित' के प्रणेता गक्कना ने 'अवधान' एवं आशु कविता में अपना लोहा मनवाया था। 'चित्रभारत' के रचयिता चरिगोंडा धर्मना को अवधानियों एवं आशु कवियों के सम्राट की' उपाधि से विभूषित किया गया था।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में भी सुप्रसिद्ध अवधानियों का अभाव नहीं है। इसमें स्वर्गीय माडभूष्मि वेंकटाचार्य उच्च कोटि के एवं अग्रतम अवधानी थे, जिनकी चतुर्मुखी प्रतिभा ने आंध्र के सुविख्यात तिरुपति वेंकट कवियों को इस क्षेत्र में पदार्पण करने की ओर प्रेरित किया था। फलतः इस कवि-द्वय ने अनेक ज़मींदारों के आस्थानों की यात्रा कर के अत्यंत प्रसिद्धि प्राप्त

की और संस्कृत तथा तेलुगु, दोनों भाषाओं में प्रदर्शनों का आयोजन कर के, न केवल इस जीर्ण-प्राय कला का पुनरुद्धार किया, अपितु उसे एक मनोरंजक एवं सर्वप्रिय रूप भी प्रदान किया। इन्हीं के समकालीन थे सर्वश्री कृष्णमाचार्य 'शिरोमणि', जो देव-कृपा से हमारे मध्य विराजमान हैं। तेलुगु के विख्यात विद्वान एवं प्रसिद्ध कवि श्री वेलूरि शिवराम शास्त्री इसी कवि-द्वय के प्रिय शिष्य थे, जिन्होंने कई अंशों में अपने गुरुओं की प्रतिभा उत्तराधिकार में ग्रहण की। इसी प्रकार स्वर्गीय पीसपाटी चिदंबर शास्त्री, गाडेपल्लि वीरराघव शास्त्री, कोप्परपु, मंडपाका पार्वतीश्वर शास्त्री, दर्भा का राजशेखर शतावधानी, श्रीपति त्र्यंबक राव इत्यादि अनेक विद्वानों ने अनेक स्थानों की यात्रा की और हर जगह अपने अवधानों द्वारा जयजयकार करवाया। 'शिवभारतम' के रचयिता गडियारम वेंकट शेष शास्त्री चोटी के अवधानी थे, किंतु इन्होंने आजकल छोड़ सा दिया है। नये खेवे के अवधानियों में, रायल सीमा के सुब्बन्ना एवं गुंटूरवासी प्रसादराव प्रमुखतया उल्लेखनीय हैं।

आंध्र देश ने केवल अष्टावधानी या शतावधानियों के विषय में नहीं, प्रत्युत सहस्रावधानियों की जन्म-भूमि होने का गौरव भी अर्जित किया है। हैदरावाद के जंध्याला सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने तो अपने सत्तरहवें वर्ष की आयु में भी 'सहस्रावधान' कर के अपनी चिरयौवना प्रतिभा का परिचय दिया है।

अवधान के विपक्ष में एक तर्क यह प्रस्तुत किया जाता है कि अवधान की कविता आशु होने के कारण, उसमें नवनवोन्मेषशालिनी सच्ची प्रतिभा तथा कल्पना के लिए उतनी गुंजाइश नहीं रहती, भले ही वह कुछ घड़ियों के लिए जनता के मनोरंजन का केंद्र क्यों न बने। यह निर्विवाद है कि आशु में अनावश्यक शब्द पाद-पूर्ति के लिए आते हैं जो कविता के सौंदर्य को नष्ट करते हैं। इनमें अधिकांश कमियाँ दूर की जा सकती हैं, यदि समर्थ विद्वान कवि-क्षेत्र में पदार्पण करके अभ्यास की खराद पर चढ़ सकें।

अववान-कला धीरे-धीरे आंध्र देश में उचित राज-संरक्षण के अभाव में क्षीणप्राय होती जा रही है और यदि अभी से इसके निवारक पग नहीं उठाये गये, तो फिर वह दिन दूर नहीं होगा, जब यह कला जो एक तरह से एकमात्र आंध्र की विभूति रही है, उठ ही जायगी।

नेत्रावधान एवं नाट्यावधान इत्यादि अवधान के और कई प्रकार हैं, जिनका ध्येय आमोद-प्रमोद पहुँचाने के साथ ही कला के उत्कृष्ट तत्वों का उद्घाटन करना होता है।

—हिंदी अनुवादक,
सूचना एवं जन-संपर्क विभाग,
हैदराबाद–१ (आं० प्र०)

पी० श्रीराममूर्ति

संस्कृत तथा प्राकृत को तेलुगुभाषियों की देन

आंध्र में संस्कृत का इतिहास 'सूत्र युग' से प्रारंभ होता है। पी०वी० काणे के विचारानुसार आपस्तंब सूत्र संभवतः आंध्र में रचे गये। पुराणों में 'आंध्र' अथवा 'आंध्रभृत्य' नाम से संबोधित सातवाहननरेश संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत साहित्य के भी महान संरक्षक थे। 'कथा-सरित्सागर' के कथापीठलंबक प्रमाणित करते हैं कि सातवाहनों के आस्थान में गुणाढ्य और सर्ववर्मन जैसे संस्कृत के विद्वान विद्यमान थे। यद्यपि सातवाहनों की राजभाषा प्राकृत थी, फिर भी इस वंश के नरेश संस्कृत में रुचि लेते थे। वे स्वयं संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते थे। प्राकृत की विलुप्त 'बृहत्कथा' और सत्तसई (गाथा सप्तशती) इस युग की अमूल्य कृतियाँ थीं। कहा जाता है, गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में लिखी थी। बृहत्कथा ने संस्कृत के परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया। वह एक ओर तो आकर ग्रंथ का काम करती रही और दूसरी ओर मूल रूप में अथवा संस्कृत अनुवाद के रूप में कथा-साहित्य के लिए आदर्श मानी गयी। हाल की सत्तसई (छठी-सातवीं शती) महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गयी थी। उसमें मुक्तकों का संकलन था। ये मुक्तक उच्च कोटि के साहित्य के नमूने कहे जा सकते हैं। संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों में इसीलिए इन मुक्तकों को लक्ष्य के रूप में उद्धृत किया गया है। सर्ववर्मन का 'कातंत्र व्याकरण' एक सुबोध व्याकरण है। संभवतः यह प्राकृत के माध्यम से संस्कृत पढ़ने के लिए लिखा गया था। बर्नेल का विचार है कि कातंत्र व्याकरण तमिल व्याकरण से बहुत मिलता-जुलता है।

'लीलावती' नामक प्राकृत ग्रंथ में महान बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन (द्वितीय शती) को सातवाहनों के आस्थान से संबंधित बताया गया है। देश के इस महान विद्वान के साथ अनेक कथाएँ जुड़ गयी हैं। आंध्र प्रदेश के श्रीपर्वत (नागार्जुन कोंड) में इनका निवास सर्वविदित तथ्य है। चीनी तीर्थयात्री ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है। चीनी तीर्थयात्री महायान संप्रदाय का दार्शनिक और तंत्रशास्त्र का विद्वान था। नांजिओ की सूची में चीनी त्रिपिटिक के २४ शीर्षक ऐसे हैं, जो संस्कृत से अनूदित प्रतीत होते हैं।

सातवाहन-नरेश वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने वेदोक्त यज्ञों का अनुष्ठान किया था। प्राकृत में लिखाये गये इन नरेशों के शिलालेख संस्कृत और वैदिक संस्कृति के व्यापक प्रभाव को सूचित करते हैं। इस बात का पता हमें वायुपुराण तथा अन्य पुराणों से भी चलता है। आंध्र में प्राप्त संस्कृत के प्राचीनतम शिलालेख इक्ष्वाकु वंश (तीसरी शती) से संबंधित हैं।

नागार्जन कोंड से पाँचवीं शती के जो संस्कृत शिलालेख मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि इन शिलालेखों के लिए प्रशस्ति लिखने वाला व्यक्ति न्याय, व्याकरण आदि शास्त्रों का ज्ञाता होता था। शिलालेखों से यह भी पता चलता है कि अपने धर्म के प्रचार के लिए बौद्धों ने संस्कृतज्ञ विद्वानों को नियुक्त किया था। इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि आंध्र में उन दिनों संस्कृत साहित्य तथा वेदों के पठन-पाठन की अच्छी व्यवस्था थी। 'ज्ञानाश्रयी छंदोविच्छित्ति' संस्कृत छंदशास्त्र का अन्यतम ग्रंथ है। इस ग्रंथ का लेखक विष्णुकुंडिन् वंश के माधववर्मन (चतुर्थ) के आस्थान में था। यह ग्रंथ ईसा की आरंभिक शतियों में रचे गये संस्कृत साहित्य के बारे में पर्याप्त जानकारी देता है। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत की तत्कालीन प्रचलित विविध शैलियों का परिचय भी इस ग्रंथ से मिलता है। उन दिनों राजाओं के संरक्षण में 'घटिका' नामक शिक्षा-संस्था चलती थी। घटिकाओं में वेदों और विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान छात्रों को पढ़ाते थे।

दंडी की 'अवंतिसुंदरी कथा' के अनुसार किरातार्जुनीय के लेखक भारवि और उनके मित्र दामोदर वेंगी के कुब्ज विष्णुवर्द्धन के आस्थान में रहते थे। दामोदर का उल्लेख 'आदिकवि' के रूप में हुआ है। संभवतः वह प्राकृत में भी लिखते थे। 'गंधमादन' नामक पुस्तक के रचयिता और लक्षणकार के रूप में भी दामोदर स्मरण किये गये हैं। उग्रादित्य अथवा उग्राचार्य जैन था और आयुर्वेदिक विषयों का लेखक था। विष्णुवर्द्धन (चतुर्थ) के समय में उसे ख्याति मिली थी। उसने वेंगी के रामगिरि नामक स्थान पर आयुर्वेद के पाँच ग्रंथ लिखे : 'कनकदीपिका', 'कल्याण-'कारक', 'जगतसुंदरी', 'भिषक्प्रकाश', 'रामविनोद'। पूर्वी चालुक्यों के संस्कृत अभिलेख सुललित शैली में लिखे गये छोटे-छोटे चंपूकाव्य प्रतीत होते हैं। इन अभिलेखों की विशेषता यह है कि संस्कृत में भी 'कंद' और 'रगडा' नामक देशी (तेलुगु) छंदों का प्रयोग हुआ है। इन शिलालेखों के लिए प्रशस्तियाँ लिखने वालों में नन्नय भट्ट भी एक थे, जिन्होंने 'तेलुगु महाभारत' का आरंभिक अंश लिखा। नन्नय तेलुगु के आदिकवि माने जाते हैं। कुछ विद्वान इन्हें संस्कृत में लिखे गये तेलुगु व्याकरण 'आंध्र शब्द-चितामणि' का लेखक मानते हैं। नन्नय राजराजनरेंद्र (ग्यारहवीं शती) के आस्थान में रहते थे।

वेमुलवाड़ा के चालुक्यों ने भी संस्कृत साहित्य की वृद्धि में योग दिया था। 'यशस्तिलक चंपू' (लेखन-काल ९५९ ई०) के जैन लेखक को यहाँ के अरिकेसरी (तृतीय) ने आश्रय दिया था। कवि भल्लट (कश्मीरी कवि भल्लट से भिन्न) ने 'गणमंजरी' तथा 'पद्ममंजरी' नामक कोश लिखे। कवि भल्लट कोंडपडुमटि वंश के नरेश बुद्ध के आश्रय में रहते थे।

काकतीय साम्राज्य की स्थापना के साथ आंध्र में कला और साहित्य का नया युग प्रारंभ हुआ। इस काल के शिलालेखों और दानपत्रों के लिए जिन विद्वानों ने प्रशस्तियाँ अथवा संकल्प लिखे हैं, वे निश्चित रूप से कवि थे। उन लोगों ने अभिलेखों और दानपत्रों के रूप में संस्कृत साहित्य की समृद्धि में योग दिया है। उस समय के अभिलेखों और दानपत्रों में मधुर और अलंकृत शैली का प्रयोग हुआ है। उनमें उस समय के कुछ प्रमुख व्यक्तियों और नगरों का वर्णन है। आकृतिमूलक काव्य (चित्र और बंध, दोनों) देखते ही बनते हैं। इन निपुण कवियों में ईश्वर भट्टोपाध्याय नामक एक कवि थे (१२७६ ई० के लगभग)। बोधपुर के शिलालेखों के लेखक

जय सेनापति गणपतिदेव के साले थे। इन्होंने १२५३ ई० में 'नृत्तरत्नावली' नामक ग्रंथ लिखा था। इसमें नृत्य के उन सब रूपों का परिचय है, जो आगे चल कर विकसित हुए। इस ग्रंथ में भरत द्वारा उल्लिखित विभिन्न नृत्य-शैलियों और उनकी परंपराओं का वर्णन है। सम्राट प्रताप रुद्र (१२९६-१३२३ ई०) आंध्र में संस्कृत के बहुत बड़े उन्नायक थे। 'अमरुशतक' की एक टीका तथा 'नीति-शास्त्र' नामक ग्रंथ के लेखक के रूप में प्रताप रुद्र का नाम लिया जाता है। संभवत: वरंगल के काकतीय नरेश प्रताप रुद्र और टीकाकार तथा नीतिशास्त्र के रचयिता प्रतापरुद्र अभिन्न व्यक्ति हैं। प्रतापरुद्र का 'नीतिशास्त्र' नीति संबंधी ग्रंथ है। बद्देना की तेलुगु पुस्तक 'नीतिशास्त्र मुक्ता-वली' प्रतापरुद्र की संस्कृत रचना 'नीतिशास्त्र' पर आधारित है। इस काल के विद्वानों में विद्यानाथ अग्रगण्य हैं, जिन्होंने अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्र के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए 'प्रताप-रुद्रयशोभूषण' नामक लक्षण-ग्रंथ लिखा। अगस्त्य पंडित और विद्यानाथ को अभिन्न मानना अनुचित है। अगस्त्य पंडित इस काल के एक दूसरे विद्वान थे। कहा जाता है, इन्होंने ७४ पुस्तकें लिखी थीं, जिनमें से अब केवल तीन उपलब्ध हैं 'बालभारत', 'नलकीर्ति' और 'कृष्णचरित'। 'बाल-भारत' (संक्षिप्त महाभारत) २० सर्ग का काव्य है। आगे चल कर श्री कृष्णदेवराय के यशस्वी प्रधानमंत्री तिम्मरसु ने इसकी व्याख्या की। 'नलकीति' चार सर्ग की छोटी कृति है। इसमें राजा नल की कहानी है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' की तरह इसमें अलंकार-बहुलता और पांडित्य-प्रदर्शन का भाव नहीं है। 'कृष्णचरित' सुललित गद्य में लिखा गया कृष्ण-चरित संबंधी आख्यान है। हम यह कह सकते हैं कि अगस्त्य ने दक्षिण भारत में वैदर्भी शैली की फिर से स्थापना की। अनेक परवर्ती लेखकों ने इनकी शैली का अनुसरण किया है। प्रताप रुद्र के आस्थान में एक जैन कवि रहते थे। उन्होंने १३२० में 'जितेंद्रकल्याणाभ्युदय' अथवा 'अर्हत्प्रतिष्ठा' नामक पुस्तक लिखी थी। प्रतापरुद्र के मुद्रक प्रधानी के पुत्र कोलनि प्रतापरुद्र वैयाकरण थे। इन्होंने पंतजलि द्वारा उद्धृत वार्तिकों के अनुसरण पर लिखे गये लोक-वार्तिकों की व्याख्या की। रुद्र नामक व्यक्ति ने 'पाणिनि व्याकरण प्रपंचवृत्ति' नामक ग्रंथ लिखा। वैयाकरण रुद्र भी प्रतापरुद्र के आश्रय में रहते थे। गुंडयभट्ट प्रताप रुद्र के आस्थान में ब्रह्मांडाधिकारी के पद पर नियुक्त थे, वे माने हुए वेदांती थे। इन्होंने श्रीहर्ष के अत्यंत दुरूह वेदांत-ग्रंथ 'खंडन खंड खाद्य' पर टीका लिखी थी। शैव अध्यापक अघोरवर्षाचार्य भी प्रताप रुद्र के आश्रय में रहते थे।

अगस्त्य के बहनोई गंगाधर महाभारत के नाटकीकरण के कारण प्रसिद्ध हैं। उसका पुत्र विश्वनाथ विजयनगर की रानी का अध्यापक था। उसने १३७१ ई० में 'मधुरा विजय' नामक पुस्तक लिखी थी। 'सौगंधिकाहरण' नामक पुस्तक भी लिखी। लेखक ने 'सौगंधिका-हरण' को 'प्रेक्षणक' लिखा है। साहित्य-दर्पण में इसे 'व्यायोग' बताया गया है। 'सौगंधिका-हरण' के लेखक के भाई 'कादंबरी कल्याण नाटक' के लेखक हैं। 'कादंबरी कल्याण नाटक' बाण-भट्ट की 'कादंबरी' का सफल नाटक रूप है। नरसिंह नामक कवि प्रशस्तियाँ लिखा करते थे। कहा जाता है, नरसिंह ने ऋग्वेद की व्याख्या की थी। नरसिंह का 'काकतीय चरित महाकाव्य' इस समय उपलब्ध नहीं है। इस काव्य के आठवें सर्ग के कुछ श्लोक और आरंभिक १२० श्लोक शिलाओं पर अंकित होने के कारण सुरक्षित रह गये। किंवदती है कि नरसिंह ने इस काव्य की

रचना एक दिन में की थी। इसी लेखक ने मलयवती की प्रेम कहानी गद्य से पद्य में रूपांतरित की। ६२ शार्दूलविक्रीडित छंदों में एक सिद्ध-दंपति की कहानी लिखी है।

प्रताप रुद्र के आस्थान का एक अन्य कवि है, साकल मल्ला। इसने भट्टि काव्य के अनुकरण पर व्याकरण सिखाने के लिए काव्य लिखा। इस काव्य के केवल नौ सर्ग सुरक्षित हैं। इस पर दो व्याख्याएँ लिखी गयीं। साकल मल्ला की 'आख्यातचंद्रिका' संस्कृत क्रियापदों के लिए प्रामाणिक ग्रंथ है। 'अव्यय संग्रह निघंटु' अव्ययवाची शब्दों का कोश है। तेलुगु नाटक 'क्रुदाभिराममु' से जानकारी मिलती है कि तेलुगु के विख्यात कवि रविपाटि त्रिपुरांतक ने संस्कृत में 'वीथी' के ढंग का एक नाटक लिखा था, जिसका अनुवाद आगे चल कर तेलुगु में हुआ।

वीरशैव संप्रदाय के विश्रुत दार्शनिक तथा संस्कृत, तेलुगु और कन्नड़ के यशस्वी लेखक पालकुटिकि सोमनाथ इस युग की देन हैं। इनकी महत्वपूर्ण रचना 'सोमनाथ भाष्य' है। इन्होंने कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी हैं। पंच प्रकार गद्य, नमस्कार गद्य, अक्षरांक गद्य, बसवोदाहरण, वृषभाष्टक और त्रिविध लिंगाष्टक नवीन छंदों के प्रयोग के कारण उल्लेखनीय हैं।

काकतीय साम्राज्य के पतन के पश्चात आंध्र में तीन राजवंश उदित हुए : कोंडावीडु के रेड्डी, राचकुंडा के नायक और विजयनगर के राय। मुस्लिम आक्रमण के कारण जो विध्वंस हुआ, उसे दूर करने के लिए इन तीनों राजवंशों ने वैदिक धर्म और संस्कृत साहित्य को उदार आश्रय प्रदान किया। इस काल में वेदों और संस्कृत के महाकाव्यों की अनेक व्याख्याएँ हुईं, कुछ मौलिक काव्य लिखे गये, नृत्यों और अलंकारों के संबंध में कई ग्रंथ सामने आये। कंडाय पेद्दि भट्ट ने शिवसहाय नाम की टीका लिखी। रेड्डी राजा कुमारगिरि (१३८६-१४०२ ई०) संगीत और नृत्य में प्रवीण थे। उनका 'वसंतराजीय' नामक ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। कुमारगिरि राजा के मंत्री कातय वेमा ने 'वसंतराजीय' में दिये गये लक्षणों को ध्यान में रख कर कालिदास के तीनों नाटकों पर कुमारराजीय नामक टीका लिखी। पेदा कोमटि वेमा (१४०३-१४२० ई०) भी संस्कृत का लेखक था। इसने अमरुक के मुक्तकों पर 'शृंगारदीपिका' और हाल की चुनी हुई सौ गाथाओं पर 'भावदीपिका' टीका लिखी, इसने 'काव्यप्रकाश' के अनुसरण पर 'साहित्य-चिंतामणि' नामक लक्षण-ग्रंथ प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ के लक्ष्य रूप में लेखक ने श्लोकों की रचना की। इन श्लोकों के कारण ही इस ग्रंथ का महत्व है। पेदा कोमटि वेमा ने 'संगीत-चिंतामणि' नामक संगीत की पुस्तक भी लिखी।

पेदा कोमटि वेमा के आस्थान का प्रसिद्ध विद्वान वामन भट्ट बाण है। वह विद्यारण्य का शिष्य और देवराय (प्रथम) के मंत्री लक्ष्मीशदंडाधिप का आश्रित था। इसने १३८० ई० में देवराय (प्रथम) की प्रशस्ति संस्कृत में लिखी। इसने अनेक पुस्तकें लिखी हैं, 'रघुनाथ-चरित' और 'नलाभ्युदय' दो महाकाव्य हैं, अपने आश्रयदाता की जीवनी गद्य में 'वेमभूपाल चरित' अथवा 'वीरनारायण चरित' लिखी। चार नाटक 'शृंगार भूषण भाण', 'बाणासुर विजय', 'कनकलेखा', 'कल्याण' और 'पार्वती परिणाम', एक संदेश-काव्य 'हंसादेश', दो कोश 'शब्द-चंद्रिका' और 'शब्द-रत्नाकर'। वामनभट्ट बाण ने अपने भाण में तत्कालीन मनोरंजनों, क्रीडाओं और रीति-रिवाजों का अच्छा वर्णन किया है। संदेश-काव्य में अनेक ऐतिहासिक स्थलों और दक्षिण के तीर्थों का

विवरण है। तेलुगु के महाकवि श्रीनाथ वेमा के आस्थान कवि थे। श्रीनाथ ने बड़ी अच्छी शैली में संस्कृत में प्रशस्तियाँ लिखी हैं। कहा जाता है, श्रीनाथ ने अपने आश्रयदाता को 'सप्तशती सार' की व्याख्या लिखने में सहायता की थी। कंदुकूरु के रेड्डी राजा शिवलिंग ने शैवमत के ग्रंथ 'चतुर्वेदतात्पर्य संग्रह' पर 'तत्वप्रकाशिका' नामक टीका लिखी थी। कुछ लोग इस ग्रंथ की रचना का श्रेय रेड्डी राजा शिवलिंग के आस्थान कवि ईश्वर भट्ट को देते हैं। इन रेड्डी राजाओं के आश्रय में न्याय, वैशेषिक आयुर्वेद और अन्य शास्त्रों के विद्वान फले-फूले।

राचकोंड के वेलमा शासकों ने संस्कृत के संरक्षण में रेड्डी से स्पर्द्धा की। अनवोट के एनावोलु नामक स्थान के दानपत्र (लेखन-काल १३६७ ई०) के लेखक नागनाथ ने 'मदन विलास' नामक भाण लिखा। इसके आश्रयदाता अनवोट ने 'अभिरामराघव' नामक नाटक लिखा था, इस बात का उल्लेख अनवोट के पुत्र सिंह भूपाल ने अपने 'रसार्णवसुधाकर' में किया है। सिंह भूपाल विद्वान और कवि था। उसने 'रसार्णव सुधाकर' नामक नाट्य-ग्रंथ लिखा। सिंह भूपाल ने 'कुवलयावली नाटिका' और 'संगीतरत्नाकर' पर 'संगीतसुधाकर' नामक टीका भी लिखी थी। सिंह-भूपाल के आस्थान-कवि विश्वेश्वर का काव्यशास्त्र संबंधी 'चमत्कार-चंद्रिका' नामक ग्रंथ मिलता है। इस ग्रंथ में काव्य-चमत्कारों की चर्चा है। विश्वेश्वर ने अपने गुरु काशीश्वर मिश्र और उनकी 'रसमीमांसा' नामक पुस्तक का उल्लेख किया है। आस्थान के एक अन्य विद्वान बोम्म कंटि अप्पयार ने 'अमरकोश' पर टीका लिखी। इसके शिष्य हरिहर ने 'तार्किक रक्षा-संग्रह' और 'अनर्घ-राघव' की व्याख्या की। सिंह भूपाल के छठे पुत्र रावु माधव नायक (द्वितीय) ने सन १४२७ ई० में रामायण की व्याख्या करते हुए 'राघवीय' नामक पुस्तक लिखी थी, इस बात का पता रावु माधव की पत्नी नागांबिका के नागारम-शिलालेख में चलता है। पोतराज के भतीजे गौरना राचर्ला परिवार से संबंधित सिंगध राघव के मंत्री थे। इन्होंने काव्यशास्त्र पर 'पदार्थ-दीपिका' और 'लक्षणदीपिका' नामक दो ग्रंथ रचे। इन ग्रंथों में लक्ष्य-लक्षण के अतिरिक्त अक्षरों और गणों के प्रभावों का भी विस्तार से वर्णन है।

विजयनगर साम्राज्य का काल आंध्र प्रदेश में संस्कृत के लिए वसंत ऋतु के समान था। विद्यारण्य, माधव और सायण का नाम विजयनगर साम्राज्य की स्थापना से संलग्न है। संस्कृत साहित्य का संरक्षण इस साम्राज्य ने अपनी स्थापना के साथ प्रारंभ किया था। राजकुल ही नहीं, माधवाचार्य तथा उनके दो भाई सायण और भोगनाथ आंध्र तथा कर्णाटक, दोनों प्रदेशों से संबंधित थे। इन लोगों ने आंध्र के सांस्कृतिक पुनर्जागरण पर निर्विवाद रूप से अपरिमित प्रभाव डाला। इस साम्राज्य के विद्वानों और उनकी कृतियों के संबंध में जो भ्रम थे, उनमें से कुछ का अनुसंधानों के कारण निराकरण हो चुका है।

माधवाचार्य और विद्यारण्य से संबंधित परंपरागत जानकारी शिलालेखों और साहित्यिक साक्षियों से पुष्ट नहीं है। उपनिषदों की 'अनुभूति प्रकाशिका टीका' और 'अपरोक्षानुभूति' की व्याख्या निश्चित रूप से विद्यारण्य ने की है, किंतु कुछ विद्वान इन दोनों टीकाओं का लेखन आदि शंकराचार्य के साथ जोड़ते हैं, 'दृग्दृश्यविवेक' और 'पंचाशिका' के लेखक के रूप में विद्यारण्य और भारती तीर्थ, दोनों का नाम लिया जाता है। इस तरह 'विवरण प्रमेय संग्रह' के लेखक के रूप में

कोई विद्यारण्य का नाम लेता है तो कोई भारती तीर्थ का। गोविंद दीक्षित ने अपनी 'संगीत-सुधा' नामक पुस्तक में संगीतशास्त्र के प्रामाणिक ग्रंथ 'संगीत-सार' को विद्यारण्य की रचना बताया है। 'वैयासिक न्यायमाला' संभवतः भारती तीर्थ की रचना है। 'देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र' और 'जीवन्मुक्तिविवेक', दोनों के लेखक माधवाचार्य बताये जाते हैं। माधवाचार्य ने 'एकाक्षर रत्न-माला' में एक वर्ण वाले अक्षरों का संकलन किया है। 'हरिहर महाराज चक्रेश्वर निघंटु' का संबंध भी माधवाचार्य से जोड़ा जाता है। माधवाचार्य की अन्य रचनाएँ हैं, 'काल-निर्णय', जैमिनीय 'न्यायमाला विस्तार', पराशर स्मृति की पराशर माधवीय टीका और 'शंकर-विजय'। सायण ने अपने भाई माधव के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए अपनी 'धातुवृत्ति' का नाम 'माधवीय' रखा। अन्य विद्वानों की सहायता से सायण ने वेदों पर भाष्य लिखा; इनकी 'अलंकार-सुधानिधि' साहित्य-शास्त्र की एक अप्रतिम पुस्तक है। 'सुभाषित-निधि' में विभिन्न साहित्यिक ग्रंथों से संकलित प्रचलित पद हैं। 'पुरुषार्थ-सुधानिधि' में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष संबंधी कथाओं और श्लोकों का संकलन है। सायण ने आयुर्वेद से संबंधित 'आयुर्वेद-सुधानिधि' नामक ग्रंथ लिखा। तीसरे भाई में ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा थी। वह एक अच्छा कवि था, उसने 'रामोल्लास' नामक काव्य लिखा। 'अलंकार-सुधानिधि' में इसकी 'त्रिपुर-विजय', 'महागणपतिस्तव', 'गौरीनाथाष्टक', 'उदाहरणमाला' और 'शृंगार-मंजरी' नामक रचनाओं का उल्लेख मिलता है। बिट्रगुंटा के दानपत्र में भी इन रचनाओं का उल्लेख मिलता है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' सायण के पुत्र सायण माधव की रचना है। बुक्का (प्रथम) के मंत्री माधव सायण के भाई माधव से भिन्न थे। उसने 'भूत-संहिता' पर 'तात्पर्य-दीपिका' टीका के अतिरिक्त उपनिषदों और शैवागमों पर भी टीका लिखी।

अहोबल कवि विद्यारण्य और हरिहर का समकालीन था। उसने हंपी के विरूपाक्षदेव के रथोत्सव का अच्छा वर्णन किया है। कंपन (द्वितीय) की रानी गंगादेवी ने 'मदुरा विजय' अथवा 'वीर कंपराय चरित' नामक ऐतिहासिक काव्य में अपने पति का चरित्र लिखा है। इसके मंत्री इरुगप दंडनाथ के 'नानार्थ रत्नमाला' नामक कोश में भिन्नार्थी अथवा बहुर्थी शब्दों का अर्थ दिया गया है। हरिहर (द्वितीय) के पुत्र विरूपाक्ष (१४०४-१४०६ ई०) की, 'उन्मत्त राघव' (प्रेक्षणक) और 'नारायण-विलास' (नाटक) नाम की दो रचनाएँ मिलती हैं। इसी युग में संस्कृत महाकाव्यों के महान व्याख्याता मल्लिनाथ ने जन्म लिया। मल्लिनाथ ने कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष और भट्टि के महाकाव्यों पर टीका लिखी है। विद्याधर की 'एकावली' और वरदाराज की 'तार्किक रक्षा' पर मल्लिनाथ की व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। 'स्वर-मंजरी-परिमल' और 'प्रशस्तपाद भाष्य टीका' भी मल्लिनाथ की रचना मानी जाती है। कुछ विद्वान 'रघुवीरचरित' को मल्लिनाथ की कृति मानते हैं। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी सोमपीठी ने 'प्रतापरुद्रीय' पर 'रत्नशाण' नाम की प्रसिद्ध टीका लिखी। गिरिनाथ संभवतः मल्लिनाथ का दूसरा बेटा था। 'स्वर-मंजरी-परिमल' मल्लिनाथ की रचना न हो कर इसी गिरिनाथ की रचना है। मल्लिनाथ के पिता कपर्दी 'श्रौत सूत्र कारिका' के लेखक कपर्दी से भिन्न प्रतीत नहीं होते। वैश्यों के संबंध में लिखी गयी छोटी सी गद्य पुस्तक 'वैश्य वंश-सुधाकर' मल्लिनाथ की कृति मानी जाती है। नारायण की लिखी 'चंपू रामायण' की टीका 'पद-योजना' इस समय उपलब्ध है।

नैषधचरित पर 'दीपिका' नामक टीका भी लिखने वाले नरहरि और 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार नरहरि (सर्वस्वतीर्थ) इसी युग के विद्वान थे। श्लेष काव्य 'कविराक्षसीय' के रचयिता कविराक्षस भी इस काल से संबंधित हैं। 'कविराक्षसीय' में सौ सुभाषित हैं। कवि राक्षस ने इन सुभाषितों पर 'श्लिष्टार्थ दीपिका' नामक टीका भी लिखी है। सालुव गोप तिप्पा ने वामन की 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' पर 'तालदीपिका' नामक टीका और 'कामधेनु' नामक व्याख्या लिखी है। 'संगीत रत्नाकर' की 'कला-निधि व्याख्या' (व्याख्याकार कल्लिनाथ) इसी युग की रचना है। डिंडिम कवि उस समय दक्षिण भारत में निवास करते थे। विजयनगर के शासकों ने उन्हें आश्रय दिया था। विजयनगर में ही उन्होंने अनेक कविताएँ लिखी थीं।

कृष्णदेव राय (१५०९-१५२९ ई०) तेलुगु और संस्कृत साहित्य के महान संरक्षक थे। इसी संरक्षण के कारण वे आंध्र भोज कहलाये। सुना जाता है, कृष्णदेव राय ने संस्कृत में अनेक पुस्तकें लिखी थीं, किंतु अब तक इनका जांबवतीकल्याण नाटक' ही उपलब्ध हो सका है। इस काल की एक उत्कृष्ट रचना 'तुक्का चंपू' है, जिसे उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र गजपति की पुत्री और कृष्णदेव राय की पत्नी तुक्कादेवी ने लिखा था। यह पहले लिखा जा चुका है कि कृष्णदेव राय के प्रधान मंत्री सालुवु तिम्मरसु ने अगस्त्य के 'बाल भारत' की टीका लिखी थी। तिम्मरसु के नाडिंडल गोप ने कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' की चंद्रिका टीका लिखी। संगीत विषय पर वंडारु लक्ष्मी नारायण की 'संगीत-सूर्योदय' नामक पुस्तक अच्छी है। कृष्णदेव राय के आस्थानी कवि लक्ष्मीधर ने 'सौंदर्यलहरी' की टीका और कुछ अन्य पुस्तकें लिखीं। लक्ष्मीधर ने ज्यौतिष तथा धर्मशास्त्र के विद्वान कैंचम येल्लपार्य के सहयोग से ज्योतिष के 'दैवज्ञ विलास' नामक ग्रंथ की व्याख्या की। कैंचम येल्लपार्य ने स्वतंत्र रूप से 'कात्यायन गृह्य सूत्र-सारणी' और 'ज्यौतिष-दर्पण' नामक दो पुस्तकें लिखीं। बृहद विवरण के लेखक ईश्वर दीक्षित ने रामायण पर 'लघु विवरण' नामक टीका लिखी। विजयनगर आस्थान में प्रसिद्ध माध्व विद्वान व्यासतीर्थ निवास करते थे। बल्लभाचार्य विजयनगर के आस्थान में आये थे। अच्युत के आश्रित सोमनाथ 'ताल महोदधि' के रचयिता हैं। अच्युत के आस्थान में तिरुमलांबा नामक गुणवती महिला थीं, जिन्होंने अच्युत और वरदांबिका के पाणिग्रहण के अवसर पर 'परिणय चंपू' लिखा था। रामामात्य 'स्वर-मेल-कलानिधि' के लेखक हैं। चेरुकूरि लक्ष्मीधर ने छह प्राकृतों का व्याकरण 'षड्भाषा चंद्रिका' नाम से लिखा। इन्होंने 'गीतगोविंद' पर 'श्रुतिरंजनी' नामक व्याख्या भी लिखी।' प्रसन्नराघव' और 'अनर्घराघव' पर इनकी टीकाएँ मिलती हैं। इसी परिवार के एक अन्य सदस्य यज्ञनारायण ने 'शास्त्रदीपिका' पर 'प्रभामंजरी' नामक टीका के अतिरिक्त 'अलंकारराघव' और 'अलंकार-सूर्योदय' नामक दो अलंकार-ग्रंथ लिखे। अपने पुत्र वेंकटेश के काव्य 'कंकण-बंध रामायण' पर यज्ञनारायण ने टीका लिखी। रायस अहोबिल मंत्री का 'कुवलय-विलास' नाटक उपलब्ध हुआ है।

तंजावूर, वेल्लोर, जिंजी, मदुरा और पेनागुंडा विजयनगर साम्राज्य के अधीन थे, बाद में तेलुगु नायकों ने यहाँ स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। तेलुगु नायकों ने अपने-अपने राज्य में संस्कृत की उन्नति के लिए यत्न किया। गोविंद दीक्षित और उनका पुत्र कृष्ण दीक्षित, सुधींद्र

योगी कुमार ताताचार्य उन विद्वानों में थे, जिन्हें तंजावूर के राजा अच्युतप्पा और रघुनाथ का आश्रय प्राप्त था। कहा जाता है, रघुनाथ स्वयं संस्कृत की कई पुस्तकों का रचयिता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि रघुनाथ गुणी और विद्याप्रेमी नरेश था। इसके आस्थान में रामभद्रांबा और मधुरा-वाणी नामक दो विदुषी स्त्रियाँ थीं। रामभद्रांबा ने 'रघुनाथाभ्युदय' नामक काव्य लिखा तो मधुरा-वाणी ने अपने आश्रयदाता के तेलुगु काव्य 'रामायणसार' को संस्कृत में रूपांतरित किया। तंजावूर के मराठा शासकों के आस्थान के कुछ विद्वान मूलतः आंध्र थे। जिन लोगों को दान में शहाजीपुर मिला था, उनमें श्रीधर वेंकटेश नामक विद्वान भी था। श्रीधर वेंकटेश ने अपने आश्रय-दाता पर 'शाहेंदु विलास' शीर्षक कविता और 'आख्याषष्टि' नामक प्रशस्ति लिखी है। श्रीधर के पुत्र पेरुभट्ट ने 'वसुमंगला' (नाटक), 'चकोर-संदेश' और 'औणादिक पदार्णव' नामक तीन पुस्तकें लिखीं। चोक्कनाथ ने दो नाटक लिखे: 'कांतिमती परिणय' और 'सेवांतिका-परिणय'। निवृत्ति शेष चलपति ने संस्कृत में तेलुगु व्याकरण लिखा। 'भोसलकोसलीय' नामक श्लेष काव्य के रचयिता भी चलपति ही माने जाते हैं। 'गुणरत्नाकर' नामक अलंकार-ग्रंथ में नरसिंह तिम्मय्या ने लक्ष्य के रूप में अपने आश्रयदाता सर्फोजी (द्वितीय) की प्रशंसा में पद लिखे हैं। दक्षिण भारत के महान विद्वान तथा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता अप्पय्य दीक्षित आंध्र नायक चिन्ना तिम्मा के आश्रय में रहते थे। पहले ये सदाशिव राय सेनापति के आश्रित थे। सदाशिव राय के यहाँ रहते समय इन्होंने 'वेदांतदेशिक' पर 'यादवाभ्युदय' नामक टीका लिखी थी। वेल्लोर के चिन्ना बोम्मा नायक के आश्रय में रहते समय इन्होंने 'शिवार्चन-चंद्रिका' की रचना की। पेनागुंडा के वेंकटपति राय के आश्रय में रहते समय 'कुवलयानंद' और 'विधि-रसायन' की रचना की। यह प्रसिद्धि है कि कोंड क्षमाय (कोंडवीडु के शासक) के मंत्री गोविंद की 'हरिवंश-सार-चरित' की व्याख्या लिखते समय अप्पय्य दीक्षित ने सहायता की थी।

जिंजी के सूरप्पा नायक के आश्रय में रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित नामक विद्वान रहते थे। नीलकंठ दीक्षित मदुरा के नायकों के पास और उसका भाई अप्पय्य दीक्षित मदुरा के राजा चोक्कनाथ के मंत्री चिन्ना बोम्मा के यहाँ रहते थे। 'गीतगोविंद' के अनुकरण पर लिखे गये संगीत-प्रधान नाटक 'संगीत राघव' का लेखक चिन्ना बोम्मा संभवतः मदुरा के मंत्री चिन्ना बोम्मा से भिन्न था। वेल्लोर के लिंगय्या के आस्थान-कवि आलूरि सूर्यनारायण ने एक प्रबंध-काव्य लिखा था। जिंजी के कृष्णप्पा नायक के आश्रित लक्ष्मण कवि ने 'कृष्णविलास चंपू' लिखा। सुदूर दक्षिण के तेलुगुभाषी संस्कृत लेखकों में सदाशिव ब्रह्मेंद्रयति, संस्कृत में 'कृष्णलीला-तरंगिणी' नामक गीति-नाट्य के लेखक नारायण तीर्थ और संस्कृत में भक्ति संबंधी अनेक गीतों के रचयिता त्याग-राज उल्लेखनीय हैं।

आंध्र प्रदेश और दक्षिण के आंध्र नायकों के राज्यों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर रहते हुए जिन तेलुगुभाषी विद्वानों और कवियों ने संस्कृत की सेवा की है, उनकी चर्चा यहाँ की जाती है। मैसूर के मंत्री तथा सेनापति नरसिंह ने 'नंजराज यशोभूषण' लिखा। पंडितराज जगन्नाथ दिल्ली के मुग़ल-आस्थान में रहते थे। कहा जाता है, असम के प्राण नारायण और उदयपुर के महाराणा उदयसिंह का आश्रय भी उन्हें प्राप्त था। पंडितराज जगन्नाथ की पाँच लहरियाँ

और 'भामिनी-विलास' गीतिकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं। जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' संस्कृत में मौलिक काव्यशास्त्रीय परंपरा का अंतिम ग्रंथ माना जाता है। 'रसगंगाधर' से पता चलता है कि पंडितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्यशास्त्र के गंभीर ज्ञाता और अच्छे आलोचक थे।

पिछली कुछ शतियों में आंध्र की छोटी-छोटी रियासतों विजयनगरम, सुरपुरम, पीठापुरम और नूजिवीडु ने भी संस्कृत साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। सिप्टु कृष्णमूर्ति शास्त्री को कालहस्ती और पीठापुरम का आश्रय मिला। शास्त्री जी ने 'मदनाभ्युदय' भाण, 'कंकण बंध रामायण' आदि पुस्तकें लिखीं। नूजिवीडु के चर्ला भाष्यकार शास्त्री की रचनाएँ हैं: 'मेकावीशकल्पतरु', 'कंकणबंध रामायण' आदि। पीठापुरम के अवसराल पद्मराजु 'बाल भागवत चंपू' के रचयिता हैं। मुक्तेश्वरम के कोल्लूरु सोमशेखर बहुत विद्वान व्यक्ति थे। 'साहित्य-कल्पद्रुम' और 'अलंकार-मकरंद' इनकी रचनाएँ हैं। विजयनगरम रियासत के आश्रित विद्वानों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं: मुडुंबे नरसिंहाचार्य और परवस्तु वेंकटरंगाचार्य के संयुक्त प्रयासों से संस्कृत का एक विश्वकोश 'शब्दार्थ-सर्वस्व' तैयार हुआ। संस्कृत में हरिकथाओं के लेखक आदिभट्ल नारायणदास, नागेश के 'लघुशब्देंदु-शेखर' पर 'गुरुप्रसाद' नामक टीका के लेखक ताता सुब्बाराय शास्त्री हैं।

सुरपुरम रियासत के आस्थान में तिरुमल बुक्कपटनम परिवार को बहुत प्रसिद्धि मिली। इस परिवार में विशिष्टाद्वैत वेदांत के कई विचारक और कवि उत्पन्न हुए।

कुछ ऐसे लेखक भी हैं, जो किसी राजा के आस्थान में नहीं आये। इस श्रेणी के लेखकों में से कुछ का काल अब तक निर्धारित नहीं हो सका। जिनके बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता है, उन्हीं के संबंध में यहाँ लिखा जा रहा है। इंद्रकांति नारायण 'नैषधचरित' तथा 'पाणिनीय सरणि' के टीकाकार और 'सिद्धांतजन' के लेखक हैं। इनके पुत्र कोंडा ने 'सारंगरस श्रृंगार' नामक भाण लिखा। प्रपौत्र लिंगकालिंदि 'मुकुंद चंपू' के लेखक हैं। तिम्मय्या सूरि सुबंधु के नाटक 'वासवदत्ता' के टीकाकार हैं। एलेश्वर पेद्दिभट्ट ने 'सूक्तिवारिधि' का संकलन किया। अमृतानंद योगी ने १३६० ई० में 'अलंकार'-संग्रह' नामक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ में अक्षरों और गुणों की शुभता-अशुभता और संस्कृत की गौण कविता, उदाहरणकाव्य आदि का परिचय दिया गया है। १४६६ ई० में पोटभट्ट ने 'प्रसंग रत्नावली' नामक संकलन प्रस्तुत किया। इस संकलन का एक संक्षिप्त रूप भी प्राप्त है। विल्लाल परिवार के उमामहेश्वर (अभिनव कालिदास) 'भागवत चंपू', 'पाणिनीयवाद नक्षत्रमाला', 'विरोध-वरूथिनी', 'अद्वैत-कामधेनु' आदि अनेक वेदांत-ग्रंथों के रचयिता हैं। धर्मसूरि ने प्रतापरुद्रीय के अनुकरण पर भगवान श्रीराम की प्रशंसा में 'साहित्य-रत्नाकर' नामक अलंकार ग्रंथ लिखा। 'साहित्य-रत्नाकर' पर टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। धर्मसूरिकी अन्य रचनाएँ हैं : 'नरकासुर विजय व्यायोग', 'बाल भागवत काव्य', 'सूर्यशतक' तथा प्राकृत में 'हंससंदेश' नामक संदेश-काव्य। धर्मसूरि अंतिम दिनों में संन्यासी हो गये थे। संन्यासाश्रम में इनका नाम रामानंद सरस्वती अथवा गोविंदानंद सरस्वती था। संन्यासाश्रम में इन्होंने शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर 'रत्नप्रभा' नामक प्रसिद्ध टीका लिखी। अन्नं भट्ट आंध्र के बहुत बड़े विद्वान थे। इनकी रचनाएँ हैं : 'ब्रह्मसूत्र' पर 'मिताक्षरा' टीका, 'तर्क-संग्रह' और 'दीपिका'

महाभाष्य, 'प्रदीपोद्योतन तत्त्वचिंतामणि दीधिति व्याख्या' आदि। पंद्रहवीं शती के रामचंद्र ने 'प्रक्रियाकौमुदी' लिखी। अप्पय्य दीक्षित के शिष्य कालहस्ति कवि ने तेलुगु प्रबंध काव्य 'रामराज-भूषण' और 'वसुचरित्र' का संस्कृत में अनुवाद किया। 'शृंगारमंजरी' नामक पुस्तक का कृतित्व मुलवर्गा के मुस्लिम दरवेश शाह अकबर हुसेन से जोड़ा जाता है।[1] कहा जाता है, 'शृंगारमंजरी' किसी तेलुगु पुस्तक का अनुवाद है। इस पुस्तक में नायक-नायिका-भेद पर विस्तार से चर्चा की गयी है। १८वीं शती में आंध्र में कोशकारों का एक परिवार प्रसिद्ध हुआ। इस परिवार के सदस्यों ने कोश संबंधी कई पुस्तकों का प्रणयन किया। शांतलरि कृष्णसूरि की 'साहित्य-कल्पलता' का एक भाग 'अमरमंडन' है, जिसमें श्रीहर्ष के 'अमरखंडन' का खंडन किया गया है। 'शब्द-कल्पद्रुम' के रचयिता मामिडि वेंकटाचार्य थे। वेदम पट्टाभिराम शास्त्री ने तमिल 'कुरुल' संस्कृत में रूपांतरित किये।

कुछ लेखकों ने अनेक विषयों पर लेखनी चलायी है। उदाहरण के रूप में कोराड राम-चंद्र और बेल्लम कोंड रामराय कवि को प्रस्तुत किया जा सकता है। आंध्र में आज भी ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है, जो विचारों के आदान-प्रदान में माध्यम के रूप में संस्कृत का प्रयोग करते हैं। पुराने और नये विषयों को ले कर प्राचीन तथा आधुनिक शैलियों में समान रूप से संस्कृत में इस समय भी लेखन-कार्य हो रहा है। परंपरावादी विद्वान विभिन्न शास्त्रों पर संस्कृत में वाद-विवाद करते हैं। व्याकरण, वेदांत, न्याय तथा अन्य विषयों के ग्रंथों को स्पष्ट करने के लिए टीका, व्याख्या अथवा टिप्पणियाँ लिखी जा रही हैं। समय का साथ देने के लिए कुछ विद्वानों ने साहित्य की नयी विधाएँ स्वीकार की हैं।

आंध्र में प्राकृत के विद्वान भी विद्यमान हैं।

अत्यंत प्राचीन काल से अब तक आंध्र में संस्कृत और प्राकृत का प्रचार रहा है। संस्कृत और प्राकृत को तेलुगुभाषी प्रदेश की देन परिमाण और गुण की दृष्टि से किसी अन्य प्रदेश की अपेक्षा कम नहीं है।

—अनु० : श्रीराम शर्मा।

---

१. शाह अकबर हैदराबाद के निवासी थे। शाहराजू कत्ताल के शिष्य, बड़े साहब के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने अपनी पुस्तक 'शृंगार-मंजरी' के आरंभ में गोलकुंडा के अंतिम कुतुबशाह अबुल हसन तानाशाह की प्रशंसा की है।

पोतुकूचि सुब्रह्मण्य शास्त्री

तेलुगु के महान दार्शनिक

बुद्ध-निर्वाण के शत वर्ष अनंतर, आंध्र प्रदेश में, विशेषकर धान्यकटक प्रांत में, महासंघिक नामक बौद्ध प्रकट हुए। ये महासंघिक महायान बौद्ध के अग्रदूत थे। आंध्र महासंघिकों के पास प्रथम 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' पाये गये। 'अष्ट साहस्रिका 'प्रज्ञापारमिता' में बताया गया था कि महायान-सूत्रों का प्रकटीकरण दक्षिण भारत में ही होगा। इन बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपनिषद्काल के अनंतर सर्वप्रथम आंध्र प्रदेश में ही प्रखर दार्शनिक जिज्ञासा तथा तत्वान्वेषण की प्रक्रिया आरंभ हुई थी।

इन पारमिताओं में औपनिषदिक वेदांत-संप्रदाय उपलब्ध होने के कारण यह माना जा सकता है कि इनमें उपनिषद्-विचारधारा तथा बौद्ध विचारधारा में समन्वय लाया गया है। इस प्रकार के समन्वय का प्रयत्न हम गौडपाद की 'मांडूक्य-कारिका' में ही पाते हैं।

आंध्र प्रदेश में आविर्भूत महासंघिकों का केंद्र अधुनातन काल में 'धरणिकोट' नाम से व्यवहृत प्राचीन 'धान्यकटक' ही है। यह नागार्जुनकोंड के समीप ही है। इस भू-भाग के आसपास जन्म लिये हुए बोधिसत्व नागार्जुन महाचार्य तथा उनके शिष्य आर्यदेव आंध्र ही थे। इन्होंने माध्यमिक बौद्ध दर्शन का प्रचार किया था। सांप्रदायिक मान्यता यह है कि आचार्य नागार्जुन के गुरुदेव श्री सरोरुहभद्र अथवा सरह ने, धान्यकटक में रहते समय, सुखावती नामक दिव्यभूमि का दर्शन किया था। परवर्ती काल के प्रासंगिक माध्यमिक दर्शन के आचार्य श्री भावविवेक भी धान्यकटक के निवासी थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान च्वांग ने लिखा था कि जनश्रुति है कि 'असुरप्रासाद' नामक गुहा में भावविवेक, बोधिसत्व मैत्रेय के पुनरागमन की प्रतीक्षा कर रहा है। तिब्बत देशवासियों का संप्रदाय-वचन यह है कि आचार्य मैत्रेय ही परवर्ती काल में शंकर भागवत्पाद के रूप में प्रकट हुए।

भावविवेक के समकालिक, चंद्रकीर्ति के गुरु तथा माध्यमिक दर्शन के आचार्य श्री 'बुद्धपालित' आज के भद्राचल प्रांत के निवासी थे। वहाँ के 'समतट' नामक नगर के निवासी श्री चंद्रकीर्ति थे। इस प्रकार यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि माध्यमिक बौद्धदर्शन के प्रधान आचार्य सभी आंध्र ही थे। अतएव विवरण-प्रस्थानानुसारी अद्वैत जो माध्यमिकवाद के निकट है, आज भी आंध्र प्रदेश में पाया जाता है।

बौद्ध धर्म के विज्ञानवाद के महातार्किकों में दिङ्नाग का अद्वितीय स्थान है। दिङ्नाग के अभाव में, यह कहा जा सकता है कि हमें सही मानों में न्यायदर्शन ही उपलब्ध नहीं होता।

इसका जन्मस्थान सिंहपुरि था, जो आजकल नेल्लूरु कहा जाता है। बहुत समय तक इन्होंने वेंगी (गोदावरी जिले में स्थित) नामक स्थान पर निवास कर के वहीं पर अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रमाणसमुच्चय' का प्रणयन किया था। कतिपय प्रमाणों से यह लक्षित होता है कि महामीमांसक कुमारिल भट्ट ने इनके यहाँ न्यायदर्शन का अध्ययन किया था।

पूर्व मीमांसा के सुविख्यात एवं स्वनामधन्य विद्वान कुमारिल भट्ट का अभिजन जयमंगल नामक आंध्र प्रदेशीय ग्राम था। इनका भागिनेय प्रसिद्ध बौद्ध-योगाचार दार्शनिक धर्मकीर्ति 'त्रिमलय' नाम से व्यवहृत श्रीशैल के निवासी थे। इन्होंने न्यायदर्शन की सहायता से विज्ञान-वाद की सुस्थिर प्रतिष्ठा की। इन्होंने अपने 'वाद न्याय' में 'मुक्कु'[1] आदि तेलुगु शब्दों का प्रयोग किया था।

तिब्बती इतिहासवेत्ताओं के अनुसार, सुविख्यात विज्ञानवादी तथा प्रसिद्ध वैयाकरण जिनेंद्रबुद्धि ने भी दिङ्नाग के अभिजन अर्थात नेल्लूरु अथवा सिंहपुरी में ही जन्म लिया था।

धान्यकटक में ही इन वादों के साथ बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा भी प्रस्फुटित हुई थी। तिब्बती सांप्रदायिक विश्वासों के अनुसार ज्ञानोदय के सोलह वर्ष अनंतर महात्मा बुद्ध धान्यकटक आये और वहाँ वज्रयान के द्वारा तीसरे धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। आज भी जग्गय्यपेट के समीप वज्रालदिन्ने नामक स्थान है। 'उड्यान', 'ओड्डियान', 'ओडियान', 'ओर्ग्यान', 'उद्यान', 'उर्ग्यान' आदि विभिन्न नामों से व्यवहृत सीमा की राजधानी था धान्यकटक। वज्र का मतलब है 'शून्यता'। इस वज्र के साधक तांत्रिक बौद्ध थे। इनकी देवियों में 'छिन्नमस्ता', 'चंडी', 'तारा', 'सर्वमंगला' आदि शक्तियों के शक्तिरूप पाये जाते हैं। विजयवाड़ा में विराजमान 'कनकदुर्गा' का विग्रह प्राचीन काल में बोधिसत्व मंजुश्री के रूप में पाया गया था। आज का मंगलगिरि भी प्राचीन काल की एक तांत्रिक शक्ति की आवासभूमि रहा। श्रीशैल में भ्रामरी शक्ति थी। आज तिरुपति में विराजमान बालाजी किसी समय मंजुश्री और सर्वमंगला के रूप में विश्रुत था। ये है शक्तियों की बाला।

वज्रयान के प्रसिद्ध आचार्यों में पद्मवज्र, अनंगवज्र, इंद्रवज्र, इंद्रभूति आदि थे। इंद्रभूति धान्यकटक के अधिपति थे। इनके पुत्र पद्मसंभव ने अपने श्यालक शांतरक्षित के साथ तिब्बत जा कर वहाँ बौद्ध धर्म को प्रविष्ट किया था। तात्पर्य यह है कि तिब्बत में आज दिखायी देने वाला बौद्ध धर्म सर्वप्रथम आंध्रों के द्वारा आठवीं शती ई० में प्रविष्ट हुआ था। वज्रयान में तांत्रिक तथा माध्यमिक सिद्धांत घुल-मिल गये। इसी के फलस्वरूप अद्वैत वेदांत के पीठों में (श्रृंगेरी तथा कांची) शाक्त एवं अद्वैत मतों का विलीनीकरण हो चला।

माध्यमिक वाद और वज्रयान की सुस्थिर प्रतिष्ठा के कारण, आंध्र के अद्वैतावलंबियों ने भामती-प्रस्थान को स्वीकार नहीं किया। आंध्रों ने 'विवरण-प्रस्थान' को अपनाया। विवरण-प्रस्थान में माध्यमिकवाद ने समन्वित विज्ञानवाद का बोध दिलाने वाला दर्शन निहित है। एवंविध समन्वयात्मक दर्शन के लिए, आंध्र प्रदेश ही आवास-भूमि है। परिणामतः दार्शनिक

---

१. 'मुक्कु' का अर्थ है 'नाक'—अनुवादक।

जगत कुछ अंशों में उपकृत हुआ था। शांकराद्वैत में तो हीनयान की भांति केवल व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्यों का ही ग्रहण हुआ था, परंतु आंध्र प्रदेश में संलब्ध अनेकानेक परिणामों के कारण, 'विवरण-प्रस्थान' के साथ प्रातिभासिक सत्य भी अद्वैत में स्वीकृत हो पाया। योगाचारियों ने विज्ञान-क्षणिकत्व को मान्यता दे कर केवल दो प्रमाणों को माना था। परंतु माध्यमिकों के द्वारा न केवल भिन्न प्रमाण गृहीत हुए, अपितु क्षणिकत्व की आधारभूत अक्षणिकत्व ही मानी गयी। माध्यमिकों की 'शून्यता' की व्याख्या बौद्ध अभाव रूप में करने पर भी कुमारिल के 'भावांतरमभावोहि' कथन के द्वारा शून्यता में 'भावरूपता' की सिद्धि प्राप्त हुई। इससे अद्वैतों का अज्ञान भावपदार्थ बना था। उस पर धान्यकटकवासी, भावविवेक अनिवर्चनीयतावाद की स्थापना करने लगा। यही नहीं, आंध्र प्रदेशीय बौद्ध दार्शनिक किसी न किसी समय पर सांख्यमतानुयायी ही रहे थे, अतः अद्वैतियों ने बड़ी तीव्रता के साथ सांख्येयों की आलोचना की। प्राचीन अद्वैतावलंबियों के लिए प्रधान शत्रु सांख्य दर्शन ही था। अतः प्रधान-मल्ल-निवर्हण न्याय' के अनुसार, शांकर भाष्य में सांख्य मत को पूर्व पक्ष किया गया था। अर्वाचीन अद्वैतियों के लिए तो दिङ्नाग के कारण, नैयायिक ही प्रधान शत्रु बन गया। सांख्य दर्शन से कुछ हद तक प्रभावित 'प्राभाकर मीमांसा' को त्याग कर अद्वैतियों के 'भाट्ट मीमांसा' के प्रमाणों को स्वीकार करने में माध्यमिकवादी ही कारणभूत थे। अतः अद्वैतियों ने 'व्यवहारे भाट्ट नयः' कर के घोषित किया था। संसार और निर्वाण में अभेद बताने वाले नागार्जुन का अनुसरण करते हुए, अद्वैतियों को जगत तथा ब्रह्म में तादात्म्य घोषित करना पड़ा।

नागार्जुनकोंड पर उपलब्ध शिलालेखों के अनुसार यह लक्षित होता है कि सर्वप्रथम वहाँ के उत्तर-शैल-बौद्धों ने 'धर्मधातुवाद' को उठाया था। यही धर्मधातु माध्यमिका के द्वारा 'शून्य' में तथा अद्वैतियों के द्वारा 'निर्गुण ब्रह्म' में परिणत हुआ।

माध्यमिकों के 'प्रासंगिक मार्ग' के ग्रहीता चित्सुखाचार्य वाल्तेयर के निकटवर्ती सिंहाचल के निवासी थे। इन्होंने यह घोषित किया था कि सर्वभाव व्याघात-भूयिष्ठ हैं तथा अनवस्था-दोष-दूषित हैं। ये अनिर्वचनीयतावाद के प्रतिष्ठाता थे। इनके शिष्य सुखप्रकाशयति थे, जो कल्पतरुप्रणेता अमलानंद के गुरु थे। इससे यह बताया जा सकता है कि भामती-प्रस्थान का प्राण आंध्र में ही संपन्न हुआ था। आंध्र प्रदेश के भाट्टानुयायी अद्वैती भामती को सुगमता के साथ इसलिए निराकरण नहीं कर सके कि आंध्र प्रदेशीय कुमारिल भट्ट ही भामतीकार के लिए आधार-स्तंभ रहे। फिर भी यह मानना पड़ता है कि आंध्र प्रदेशीय अद्वैतियों के लिए संप्रदायानुगत दर्शन विवरण-प्रस्थान में ही है। इसीलिए परवर्ती काल के दार्शनिक सभी विवरणानुयायी ही दिखायी देते हैं। इनमें भारती तीर्थ भी सम्मिलित हैं।

एक समय श्रीशैल प्रांत माध्यमिकों का प्रधान केंद्र-स्थान रहा था। इसीलिए शांकर पीठों में से एक , पुष्पगिरि पीठ की स्थापना यहाँ पर हुई थी। यह विरूपाक्षपीठ कहलाता है। इसके प्रतिष्ठाता स्वामी विद्यारण्य अर्वाचीन अद्वैतियों में प्रमुख आचार्य पुरुष थे। इनके ग्रंथों में 'वेदांत पंचदशी', 'विवरणप्रमेयसंग्रह', 'वार्तिकसार', 'जीवन्मुक्ति-विवेक' आदि उल्लेखनीय हैं।

शुद्धानंद के शिष्य आनंदगिरि तथा स्वयंप्रकाशित अद्वैत मत के ही थे। स्वयंप्रकाश तथा अखंडानंद के शिष्य तथा 'तत्वदीपन' के प्रणेता श्री अखंडानंद आंध्र थे। द्राविड़ प्रदेश में सोलहवीं शती ई० में भामती-प्रस्थान तथा विशिष्टाद्वैत में समन्वय लाने के प्रयत्न करने वाले श्री अप्पय्य दीक्षित आंध्रवंशीय थे। इन्होंने भामती, विवरण, भाट्ट मीमांसा तथा विशिष्टाद्वैत को समन्वित करना चाहा था। समन्वय के इस महान अनुष्ठान में विज्ञानवाद तथा माध्यमिक वादों को भी सम्मिलित करने वाले श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के भी आंध्र होने में अवश्य ही कोई महान सृष्टि-वैचित्र्य छिपा हुआ है।

—अनु० : हनुमच्छास्त्री अयाचित।

चावलि सूर्यनारायण मूर्ति

आंध्र भाषा का रामायण-साहित्य

ज्ञात रूप से आंध्र भाषा के साहित्य का प्रारंभ होने के समय तक आंध्र प्रदेश के धार्मिक वातावरण पर कुमारिल भट्ट (७वीं शताब्दी) के पूर्व मीमांसापरक कर्मकांडप्रधान वैदिक धर्म और शंकराचार्य (८वीं शताब्दी) के अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था और जैन तथा बौद्ध धर्मों का प्रभाव क्षीण हो गया था। ऐसी स्थिति में पुनरुदीयमान वैदिक धर्म को सुस्थापित करने के लिए उस समय के (११वीं शताब्दी) आंध्र के पूर्वी चालुक्य राजा राजराजनरेंद्र के आश्रय में तेलुगु के आदि कवि नन्नय के द्वारा महाभारत का प्रारंभ से ले कर अरण्य पर्व तक अनुवाद हुआ, जो आंध्र-साहित्य का प्रथम ग्रंथ माना जाता है। उसके बाद वीर शैव धर्म का बोलबाला इतना रहा कि कृष्ण-महिमा के प्रतिपादक महाभारत का निर्माण प्रायः दो सौ वर्षों तक रुक गया। तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में फिर कवि ब्रह्मतिक्कन्न ने काव्य-क्षेत्र में प्रवेश कर अपने हरिहर तत्वों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण के द्वारा धार्मिक वातावरण को भी एक समन्वयात्मक रूप दिया था। उन्होंने सर्वप्रथम 'निर्वचनोत्तर रामायण' लिखी, जो आंध्र का सर्वप्रथम राम-काव्य है। अपने जीवन के अंतिम भाग में उन्होंने नन्नय से प्रारंभ किये गये महाभारत का अनुवाद विराट पर्व से ले कर अंत तक पूरा किया। अरण्य पर्व का आधा भाग जो शेष रह गया था, बाद में एर्रन्न ने पूरा किया। इसके अनंतर वैष्णव धर्म का भी प्रचार बढ़ने से चौदहवीं शताब्दी में विष्णु के अवतार के प्रतिपादक रामायणों की रचना होने लगी।

जैसा ऊपर कहा गया है कि तेरहवीं शताब्दी में उत्तर रामायण की रचना की गयी थी। इसके अनंतर चौदहवीं शताब्दी में निर्मित रामायणों में रंगनाथ 'रामायण' और 'भास्कर रामायण' बहुत प्रसिद्ध हैं। एर्रन्नकृत रामायण का भी उल्लेख मिलता है, किंतु वह अब तक अप्राप्त है। इसी प्रकार इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निर्मित कोरवि सत्यनारायण का रामायण भी प्राप्त नहीं है। इसके बाद १६वीं शती में निर्मित मोल्ल रामायण, रामाभ्युदयमु, राघव पांडवीयमु तथा १७वीं शताब्दी में रचित रघुनाथ रामायण, वरदराजुरामायण, एकोजी रामायण, उत्तर रामायण आदि ग्रंथ भी प्रसिद्ध हुए। १८वीं शताब्दी में 'अच्च तेलुगु रामायण' लिखी गयी है। इनके अलावा आंध्र महाभारत के अरण्य पर्व तथा आंध्र महाभागवत में भी रामोपाख्यान मिलते हैं। रामायण की आंशिक कथा को ले कर भी राम-साहित्य निर्मित हुआ, जो विशेषतः यक्ष-गानों के रूप में मिलता है, जिनमें १६वीं शताब्दी में लिखित सुग्रीव-विजय प्रसिद्ध है। यक्ष-गानों में लिखे पूरे रामायण भी मिलते हैं, जिनमें

'इल्लिदकुंट रामायण' का उल्लेख किया जा सकता है। मध्यकाल के बाद आधुनिक काल में भी वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण के अनुवाद के रूप में कई रामायणों की रचना हुई और अब भी हो रही है। आधुनिक काल का 'रामायण कल्प-वृक्ष' एक सुंदर और प्रौढ़ रचना है, जिसमें कवि की मौलिक प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है।

आंध्र के रामायणों की काव्य-वस्तु वही है, जो वाल्मीकि रामायण की है, यद्यपि उसके विकास और प्रतिपादन में कवियों की मौलिकता प्रस्फुटित होती है। रामायण के कवियों ने वाल्मीकि रामायण को प्रधान आधार मानते हुए भी अन्य संस्कृत राम-काव्यों, लोककथाओं आदि से काव्य-सामग्री का चयन कर के अपने काव्यों की रचना की है। यही कारण है कि आंध्र के रामायणों में ऐसे बहुत से प्रसंग मिलते हैं, जो वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं। विषय-प्रतिपादन और चरित्र की दृष्टि से यदि देखा जाय तो वाल्मीकि और आंध्र के कवियों के दृष्टिकोण में बहुत समानता पायी जाती है, यद्यपि तेलुगु कवियों ने भक्ति का अंश वाल्मीकि की अपेक्षा थोड़ा अधिक समाविष्ट किया है। किंतु यह ध्यान में रखने की बात है कि जिस प्रकार महाभारत की रचना में कर्मकांडप्रधान वैदिक धर्म के उन्नयन की दृष्टि थी और बाद के वीरशैव-साहित्य में शैव-भक्ति के प्रचार का उद्देश्य था, उस प्रकार का कोई धार्मिक उद्देश्य राम-साहित्य की रचना में नहीं था। राम के आदर्श जीवन ने यहाँ के कवियों को आकृष्ट किया, जैसा कि तिक्कन्न और रंगनाथ ने अपने ग्रंथों के आरंभ में कहा था। तिक्कन्न ने 'निर्वचनोत्तर रामायण' में कहा कि 'धीरोदात्त नृप राम का सद्वृत्त किसी भी समय संभाव्य और कथनीय है। इसलिए उत्तर रामायण कहने को मैं उद्यत हुआ।' रंगनाथ रामायण के अवतरण में कहा गया है कि तुम रामायण की रचना इस प्रकार करो कि उसका पुराण मार्ग न छूटे और कवींद्र तथा पंडित लोग उसकी प्रशंसा करें। यही दृष्टिकोण बाद के रामायण कवियों का भी रहा। इससे विदित होता है कि विशुद्ध आदर्श-वादी और साहित्यिक दृष्टि से कवियों ने रामायणों की रचना की थी, किसी धर्मविशेष या भक्ति के प्रचार की दृष्टि से नहीं। यही कारण है कि अध्यात्म रामायण का प्रभाव आंध्र के राम-साहित्य पर अपेक्षाकृत कम है, जो विशुद्ध भक्ति और आध्यात्मिक दृष्टिप्रधान ग्रंथ है। यद्यपि आंध्र के रामायण कवियों ने राम को विष्णु का अवतार माना और पात्रों के मुँह से परब्रह्म के रूप में राम की स्तुति भी करायी तो भी उन्होंने राम को मानवता की परिधि में ही चित्रित किया।

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त अपनी सामग्री का मूल कथा के साथ सुंदर समन्वय कर के तेलुगु के कवियों ने साहित्यिक दृष्टि से उसको बहुत सुंदर और हृदयग्राह्य बनाया। इसके लिए आव-श्यकता के अनुसार कहीं-कहीं मूल के वर्णनों और प्रसंगों को संक्षिप्त बनाया और कहीं-कहीं बढ़ाया; कुछ नये प्रसंग भी जोड़े और अपनी वस्तु को अधिक तर्कपूर्ण और सुगठित बनाया। किंतु मध्यकाल के किसी कवि ने वाल्मीकि का हू-बहू अनुवाद नहीं किया। यही कारण है कि आधुनिक काल में वाल्मीकि रामायण के अक्षरशः अनुवाद की आवश्यकता महसूस हुई तो गद्य और पद्य में वह कार्य संपन्न हुआ।

संस्कृत की महाकाव्य-परंपरा में थोड़े अंतर के साथ लिखे गये काव्य आंध्र के राम-साहित्य में कई मिलते हैं; तिक्कन्न का निर्वचनोत्तर रामायण महाकाव्य, रंगनाथ रामायण, भास्कर

रामायण आदि। 'साहित्यदर्पण' के महाकाव्य-लक्षण के अनुसार निर्वचनोत्तर रामायण की कथा-वस्तु सर्गों में विभाजित न हो कर आश्वासों में विभाजित है। इस विभाजन पर प्राकृत काव्यों का प्रभाव है। दूसरा अंतर यह है कि इसमें प्रत्येक आश्वास में अनेक प्रकार के छंद जैसे सीस पद्य, उत्पलमारा, चंपकमाला आदि प्रयुक्त किये गये हैं। इसमें आंध्र काव्य-परंपरा के अनुसार गद्य का प्रयोग कहीं नहीं किया गया है। इसलिए इसको 'निर्वचन' (गद्यविहीन) कहा गया है। अन्य सब लक्षण संस्कृत महाकाव्य के मिलते हैं। इसमें दस आश्वास हैं। इस महाकाव्य की परंपरा में शृंगार को प्रधानता दे कर तेलुगु में एक और काव्य-शैली विकसित हुई है, जिसे प्रबंध-शैली कहते हैं। 'रामाभ्युदयमु' और 'श्रीमदुत्तररामायण' इस शैली के प्रधान राम-काव्य हैं। विषय-विस्तार और निर्वहण की दृष्टि से रंगनाथ रामायण, भास्कर रामायण, मोल्ल रामायण और रघुनाथ रामायण भी महाकाव्य-परंपरा में ही आते हैं। राम-कथा के किसी अंश को ले कर लिखे गये खंड-काव्य भी आंध्र भाषा में मिलते हैं, जैसे सुग्रीवविजयमु, सीता-कल्याणमु आदि।

अब यदि छंदः शैली की दृष्टि से देखा जाय तो आंध्र रामायणों की प्रधान शैली चंपू शैली है, जिसमें गद्य और पद्य लिखे जाते हैं। इस शैली में भास्कर रामायण, मोल्ल रामायण, रामाभ्युदयमु, उत्तर रामायण, रघुनाथ रामायण आदि प्रमुख ग्रंथ हैं। इन चंपू-काव्यों में, जैसा पहले कहा गया है, अनेक प्रकार के संस्कृत और देशी छंदों का प्रयोग मिलता है। दूसरी शैली द्विपद शैली है, जिसमें लिखी गयी सर्वप्रथम रामायण रंगनाथ रामायण है। द्विपद छंद वाल्मीकि रामायण के अनुष्टुप छंद के समान पढ़ने और गाने के योग्य है। रंगनाथ ने अपने रामायण का साधारण जनता में विशेष प्रचार करने के उद्देश्य से इस गीतात्मक छंद को लिया है। इस प्रकार इस रामायण में वाल्मीकि रामायण का काव्य-रूप थोड़े परिवर्तन के साथ सुरक्षित है। इस शैली में वरदराजु रामायण और एकोजी रामायण भी मिलते हैं। तीसरी शैली यक्ष-गान की है, जिसमें एला, दरुवु आदि देशी गीतात्मक छंद प्रयुक्त होते हैं। कथोपकथनात्मक होने के कारण इनको नाटक भी कहा जाता है, जो आधुनिक नाटकों का प्रारंभिक रूप माना जाता है। इस शैली में सुग्रीवविजयमु और सीता-कल्याणमु आदि रचनाएँ मिलती हैं। आधुनिक काल के बहुत से रामायण चंपू-शैली के हैं, जैसे वाल्मीकि रामायण, रामायण कल्पवृक्ष आदि।

पहले लिखा जा चुका है कि मध्यकाल के आंध्र रामायणों में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं, जो वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं, जिनके कारण उनमें वस्तु संबंधी विशेषता आ गयी है। अब हम ऐसे एकाध उदाहरणों का परिचय कराएंगे।

१. रंगनाथ रामायण के बालकांड में दाशरथियों की बाल्यावस्था का वर्णन करते हुए कवि ने उनकी कंदुक-क्रीड़ा का उल्लेख किया है, जिसका प्रभाव रामके भविष्य-जीवन पर पड़ा। चारों भाई बचपन में सब लोगों के प्रेम-पात्र हो कर अपनी अटपटी चालों तथा तोतली बोलियों से सबको आनंद पहुँचाते थे। एक दिन राम अपने मित्रों के साथ गेंद और डंडा ले कर खेल रहे थे। इतने में कैकेयी की दासी ने आ कर कौतूहलवश गेंद को अपने हाथ से मारा तो राम को बड़ा गुस्सा आया और मंथरा की टाँग पर डंडा दे मारा। बेचारी मंथरा की टाँग टूट गयी। तब उसने

जा कर कैकेयी से शिकायत की और उसने दशरथ से कहा। दशरथ ने तब विचार कर वशिष्ठ को बुलाया और बालकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध किया। यह घटना वाल्मीकि रामायण में नहीं है और रंगनाथ की स्वतंत्र उद्भावना है। इसका आधार अग्निपुराण में मिलता है।[1] इससे कथा के विकास में मानवोचित स्वाभाविकता आ गयी है। बालकों के विकास के क्रम में कभी एक ऐसी अवस्था भी आ जाती है, जब उनको अपने खेलों में दूसरों को बाधा डालते देख कर उन पर गुस्सा आ जाता है और ढिठाई से उनको उस चीज़ से मारते हैं, जो उस समय उनके हाथ में रहती है। वही समय उनको शिक्षा में लगाने का होता है, अन्यथा उनकी ढिठाई बढ़ती जाती है। जब दशरथ ने सुना कि राम ने गुस्से में आ कर मंथरा की टाँग तोड़ दी, उन्होंने सोचा कि अब बच्चों को सुशिक्षित बनाने का समय आ गया है, ऐसे ही छोड़ देना नहीं चाहिए। तुरंत उनकी शिक्षा का प्रबंध कर दिया। इस घटना का यहीं अंत नहीं हुआ। इसका बुरा परिणाम अयोध्या-कांड में देखा जाता है, जब मंथरा इस क्रोध को मन में रख कर राम के राज्य-निर्वासन का कारण बनती है और उनकी जीवन-धारा को ही अदृष्ट दिशा की ओर मोड़ देती है। इस घटना का सन्निवेश इस बात का प्रमाण है कि रंगनाथ ने राम को विष्णु का अवतार मानते हुए भी उनमें अलौकिक बात की अपेक्षा मानवीय स्वाभाविकता दिखाने का प्रयत्न किया है। इस घटना का उल्लेख कुछ परिवर्तित रूप में भास्कर रामायण में भी मिलता है।

२. श्रृंगवेरपुर में गंगा के तट पर जब राम और सीता सो जाते हैं, तब लक्ष्मण धनुष-बाण ले कर उनकी रक्षा में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ रंगनाथ रामायण में एक विचित्र घटना होती है। पहरा देते हुए लक्ष्मण प्रतिज्ञा करते हैं कि चौदह वर्षों तक वनवास भर में वे नहीं सोयेंगे और भाई-भाभी की रक्षा करते रहेंगे। उस समय निद्रादेवी माया का रूप धारण कर उनके सामने आती है और कहती है कि मैं निद्रादेवी हूँ। हे मानी! विधि ने मेरे लिए तुम्हारे साथ-साथ रहने का विधान बनाया है। मैं कैसे आपको छोड़ सकती हूँ! कोई मार्ग बताइए।" तब लक्ष्मण कहते हैं कि तुम उर्मिला में जा कर दिन-रात वास करो। वनवास की अवधि पूरी होने के बाद आ कर मैं तुमको ग्रहण करूँगा।" निद्रा देवी इसे स्वीकार कर के चली जाती है और लक्ष्मण भी प्रसन्न होते हैं कि मुझे इस देवी का अनुग्रह प्राप्त हुआ। यह घटना रंगनाथ की कल्पना है। इसके सन्निवेश से उर्मिला के प्रति कवि की सहानुभूति व्यक्त होती है। कुछ समय पहले तक यह जो माना जाता रहा कि भारतीय साहित्य में उर्मिला उपेक्षित रही और उसके प्रति किसी कवि ने सहानुभूति नहीं दिखायी। वह भ्रम है। चौदहवीं शताब्दी में निर्मित इस रंगनाथ रामायण की उक्त घटना में उसके प्रति कवि की सहानुभूति दिखायी पड़ती है।

३. रंगनाथ रामायण में अरण्य कांड में जंबु कुमार का प्रसंग अपना विशेष महत्व रखता है, जो रावण को सीता-हरण की प्रेरणा देने वाली शूर्पणखा के प्रवेश का कारण बनता है। जंबु कुमार शूर्पणखा का पुत्र था, जिसका अनजान में लक्ष्मण ने वध कर दिया था। यह बात वहाँ के

---

१. पादौ गृहीत्वा रामेण कर्षिता साऽपराधतः।
तेन वैरेण सा रामं वनवासं च कांक्षति ॥अग्नि०। अ० ६–८॥

ऋषियों के द्वारा जान कर शूर्पणखा उनसे बदला लेने की भावना से राम की कुटी के पास पहुँच जाती है और उनके सौंदर्य पर मोहित हो जाती है। यह प्रसंग रंगनाथ ने आनंद रामायण के आधार पर सन्निविष्ट किया और शूर्पणखा का प्रवेश राम के जीवन में सकारण दिखाया। आगे की कथा वाल्मीकि रामायण के समान ही है। यह प्रसंग भास्कर रामायण में वर्णित है।

४. इंद्रजीत की पत्नी सुलोचना का प्रसंग भी रंगनाथ रामायण की एक विशेषता है, जिसका भी आधार आनंद रामायण है। सती सुलोचना अपने पति इंद्रजीत की मृत्यु पर शोक-संतप्त हो कर युद्ध-क्षेत्र में जाती है और अपनी भक्ति के द्वारा राम को प्रसन्न कर के पति का शव प्राप्त कर लेती है और उसके साथ सती हो जाती है।

अन्य प्रसिद्ध रामायणों में मोल्ल रामायण एक है। जिसकी कथा वाल्मीकि के अनुसार यद्यपि संक्षेप में वर्णित है, किंतु फिर भी कुछ अवाल्मीकीय प्रसंग उसमें भी मिलते हैं। जैसे केवट-गुह का प्रसंग। बनवास को जाने वाले राम जब गंगा पार करने के लिए गुह से नाँव माँगते हैं, तब वह कहता है कि सुना है कि आपके चरणों में पत्थर को स्त्री बनाने वाली औषधि है, इसलिए आपके चरण धो कर ही मैं आपको अपनी नाँव पर चढ़ाऊँगा। यों कह कर वह राम के चरण धोता है। यह प्रसंग हिंदी के 'रामचरितमानस' में भी मिलता है। इसका आधार अध्यात्म रामायण और आनंद रामायण में मिलता है। इस प्रकार यह विदित होता है कि आंध्र का रामायण-साहित्य वाल्मीकि का अनुसरण करते हुए भी वस्तु-विन्यास में अपनी मौलिकता का परिचय देता है।

वस्तु-विन्यास के बाद रामायण कवियों ने रस-परिपाक पर अधिक ध्यान दिया है, क्योंकि साहित्य की आत्मा रस ही मानी गयी है। इस बात को सब कवियों ने चरितार्थ कर के दिखाया। इन रामायणों में यद्यपि नवों साहित्यिक रस पूर्ण मात्रा में निष्पन्न दिखायी पड़ते हैं, किंतु फिर भी रंगनाथ रामायण और उत्तर रामायण में श्रृंगार और करुण रस तथा भास्कर रामायण में वीर, रौद्र और भयानक रस विशेष रूप से अपना सौंदर्य दिखाते हैं।

आधुनिक काल के 'रामायण कल्पवृक्ष' में भी कवि की दृष्टि रस-परिपाक और चरित्र-चित्रण की ओर अधिक जागरूक है। एक उच्च तेलुगु रामायण को छोड़ कर अन्य सब रामायणों की भाषा संस्कृत तत्सम शब्दों एवं समासों से भरी हुई है, क्योंकि आंध्र की साहित्यिक भाषा की यह भाषासंबंधी प्रधान विशेषता है। आज भी यह विशेषता लक्षित होती है।

अब अंत में उपसंहार के तौर पर यह कहा जा सकता है कि आंध्र का रामायण-साहित्य साहित्यिक सौंदर्य-प्रधान है और उसमें भक्ति का तत्व गौण है। इसकी रचना अलौकिकता की अपेक्षा मानवतावादी दृष्टि से अधिक की गयी है। इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि इस रामायण-साहित्य में प्रतिबिंबित संस्कृति देव में आसेतु हिमाचल परिव्याप्त भारतीय संस्कृति ही है। जो अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी प्रतिबिंबित है।

—अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
ए० एन० जैन कॉलेज, मद्रास।

कवि सम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण

तेलुगु भाषा में 'महाभारत'

संस्कृत के काव्य वाङमय में वाल्मीकि एवं व्यास का जो गरिमामय स्थान है, तादृश स्थान तेलुगु में नन्नय्य और तिक्कन्न को प्राप्त है। स्थिति में अंतर इतना ही है कि जहाँ संस्कृत में रामायण की रचना वाल्मीकि ने तथा महाभारत की रचना व्यास ने की, वहाँ तेलुगु में नन्नय्य और तिक्कन्न की सम्मिलित काव्य-सृष्टि एकमात्र महाभारत है। दोनों ने अलग-अलग भारत नहीं लिखे, बल्कि एक ही महाभारत की रचना दोनों के द्वारा संपन्न हुई थी। पहले तीन पर्वों का प्रणयन नन्नय्य ने किया तो अवशिष्ट पंद्रह पर्वों की रचना तिक्कन्न ने की थी। अरण्य पर्व के कुछ अंश की रचना एर्रन्न के द्वारा हुई। इन तीनों का सम्मिलित नाम कवित्रय है। इनमें एर्रन्न के विषय में पृथक रूप से कहने की कुछ आवश्यकता नहीं है। एर्रन्न वास्तव में नन्नय्य और तिक्कन्न के शिष्यकल्प प्रतीत होते हैं। अतः नन्नय्य और तिक्कन्न के संबंध में जो भी वर्णन किया जाता है, उसमें कतिपयांश आप ही आप एर्रन्न पर घटित हो जाता है।

संस्कृत वाङमय में रामायण एवं महाभारत दोनों हिमगिरि शिखर जैसे हैं। तेलुगु में इन दो शिखरायमाण कृतियों का स्थान एक 'महाभारत' ही ग्रहण करने में समर्थ है। तेलुगु में दो कृतियों के स्थान पर दोनों कवि--नन्नय्य और तिक्कन्न--तेलुगु साहित्य के शिखर रूप माने जा सकते हैं।

'महाभारत' तेलुगु का व्यवहार है। अतः संस्कृत में उपलब्ध काव्य को भी हम 'महाभारत' ही कहेंगे। सर्वप्रथम हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'महाभारत' का मूल रूप संस्कृत में किस प्रकार रहा? उसको नन्नय्य एवं तिक्कन्न ने किस प्रकार तेलुगु में रूपायित किया है? भारत को आप चाहे पुराण कहिए, वेदकथा-संदोह कहिए अथवा कहिए सर्वधार्मिक विषयों का रत्नाकर, आप जो भी कहिए, परंतु संस्कृत में वह उस भाषा-सरस्वती का द्वितीयावतार ही तो है। प्रत्युत आंध्र में महाभारत तेलुगु-भाषा-सरस्वती का प्रथमावतार है। संस्कृत में कालिदास, भवभूति आदि गण्यमान्य अनेकानेक कवियों के होते हुए भी समग्र साहित्य-शिल्प की पराकाष्ठा एवं प्रथम-परिगण्यता वाल्मीकि एवं व्यास को तथा रामायण और महाभारत को ही दी जाती है। संस्कृत में रामायण से बढ़ कर अन्य कोई महाकाव्य नहीं है। शिल्प-विन्यास में वाल्मीकि अप्रतिम और अद्वितीय कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यहाँ तक कि नारायण के अपरावतार माने जाने वाले व्यास तक काव्य-रचना-शिल्प में वाल्मीकि के शिष्य-कल्प हैं। तेलुगु में दो पृथक काव्य नहीं हैं, दो महाकवियों का एक ही महाकाव्य है।

तेलुगु महाभारत के संबंध में कहने योग्य अनंत बातें हैं। जैसे १. उसकी भाषा-शैली, २. रचना-शिल्प, ३. काव्यकला, ४. आधुनिक आलोचकों के अनुसार चरित्र-चित्रण आदि-आदि। काव्य और धर्म की दृष्टि से संस्कृत महाभारत का मार्मिक तत्व क्या है? इन दोनों का, अर्थात काव्य पक्ष एवं धार्मिक पक्ष का, निर्वाह नन्नय्य और तिक्कन्न ने कैसे किया? इन दोनों पक्षों के साथ-साथ भाषा-शैली के संबंध में भी थोड़ा-बहुत अनुशीलन करें तो तेलुगु महाभारत का स्वरूप-परिचय हमें प्राप्त होगा। इन सबसे पहले विचारणीयांश है रचना-शिल्प। संस्कृत की ही भाँति तेलुगु में भी महाभारत की रचना पद्यमयी है। संस्कृत के रामायण और महाभारत के अनेकानेक श्लोक केवल कथा-वहन करते हुए दिखायी देते हैं। अपने आपमें सुंदर नहीं हैं। तेलुगु के प्रबंधकवियों की कविता-शैली इस प्रकार की नहीं है। इनमें हर पद्य स्वयं सुंदर एवं समृद्ध है। यह इन दोनों में परिदृश्यमान महान अंतर है।

संस्कृत के मेघसंदेश में हर श्लोक अपने निजी सौंदर्य से प्रतिभासित है। तेलुगु नन्नय्य ने सर्वप्रथम इस प्रत्येक पद्य-सुंदरता को अपनी कृति में निक्षिप्त किया है। कवि अपनी कृति में धर्म संबंधी उपदेशपरक बातों को कहते हुए भी प्रति-पद्य -रमणीयता को निभाते हुए चला। तिक्कन्न ने अधिकांश में नन्नय्य का अनुकरण करते हुए भी यत्र-तत्र व्यास की कथा-वहन-पद्य-रचना-शैली को भी अपनाया था। रचना-शिल्प का तात्पर्य रसानुकूल शब्द-गुंफन एवं समास-संयोजन से है। किसी उदात्त भाव की अभिव्यक्ति में अथवा किसी भावविशेष को दीप्त करने में समास-घटना करना, रौद्र रस को अभिव्यक्त करना हो तो संयुक्ताक्षर, द्वित्वाक्षरों से अपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना, श्रृंगार को सुकुमार अक्षर-संपुटि से अभिव्यक्त करना तथा व्यंग्य-वैभव से भरे हुए शब्दों का प्रयोग करना आदि-आदि हम रचना-शिल्प के अंतर्गत ले सकते हैं। नन्नय्य तेलुगु में प्रथम कवि थे। ये इस रचना-शिल्प में सिद्धहस्त थे। सभी कवियों के लिए मार्गदर्शी थे। संस्कृत के रामायण और महाभारत में तो इस प्रकार की शिल्प-नैपुणी हर श्लोक में उपलब्ध नहीं होती। सर्ग में कहीं-कहीं यह रचना-शिल्प दिखायी देता है। कभी-कभी पूरा सर्ग प्रधान रसव्यंजक होता है। हम कह सकते हैं कि संस्कृत के इन काव्यों की शैली निर्बाध विशाल एवं विपुल है। पुराण-कवियों से भिन्न काव्य-कवियों की शैली में हर छंद को सुंदर बनाने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। तेलुगु में प्रति-पद्य-सुंदरता का सफल प्रयास करने वाले महाकवि नन्नय्य थे। इन्होंने इस रमणीय शैली का श्रीगणेश तेलुगु में किया था। परंतु नन्नय्य ने केवल तीन पर्वों की रचना की थी। वास्तव में इनकी रचना का अंश ढाई पर्वों का था। अरण्यपर्व का अवशिष्टांश तिक्कन्न के अनंतर काल में एर्रन्न ने पूरा किया था। तिक्कन्न ने उस अरण्य पर्व के शेष भाग को छोड़ कर बाकी पंद्रह पर्वों की रचना समाप्त की। इस प्रकार तेलुगु महाभारत की रचना के पीछे दो प्रधान कवि थे। परंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों का काव्यात्मक व्यक्तित्व अलग-अलग था। इनकी अपनी-अपनी शैली, अपना-अपना शब्द-गुंफन तथा अपनी-अपनी प्रणयन-चातुरी थी। किसी का अंधानुकरण नहीं था। इतना होते हुए भी जहां-जहां दूसरे का अनुसरण किया था, वे स्थान मालूम हो जाते हैं। संस्कृत वाङमय में वाल्मीकि का अनुकरण व्यास ने किया था। क्या यह बात संस्कृतज्ञों

से छिपी हुई है ? केवल शब्द अथवा शैली मात्र का ही अनुकरण नहीं, अपितु श्लोक के श्लोक ही उतारे गये थे। व्यास ने विरह-वर्णन में वाल्मीकिकृत विरह-वर्णन के श्लोकों को स्वायत्त कर लिया था। तेलुगु में तिक्कन्न ने भी, उस मात्रा में नहीं, कुछ कम मात्रा में अवश्य, नन्नय्य की शब्द-सामग्री आदि को ग्रहण किया था। नन्नय्य के द्वारा प्रयुक्त सैकड़ों शब्दों को ग्रहण किया। उनकी अभिव्यक्ति-पद्धति को अपनाया था। उन पद्धतियों का परिवर्द्धन किया। निष्कर्ष यह है कि न केवल तिक्कन्न ने अपितु सभी तेलुगु कवियों ने नन्नय्य की रचना-शैली को आदर्श के रूप में ग्रहण किया था। जिसने ऐसा नहीं किया था उसको तेलुगु साहित्य के इतिहास में कोई गण्यमान्य स्थान नहीं मिला, नन्नय्य का शैली-विन्यास दस-पंद्रह प्रकार का था। कहीं संस्कृत-समास-भूयस्त्व तो कहीं तेलुगु के ठेठ शब्दों की सुंदर-संयोजना और कहीं इन दोनों का सुखद सम्मिश्रण अनंत विधाओं में संप्राप्त है। परवर्ती कवि इन विविध विधाओं को अपनी रुचि एवं क्षमता के अनुकूल अपनाने लगे।

तिक्कन्न ने नन्नय्य का अनुकरण तो किया, फिर भी उनका एक अलग महत्व है। तेलुगु में वे कविब्रह्म थे। नन्नय्य तेलुगु के हिरण्यगर्भ थे और तिक्कन्न ब्रह्म। 'हिरण्यगर्भ' शब्द का प्रयोग साधारणतः 'ब्रह्म' के अर्थ में होता है, परंतु यहाँ इसका प्रयोग सरस्वती के पति ब्रह्म के अर्थ में नहीं किया गया। वह अर्थ घटित नहीं होता। यहाँ ब्रह्मपदार्थ के प्रथम विकार निष्यंदन-स्वरूप से तात्पर्य है।

संस्कृत में श्लोक होते हैं। तेलुगु में छंद अथवा पद्य होते हैं। अनुष्टुप, आर्या, शिखरिणी, मालिनी आदि वृत्त श्लोक हैं। चंपकमाला, उत्पलमाला, शार्दूल, मत्तेभमु, सीसमु, गीतमु, कंदमु आदि पद्य हैं। तेलुगु कवि संस्कृत वृत्तों का भी प्रयोग करते रहते हैं। परंतु समूचे काव्य में उनका स्थान गौण है। वृत्त-स्वीकार और भाव एवं मनोविकारों की अभिव्यक्ति में घना संबंध है। भावानुकूल तथा मनोविकारानुकूल वृत्त को कवि स्वीकार करता है। शिल्प-वेत्ता कवि का प्रथम कर्तव्य ही यह है। नन्नय्य ने उपर्युक्त छंदों का प्रयोग कर के तेलुगु काव्य के बाह्य रूप की प्रतिष्ठा की। विगत सहस्र वर्षों की कविता तेलुगु में इसी मार्ग पर चली। नन्नय्य ने संस्कृत से भिन्न मार्ग का आविष्कार तेलुगु काव्य-शैली में किया था। वैसे तो शोधक तेलुगु में पद्य-रचना के अस्तित्व को शिला-अभिलेखों के आधार पर नन्नय्य के पहले ही मानते हैं, फिर भी एक समग्र काव्य के रूप में सर्वप्रथम पद्य-रचना को लिपिबद्ध करने वाले नन्नय्य ही थे। शिलालेखों में तेलुगु कविता के दर्शन मिलते हैं। परंतु उसमें काव्य-शिल्प के लिए स्थान कहाँ है! शिल्प की आवश्यकता भी शिलालेख में क्या है! संस्कृत में श्लोक के अंत में विरमण माना जाता है। उसमें वहीं यति-स्थान है। चरण के बीच में एक यति-स्थान और रहता है। यति-स्थान का अर्थ है एक शब्द का समाप्त हो जाना। तेलुगु में यति-स्थान इससे भिन्न प्रकार का है। तेलुगु में सवर्ण-अक्षर-निक्षेप को यति-निर्वाह समझा जाता है। तेलुगु में चरणांत में विरमण की बात ही नहीं है। इसके अतिरिक्त तेलुगु में प्रास-नियम भी है। प्रत्येक चरण के दूसरे अक्षर के रूप में किसी एक अक्षर का प्रयोग करना प्रास है। हम यह नहीं कह सकते कि ये दोनों विशेषताएँ कर्णाटक भाषा से प्राप्त हुई हैं अथवा तेलुगु के शिलालेखों से ही, पर तेलुगु

काव्य-साहित्य को देदीप्यमान अद्यावधि कर रही हैं। यति और प्रास, इन दोनों को काव्य में निबद्ध कर के परवर्ती कवियों के लिए नन्नय्य ने इन दोनों को शिरोधार्य बना दिया।

तेलुगु में शुद्ध साहित्यिक भाषा केवल कवित्रय की है। नन्नय्य, तिक्कन्न तथा एर्रन्न को सम्मिलित रूप में कवित्रय कहा जाता है। तेलुगु साहित्यकारों के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द ही शरण्य है। शब्द की साधुता अथवा असाधुता का निर्णय उनके प्रयोगों पर आधारित हो कर किया जाता है। तेलुगु में जितने व्याकरण हैं, सब उनके शब्द-प्रयोगों पर निर्भर कर लिखे गये हैं। कुछ स्थान ऐसे भी मिलते हैं, जहाँ इन्होंने संस्कृत भाषा-मर्यादा का भी उल्लंघन किया है। परंतु वे प्रयोग तेलुगु साहित्यकारों के लिए शिरोधार्य हैं। साहाय्यमु की जगह सहायमु, याथार्थ्यमु की जगह यथार्थमु, इन शब्दों को तद्धितार्थ में नन्नय्य ने प्रयुक्त किया था। तेलुगु प्रदेश के कई विद्वान समरूप से तेलुगु और संस्कृत के पंडित होते हैं। यह जान कर ही कवित्रय ने शिष्ट-व्यवहार-भाषा का प्रयोग किया है।

और एक विलक्षणता दर्शनीय है। संस्कृत में जितने यशस्वी काव्य हैं वे सब पूर्णतः श्लोकमय हैं। संस्कृत के महाभारत में तो कहीं-कहीं गद्य हैं परंतु परवर्ती काव्य निर्गद्य हैं। इसीलिए भोज को अपने काव्य का नाम चंपू रामायण रखना पड़ा। तेलुगु में स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। यहाँ सभी काव्य चंपूशैली के हैं। जब कभी किसी कवि ने केवल पद्यमयी रचना की, तो उसको अपने काव्य के नाम के साथ 'निर्वचन' शब्द अर्थात 'निर्गद्य' जोड़ना पड़ा। उदाहरण के लिए तिक्कन्नकृत 'निर्वचनोत्तर रामायण'। यह तेलुगु काव्य-शैली की विलक्षणता है।

निष्कर्ष यह है कि तेलुगु में कवित्रय को छोड़ने पर व्याकरण नहीं है, साहित्य नहीं है, सारस्वत नहीं है। सभी के लिए मूल पुरुष तथा परम प्रमाण वे ही हैं। वे ही सर्वस्व हैं।

इतनी उत्ताल स्थिति पर प्रतिष्ठित इन कवियों की उत्तालता के भी पीछे क्या उपरि-सूचित कारण ही कारण हैं? और कुछ भी है? शरीर जितना भी हृष्ट-पुष्ट क्यों न हो, यदि शरीर के अंदर का जीव विवेकवान न हो, उदात्त न हो, तो वह नुमाइशी तस्वीर जैसा रह जायगा।

महाभारत का अनुवाद करने पर भी वह निरा अनुवाद नहीं था। उन तीन कवियों को एक महार्थ अवगत था। 'भारत' तो था। और वह समग्र भारतीय जनता के सर्वधर्मों का और सामाजिक जीवन का तथा सर्वसाहित्य का रत्नाकर है। उसमें किसी प्रकार का घातक परिवर्तन नहीं करना चाहिए। फिर 'भारत' में अनेक भाषाएँ हैं। विभिन्न आचार-व्यवहार हैं। विभिन्न रीति-रिवाज हैं। विभिन्न विशेषताएँ हैं। अखंड भारतीयत्व में निहित सुसूक्ष्म विलक्षणताएँ भी हैं। उन्हीं विभिन्नताओं में आंध्र प्रदेश तथा आंध्र भाषा की भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। इसलिए भारत को तेलुगु में रूपांतरित करने वाले कवि को भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति की अखंडता का पालन करते हुए ही तेलुगु जनता की सामूहिक मनश्चेतना से अवगत हो कर, उस चेतना की विलक्षणता को प्रतिबिंबित करते हुए ही तेलुगु में रूपांतरित करना चाहिए। तभी महाभारत तेलुगु में भी जीवित रह सकता है। एवंविध शक्तिशाली महाकवि होने के कारण ही

तेलुगु में इनके द्वारा आंध्रीकृत 'महाभारत' विगत सहस्र वर्षों से सजीव है। अतएव पश्चिम से जितने ही विकृत साहित्यिक सिद्धांतों का आयात क्यों न हुआ हो, तेलुगु महाभारत की गरिमामय स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। वह कैलास पर्वत की भाँति अचल और अडिग रहेगा।

इन तीन कवियों ने महाभारत को किस रूप में समझा? तेलुगु जाति के जनजीवन को किस रूप में लिया? वास्तव में यह बहुत ही महान विषय है। हम यहाँ स्थूल रूप से कुछ बातें बतायेंगे। स्मृतिवेत्ताओं ने भारत को स्मृति-ग्रंथ समझा। याज्ञिक उसको वेद समझते हैं, वेदांती उसको उपनिषद् समझते हैं। काव्यज्ञ उसे महाकाव्य के रूप में ग्रहण करते हैं। यहाँ काव्य दृष्टि से उसका अनुशीलन किया जायगा। काव्य का जिक्र करते ही प्रधान रस क्या है? प्रतिनायक कौन? पताका-प्रकर्यादि किस प्रकार संयोजित किये गये हैं? इस प्रकार अनेकानेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। यह तो सर्वविदित है कि भारत का प्रधान रस शांत है। रामायण का प्रधान रस करुण है। इन तीनों महाकवियों ने करुण रस-प्रधान रामायण को छोड़ कर शांतरस-प्रधान महाभारत को क्यों उठाया? तेलुगु में रामायण-कवियों की संख्या शताधिक है। फिर भी महाभारत को तेलुगु में जो प्रशस्ति मिली है, वह रामायण को नहीं मिल सकी। रामायण का जिन-जिन कवियों ने अनुवाद किया, वे भी कम महत्व के नहीं हैं। इतना होते हुए भी, आंध्रों को जितना 'भारत' वरणीय रहा, उतना रामायण नहीं। इससे यही स्पष्ट होता है कि आंध्र जनता को शांत रस का आस्वादन अतिप्रिय है। शांत रस विवेक प्रधान है। विवेकतर्कसम्मत होता है। विवेक और वितर्क आंध्र जाति के प्रधान लक्षण हैं। नन्नय्य और तिक्कन्न आंध्र जाति के स्वभाव से अवगत थे। अतः उन्होंने भी शांत रस का ही पोषण करना चाहा। अतएव उन्होंने महाभारत की रचना के द्वारा शांत रस का पोषण किया। उसी कारण महाभारत का वह सर्वोच्च स्थान आज तक बना हुआ है। इतने बृहद आयाम के महाकाव्य में, मुख्य रस का निर्वहण करना आसान नहीं है; ब्रह्मकल्प कवि ही इस काम में सफल हो सकता है। संस्कृत में वाल्मीकि एवं व्यास एतादृश-प्रतिभा-संपन्न हैं, तेलुगु में नन्नय्य और तिक्कन्न इस कोटि के हैं। वास्तव में शांत रस का निर्वाह उतना आसान नहीं, जितना समझा जाता है। 'भारत' में सभी रस हैं। ऐसा कौन रस है, जो 'भारत' में नहीं है? इन सभी रसों को अंग रूप में और शांत को अंगी रस के रूप में निर्वाह करने की कुशलता, उपर्युक्त छंदलंकार आदि के परिज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण है। जिसको यह ज्ञान है, वही महाकवि शब्द से अभिहित किये जाने योग्य है। मुख्य रस-निर्वहण वास्तव में किसी चट्टान को पहाड़ी चोटी पर पहुँचाने जैसा दुष्कर है। हर प्रसंग में, हर पद्य में सावधानी बरतनी चाहिए। 'भारत' में स्थूल दृष्टि को रौद्र और वीर दिखायी देते हैं। वे दोनों दिल को झकझोर देने वाले रस हैं। लगभग सभी जीव उनसे समाकृष्ट होते हैं। इनके परे शृंगार है। इन सबको पार कर के शांत रस की स्थापना करनी चाहिए। उदाहरण के लिए रौद्र रस का प्रसंग आता है। उसका पोषण तो करना ही चाहिए। साथ ही शांत रस का भी निर्वाह करना चाहिए। यह बहुत ही जटिल समस्या है। विरोधी रसों की युगपद् संयोजना किस प्रकार संभव है? ये सभी प्रश्न हमारे सामने हैं। इस सारे महाकाव्य की खूबी को सम-

झाने के लिए मैं एक ही उदाहरण, जो आम तौर पर वेदांत में दिया जाता है, दूँगा। समझ लीजिए एक गुरु के यहाँ दस शिष्य पढ़ रहे हैं। उनमें एक, गुरु का पुत्र भी है। अपने पुत्र पर गुरु की दृष्टि के साथ-साथ पिता की दृष्टि भी युगपद भाव से वह गुरु दिखाने में समर्थ होता है। उसी प्रकार लोक में विचरण करते हुए भी ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि हमेशा ब्रह्म में ही संलग्न हो कर रहती है। उसी प्रकार कितने ही दूसरे रसों का पोषण क्यों न करे, महाकवि की दृष्टि मुख्य-मुख्य रस-पोषण पर लगी ही रहती है। किसी महाकाव्य के मुख्य रस का निर्णय कैसे किया जाय? उसके लिए हमारे पूर्वजों ने कुछ उपाय बताये। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता आदि। महाकवि इनके पौनः पुन्य से प्रधान रस का पोषण किया करता है। इस कला में नन्नय्य और तिक्कन्न बहुत ही कुशल थे। इसलिए तेलुगु में बहुत से विद्वान तेलुगु भारत के प्रति संस्कृत भारत के समकक्ष आदर और गौरव दिखाते हैं। भारत के इतिहास का स्रष्टा कोई एक व्यास हो तो तेलुगु जनता तिक्कन्न को उस व्यास से न्यून दृष्टि से नहीं देखती। परंतु तिक्कन्न ने भगवद्गीता, सनत्सुजातीय का अनुवाद नहीं किया। शायद तिक्कन्न के मन में यह विचार था कि भगवद्गीता व्यास की लिखी हुई नहीं है। वह भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट है। भगवदुक्त विषय को उसी वाणी में पढ़ना चाहिए। अनुवाद नहीं करना चाहिए। भारत में प्रधान कथा के साथ गौण रूप में अनेकानेक उपाख्यान हैं। नन्नय्य ने इन उपाख्यानों में एक विलक्षण व्यंग्य-वैभव दिखाया। इसको उन्होंने कथाकलितार्थयुक्ति कहा था। कथा-कथन शिल्प नन्नय्य का अलग है और तिक्कन्न का अलग है। इन सहस्र वर्षों से भी नन्नय्य के उस अपूर्व कथा-कथन शिल्प को ठीक ढंग से अपनाने वाला कोई नहीं हो पाया। वे अननुकरणीय ही रहे। तेलुगु में अधिकतर कवि तिक्कन्न के मार्गानुयायी हैं। कवित्रय के तीसरे कवि एर्रन्न को तो तिक्कन्न का प्रतिरूप ही समझिए। उत्तरहरिवंश-कर्ता, नाचन सोमन्न उपाख्यान-शिल्प में तिक्कन्न से भी बढ़ कर प्रतिभावान कहा जा सकता है। परंतु वह भी मनसा तिक्कन्न का ही शिष्य था। हमारे गुरुदेव स्वर्गीय चेल्लपिल्ल वेंकट शास्त्री जी से एक बार किसी ने पूछा, "आप हमेशा यह दावा करते हैं कि हम तिक्कन्न की भाँति लिख सकते हैं। यह क्यों नहीं एक बार भी कहते कि हम नन्नय्य की तरह लिख सकते हैं?" इस पर गुरुदेव ने समाधान किया था, "बाप रे! नन्नय्य से तुलना! उस प्रकार लिखना मनुज मात्र के लिए असंभव है।" नन्नय्य की कविता-शक्ति एवं शिल्प-संपदा एतादृश हैं। तिक्कन्न शत-प्रतिशत तेलुगु भाषा के कवि थे। उनकी रचना आंध्र जाति का मनोदर्पण है। नन्नय्य प्रथम कवि तथा तादृश महाविभूति थे कि उनको विस्मृत नहीं किया जा सकता। नहीं तो भारतकर्ता के रूप में तिक्कन्न ही अकेले रह जाते। यह सच है कि उन्होंने 'भारत' के आंध्रीकरण में कुछ प्रसंगों को छोड़ दिया था। परंतु उससे भारत के ऐतिहासिक रूप में कोई बाधा अथवा क्षति नहीं पड़ी। यही नहीं, तेलुगु जाति के लिए तेलुगु महाभारत ही शरण्य है। वही एकमात्र ध्येय है। 'अन्यथा शरणं नास्ति।'

—अनु० : हनुमच्छास्त्री अयाचित

डॉ० इलपावुलूरि पांडुरंग राव

आंध्र प्रदेश में भागवत

आंध्र प्रदेश के जन-जीवन में भक्त कवि पोतनामात्यकृत 'आंध्रमहाभागवत' का लगभग वही स्थान है जो हिंदी जगत में गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' को प्राप्त है। दोनों काव्य भक्ति-भावना से अनुप्राणित हैं और जनमानस को आकृष्ट करने वाली स्वच्छंद, सहज और सरल रचनाएँ हैं। आंध्र प्रदेश में कोई भी जिज्ञासु ऐसा न होगा जिसे पोतन्ना के भागवत में से दो-चार पद्य याद न हों। अशिक्षित समाज में भी इस जन-काव्य का काफ़ी प्रचार है। भागवत के एक प्रमुख प्रसंग में गजेंद्र-मोक्षण को गीत के रूप में स्त्रियाँ (प्रायः आधुनिक) नित्य पारायण के रूप में गाती हैं। इस काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि अशिक्षित साधारण जनता में यह जिस प्रकार आमोद और आनंद की वस्तु बन गया है, वैसे ही यह मनस्वी विद्वत्समाज में भी आदर की वस्तु है। भक्ति-भावना, दार्शनिक चिंतन तथा साहित्य-सौष्ठव का सुंदर सम्मिश्रण इसमें पाया जाता है।

आंध्र महाभागवत महर्षि व्यासकृत संस्कृत भागवत का स्वच्छंद अनुवाद है। परिमाण में यह मूल कृति से अधिक विस्तृत है, लगभग दुगुना है। मूल के प्रसंगों को कहीं बढ़ाया गया है और कहीं संक्षिप्त कर दिया गया है। जहाँ दार्शनिक चिंतन के प्रसंग आते हैं वहाँ श्रीधरीय व्याख्या के आधार पर कवि ने गंभीर से गंभीर विषयों का भी सरल, सुस्पष्ट एवं सुबोध विवेचन प्रस्तुत किया है। पोतनामात्य का हृदय उनके काव्य में प्रतिबिंबित होता है। कहीं भी जटिलता नहीं है। आद्योपांत प्रसाद गुण में आवेष्टित कोमल-कांत पदावली पाठकों को रमणीय शब्द-लोक में बार-बार विचरण करने के लिए प्रेरित करती है।

आंध्रभागवत की रसभीनी मधुर प्रसंग-योजना में प्रवेश करने के पहले भागवतकार के विविक्त जीवन-दर्शन का थोड़ा परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। पोतनामात्य ने आंध्र प्रदेश के वरंगल अथवा ओरुगल्लु (जिसका प्राचीन नाम था एक शिला नगर) के निकट बम्मेर नाम के गाँव में साधारण परिवार में जन्म लिया था। जन्म-काल पंद्रहवीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। शैव संप्रदाय के परिवार में उनका जन्म हुआ था। प्रकृत्या वे राम के अनन्य आराधक थे और कृष्ण-चरित का वर्णन करके वे अपने जीवन को सफल और पुनर्भवमुक्त करना चाहते थे। इस विचित्र समावेश के पीछे जो रहस्य है वह उनके निर्मल, निराडंबर और निर्लिप्त जीवन-विधान में निहित था। उन दिनों कवियों के लिए राजाश्रय अनिवार्य प्रलोभन था। जिस प्रकार दो-चार छंद रचने वाले भी अपने को कवि बता कर राजा के यहाँ दरबार में स्थान पाने

को लालायित होते थे, उसी प्रकार रसज्ञ राजा लोग भी रससिद्ध कवियों को अपने दरबार में पा कर एक विलक्षण सारस्वत गर्व का अनुभव किया करते थे। राजा की यह कृपा-दृष्टि जिस कवि पर होती थी वह अपने को धन्य समझता था और संकेत मात्र से वह राजा के यहाँ पहुँच कर उसे आनंद प्रदान करने वाली काव्य-रचना में लगा रहता था। किंतु इसी राजस वातावरण में एक ऐसा सात्विक स्वत्वसंपन्न शारदीय उपासक भी था जो राजाश्रय के कृतक सिंचन से अपनी सारस्वत साधना को पंकिल बनाना नहीं चाहता था। अंतरंग की प्रेरणा से पुलकित हो कर उस सत्व-संपन्न ने कहा:

इम्मनुजेश्वराधमुलकिच्चि पुरंबुलु वाहनंबुलुन्
सोम्मुलु कोन्नि पुच्चुकोनि चोक्कि शरीरमुबसि, कालु चे
सम्मेट व्रेटुलंबडक सम्मति तो हरिकिच्चि, चेप्पे नी
बम्मेर पोतराजोकडु भागवतंबु जगद्धितंबुगन्

(इन निकृष्ट नरपतियों के लिए काव्य लिख कर जागीर, वाहन, आभरण आदि प्राप्त करके आत्म-वंचना और असभ्य आचरण सहने को मेरा जी नहीं चाहता, इसीलिए सम्मान के साथ यह भागवत भगवान को ही समर्पित करके इस पोतराज ने लोक हित का कार्य किया है।)

स्वतंत्रचेता भागवतकार काव्य की भूमिका में कहते हैं कि जब वे चंद्र-ग्रहण के पर्व समय में 'शुभ्र समुत्तुंग तरंगिणी' गंगा के किनारे हरि के ध्यान में लीन हो कर बैठे, तब विद्युल्लता से मंडित मेघ की भाँति श्यामसुंदर रामचंद्र की भद्रमूर्ति के दर्शन हुए। प्रभु का आदेश था कि पोतना हरि की कथा का वर्णन करे और भव-बंधन से मुक्त हो। उसी क्षण भक्त कवि पोतन्ना ने कहा:

पलिकेडिदि भागवतमट
पलिकिंचेडि वाडु रामभद्रुंडट ने
पलिकिन भवहरमगुनट
पलिकेद वेरोंडु गाथ पलुकगनेला।

(वर्णनीय कथा है भागवत और प्रेरणा प्रदान करने वाले प्रभु रामभद्र हैं। प्रभु का आदेश है कि मेरे कहने से यह कहानी 'भवहारी' होगी। तब फिर यही कहानी कहूँगा, दूसरी कहानी क्यों कहूँ?)

प्रभु के आदेश की कितनी निर्लिप्त, निर्मम तथा निर्विकार स्वीकृति है। बहुत से आप्त मित्रों के अनुरोध के बावजूद वे कभी किसी राजा के दरबार में अपने काव्य को सुनाने नहीं गये। कहते हैं, तरुण रसाल के नव किसलय की शोभा से विराजित काव्य-कन्या को दुष्टों के हाथ में दे कर उस स्त्री-धन का उपभोग करने के बजाय खेत में हल चला कर कंद-मूल या फल चाहे जो

मिले खा कर जीवन बिताने में ही सुकवियों का श्रेय है। इस प्रकार पोतनार्य की वाङमय-तपस्या रामचंद्र के भरोसे ही परिपक्व हुई। उसकी कविता निराश्रया हो कर ही सुशोभित हुई।

अब इस तपस्वी कवि की वाणी में भागवत के कतिपय प्रसंग किस प्रकार उभर कर आये हैं, इसका संक्षिप्त विवेचन करेंगे। भागवत में चाहे जो भी प्रसंग आया हो, प्रत्येक के कथासूत्र में भक्त और भगवान के बीच के चिरंतन भावानुबंध की विवृति ही प्रधान होती है, जिसे हम प्रायः भक्ति का नाम देते हैं। भक्त, भगवान और भक्ति के इस त्रितय का आत्मीयता के साथ वर्णन करने के लिए कवि को सच्चे भक्त का हृदय आवश्यक है। इसी भक्त-हृदय के अभाव में भगवान व्यास भी व्याकुल हुए और नारद के समझाने पर ही व्यास को इस परम तत्व का बोध हुआ। पर सौभाग्य की बात है कि पोतन्ना को यह अनन्य भक्ति जन्म से ही प्राप्त थी। यही कारण है कि आंध्र महाभागवत के प्रत्येक आख्यान में जिस भक्त की कथा कहनी हो उसके हृदय के साथ तादात्म्य प्राप्त कर के सहृदय कवि ने अपने ही उद्गारों को प्रसंग के अनुसार व्यक्त किया है। पाठकों को भी इन प्रसंगों का पाठ करते समय यही तादात्म्य सुलभ हो जाता है। प्रह्लाद, गजेंद्र, सुदामा, अंबरीष, भीष्म, ध्रुव, अजामिल आदि सभी भक्त कवि पोतन्ना के आप्त मित्र से लगते हैं। असाधारण आत्म-प्रत्यय और अलौकिक आनंद-भावना के साथ कवि पाठकों को इनका परिचय कराता है।

भक्तों के पावन चरित्र की भूमिका के रूप में कवि अपने और इन सब सहयोगियों के एकैक आराध्य परम पुरुष का तत्व समझाते हुए काव्य के आरंभ में कहते हैं: **श्री कैवल्य को प्राप्त करने के लिए मैं उस विश्वात्मा का चिंतन करता हूँ जो शिष्टों का रक्षण और दुष्टों का शासन करता है तथा खेल ही खेल में सारे ब्रह्मांड को अपने गर्भ में लिये समाया रहता है और आनंद-नंदिनी का प्रिय नंदन है।**

परमेश्वर की इस रूप-कल्पना में कवि की उदार एकेश्वर-भावना व्यंजित होती है। इसके पश्चात कवि ईश्वर, ब्रह्मा, गणेश, वाणी, दुर्गा, लक्ष्मी और कवि-जनों की वंदना करते हैं। वंदना के इस प्रकरण में सरस्वती की वंदना विशेष आकर्षक है।

फिर माताओं की जननी जगन्माता दुर्गा से सहिमान्वित कविता में पटुता की संपन्नता माँगते हैं और लक्ष्मी से माँगते हैं केवल नित्य कल्याण। अपने पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण करते हुए कवि कहते हैं: **यह मेरे प्राक्तन पुण्य का ही फल है कि मेरे पूर्वज नन्नय भट्ट, तिक्कनार्य आदि कवियों ने महाभारत, रामायण आदि की रचना कर के भागवत को तेलुगु में रूपांतरित करने का कार्य मेरे लिए छोड़ रखा है। अतः मैं इसे आंध्रीकृत कर के अपने जन्म को सफल बना लूंगा।**

इसके पश्चात भागवत में चार प्रमुख भक्तों का वर्णन उल्लेखनीय है: प्रह्लाद, ध्रुव, गजेंद्र और कुचेल[1] (सुदामा)। यद्यपि इन चारों का वर्णन अलग-अलग प्रसंगों में हुआ है

---

१. पोतन्ना ने अपने भागवत में सुदामा को 'कुचेल' नाम दिया है।

फिर भी इनकी भक्ति-भावना में पारस्परिक संबंध दृष्टिगोचर होता है। इनमें सबसे पहला (प्रह्लाद) जन्म से ही भक्ति-भावना की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ ज्ञानी है। भक्ति और ज्ञान, दोनों का इसमें संतुलित सामंजस्य है। इसके बाद दूसरा स्थान राजकुमार ध्रुव का है जो राजसी वातावरण में जन्म ले कर बचपन ही में संसार के राग-विराग से विकल हो कर सात्विक तथा स्थायी पद की खोज में प्रयत्नशील जिज्ञासु है। उत्तानपाद के अंकारोहण के लौकिक सम्मान से वंचित हो कर वह अंत में आत्म-योग से उच्चतम और उत्कृष्टतम ध्रुव पद को प्राप्त होता है। प्रह्लाद में भक्ति का सिद्ध रूप मिलता है जब कि ध्रुव में भक्ति की साधना क्रमिक विकास प्राप्त करती है। एक ज्ञानी है और दूसरा जिज्ञासु। इन दोनों के पश्चात गजेंद्र और कुचेल का उल्लेख होना चाहिए, जिनकी भक्ति आर्तिजन्य है। इनमें से कुचेल विद्या-विनयसंपन्न ब्राह्मण है, जब कि गजेंद्र महासंकट से ग्रस्त हो कर अपनी आर्ति की तीव्रता से करुणामय भगवान को अपनी ओर खींचने वाला साधारण पशु है। कुचेल कृष्ण का बाल्य मित्र है, जो भगवान के यहाँ अर्थार्थी हो कर जाता है जब कि गजेंद्र की आह से खिंच कर वैकुंठवासी विष्णु स्वयं उसके पास पहुँच जाते हैं। इन दोनों के चरित्र से भागवतकार इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं कि भक्ति के लिए ज्ञान अपरिहार्य नहीं है और भगवान हमेशा भक्त-पराधीन होता है, केवल ज्ञानगम्य नहीं।

आंध्र भागवतकार ने इन चारों की कथा का समान आत्मीयता के साथ वर्णन किया है। फिर भी प्रह्लाद-चरित सबसे उत्तम माना जाता है। भागवत के सभी प्रसंगों में यही सबसे अधिक लोकप्रिय है। इसे बार-बार पढ़ कर आंध्र जनता नित्य नूतन आनंद प्राप्त करती है। इसमें पोतन्ना ने प्रह्लाद का चित्र इस प्रकार अंकित किया है मानो भक्ति ने ही बालक का रूप धारण किया हो। भक्ति-भावना में तल्लीन प्रह्लाद की विचित्र चेष्टाओं का वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं: कभी वैकुंठ के ध्यान में मग्न हो कर वह निश्चेष्ट हो कर एकांत में रोने लगता है तो कभी निर्विराम विष्णु-चिंतन में मस्त हो कर अकेले गाने लगता है। कभी यह कह कर कि परमात्मा का भेद बस यही है, मन ही मन हँस पड़ता है, तो कभी यह कहते हुए कि मुझे परमधाम का संकेत मिल गया है, उछल पड़ता है। कहीं केशव, परमेश कहते हुए अपने रोमांच को भींगी पलकों में छिपा लेता है और कहीं एकांत में आँखें मूँद कर चुप चाप पड़ा रहता है।

प्रह्लाद की इन चेष्टाओं में भक्त कवि की सच्ची आत्मानुभूति भी व्यंजित होती है। बालक को इन विचित्र चेष्टाओं में तत्पर देख कर उसका पिता हिरण्यकशिपु उसे शिक्षा प्राप्त करने भेज देता है। पढ़-लिख-कर जब पुत्र वापस आता है तब पिता के पूछने पर वह अपनी पढ़ी हुई विद्या के सार के रूप में बताता है कि प्रत्येक शरीरधारी को चाहिए कि वह संसार के अंधकार से दूर हो कर अपने को विष्णु के चरणों में समर्पित कर दे। यहीं से प्रवृत्ति और निवृत्ति का संघर्ष शुरू होता है। हिरण्यकशिपु की हिरण्मय भावना को अरण्यप्रेमी प्रह्लाद स्वीकार नहीं कर पाता और न प्रह्लाद की आह्लादकारिणी हरि-भावना को हरि-विरोधी उसका पिता। इस संघर्ष का वर्णन पोतन्ना की वाणी ने अत्यंत हृदयंगम बनाया है।

इसी प्रकार ध्रुव की आख्यायिका में भी भक्ति की साधना का उज्वल चित्र प्रस्तुत किया गया है। उत्तानपाद को अपनी दो पत्नियों में से सुनीति की अपेक्षा सुरुचि से अधिक प्रेम था। सुनीति का पुत्र था ध्रुव। सुरुचि के प्रभाव से विवश हो कर उत्तानपाद ध्रुव को अपनी गोद में बैठने के सौभाग्य से वंचित कर देता है। तब ध्रुव के मन में उत्तम पद को प्राप्त करने की तीव्र उत्कंठा पैदा होती है। नारद के आदेश पर वह मधुबन में घोर तपस्या कर के भगवान को प्रसन्न बना कर सारे ज्योतिमंडल में उच्चतम स्थान प्राप्त करता है। इसमें रजोगुण से सत्वगुण की ओर जिज्ञासु भक्त की साधना का पथ वर्णित है। भगवान को अपने सामने प्रकट देख कर ध्रुव कुछ नहीं माँगता, केवल हरि का गुणगान करते हुए जीवन-यापन करने की कामना प्रकट करता है। फिर भी उसे सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त होता है।

गजेंद्रमोक्षण का प्रसंग भी भागवत में विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ भी आर्तजन की पुकार में भाव-विह्वल भक्ति की वेदना बड़े मार्मिक ढंग से प्रकट की गयी है। काफ़ी संघर्ष करने के बाद हताश हो कर गजराज कहता है: "बस, अब मुझमें तनिक भी शक्ति नहीं रही। तुम्हीं राखनहार हो।" जैसे ही यह आर्तनाद बैकुंठ में भगवान के दिव्य भवन में मंदारवन के भीतर अमृतसर के तट पर शय्या पर लेटे हुए रमाविनोदी दीनबंधु के कान में पहुँचता है, भगवान अविलंब गजराज के पास पहुँच जाते हैं, पर साथ में न तो चक्र है, न कोई साज-सज्जा। दीन-रक्षण की व्यग्रता से वे अकेले ही चल पड़े। पर पीछे-पीछे सारा परिवार स्वयं चल पड़ता है। इस अवसर पर अपने पति की इस विह्वलता के कारण अनभिज्ञ लक्ष्मी घबराती हैं और अपने पति से पूछना चाहती हैं कि आख़िर बात क्या है। पर साहस नहीं होता उनकी इस व्यग्रता में बाधा डालने का। फिर साहस बटोर कर आगे बढ़ती हैं, फिर संकोच में पीछे हट जाती हैं, फिर चलती हैं, फिर रुकती हैं, रुक-रुक कर फिर चलती हैं, और चल कर फिर रुक जाती हैं। विष्णु-पत्नी की यह विचित्र मानसिक अवस्था कालिदास की शैलाधिराजतनया की **न ययौ न तस्थौ** वाली स्थिति के निकट है, जिसका वर्णन पोतन्ना ने अत्यंत सुंदर शैली में इस प्रकार किया है :

अडिगेदननि कडु वडि जनु
अडिगिन तनु मगुड नुडुव डनि नड युडुगुन्
वेड वेड चिडिमुडि तड बड
अडुगिडुनडुगिडपु जाडमनडुगिडु नेडलन्।

(उनसे पूछने के लिए वह जल्दी-जल्दी आगे बढ़ती है, फिर यह सोच कर रुक जाती है कि वह कहीं रूठ न जाय! इस घबराहट में कभी पीछे हैं और कभी आगे चलने में ऐसा लगता है कि वह चलती भी है और रुकती भी है।)

इस प्रकार का बिंब-ग्रहण कराने वाली मनोहारिता मूल संस्कृत में दुर्लभ है।

इसी प्रकार सुदामा-चरित में भी कई विलक्षण प्रसंग हैं। इस छोटे से लेख में उन सबका विस्तृत विवेचन संभव नहीं है। अंबरीष की कहानी भी शांतचित्त राजर्षि की व्यावहारिक

भक्ति-भावना का परिचायक है। इसमें क्रोध और शांति के बीच का संघर्ष और अंततः शांति की विजय वर्णित है। प्रत्येक भक्त की कहानी में इसी प्रकार कोई न कोई संघर्ष दिखायी देता है और इसी संघर्ष के समाधान में भागवतकार का संदेश सम्मिलित रहता है।

भक्तों की कथाओं का वर्णन पोतन्ना ने जिस तादात्म्य के साथ किया है, उससे भी अधिक भावुकता से भगवान की लीलाओं का वर्णन किया है। दशम स्कंध में श्रीकृष्ण के जन्म का प्रसंग आता है। सद्योजात शिशु की अलौकिक रूप-माधुरी से विभोर वसुदेव के आनंद का वर्णन इस प्रकार है :

> बालु पूर्णेंदु रुचि जालु भक्त लोक
> पालु सुगुणालवालु कृपा विशालु
> चूचि तिलकिंचि पुलकिंचि चोद्यमंदि
> उब्बि चेलरेगि वसुदेवुडुत्सहिंचे।

(वह बालक पूर्ण चंद्र की शोभा से विराजमान था, भक्तों का लोकपाल था, सुगुणों का आलवाल (आकर) था, कृपा-भाव में अत्यंत विशाल हृदय वाला था। वसुदेव ने उसे देखा, परख-परख कर बार-बार देखा, वह पुलकित हो उठा, चकित हो गया, मन ही मन प्रसन्न हो कर उमंगों से भर रहा था।)

इससे भी अधिक आनंद देवकी को हुआ, जिसने अजन्म को जन्म दे कर अपने जन्म का फल प्राप्त किया था। वह कहती है : एकांत तपस्या में सारा जीवन बिता कर योगी लोग इसी को 'देखने' के लिए लालायित होते हैं और आभास मात्र पा कर समझते हैं कि हमने उसे 'देख' लिया है। लेकिन वास्तव में हो तेरी आकृति को प्रत्यक्ष 'देख' रही हूँ। मेरा भाग्य ही भाग्य है।

आगे चल कर बाल कृष्ण की शैशव-क्रीड़ाओं का भी मनोहर वर्णन मिलता है। प्रौढ़ दशा में रुक्मिणी के साथ कृष्ण के विवाह का प्रसंग अत्यंत लोकप्रिय है। 'रुक्मिणी-कल्याण'[२] के नाम से यह प्रसंग आंध्र जनता में, विशेषकर विद्यार्थी-समाज में, अत्यंत प्रसिद्ध है। वास्तव में प्रह्लाद-चरित, गजेंद्र-मोक्षण और रुक्मिणी-कल्याण—इन तीनों प्रसंगों का अलग-अलग काव्यों के रूप में भी अध्ययन किया जाता है। तेलुगु भाषा में पटुता प्राप्त करने के लिए पोतन्ना के भागवत का इतना अध्ययन आवश्यक समझा जाता है। खेद है, आजकल के नवयुवक इस प्रकार के सुसंस्कृत साहित्य के वातावरण से धीरे-धीरे दूर होते जा रहे हैं।

---

१. तेलुगु में 'देखना' (कनुट) धातु के दो अर्थ हैं—देखना और जन्म देना। यहाँ पर पोतन्ना ने इसी किया का प्रयोग कर के शाब्दिक चमत्कार का सर्जन किया है, जिसका हिंदी अनुवाद संभव नहीं है।

२. तेलुगु में कल्याण का अर्थ होता है—विवाह।

अंत में यह विचारणीय है कि पोतन्ना के भागवत में ऐसा कौन सा आकर्षण है जो तेलुगु के अन्य काव्यों में नहीं है और जिसने पोतन्ना को तेलुगु-साहित्य में विलक्षण स्थान प्रदान किया है। इस समस्या का विश्लेषण करने पर दो-तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो पोतन्ना की सरल, सुबोध, मधुर और संतुलित भाषा है। भागवत की भूमिका में पोतन्ना ने कहा : **कुछ लोगों को ठेठ तेलुगु के शब्द पसंद आते हैं और कुछ लोग संस्कृत को पसंद करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो दोनों का सम्मिश्रण चाहते हैं। मैं इन तीनों प्रकार के लोगों को यथाप्रसंग संतुष्ट करूँगा।** वास्तव में भागवत की रचना में पोतन्ना का यह अद्‌भुत संकल्प साकार हो चुका है। प्रसाद गुण सारी रचना में यथेष्ट मात्रा में मिलता है। चाहे संस्कृतभरी शैली हो, चाहे ठेठ तेलुगु, कहीं भी भावार्थ समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। अनुप्रास का अनायास प्रयोग पग-पग पर पाया जाता है। यह सहज शैली हमें वाल्मीकीय रामायण की अक्लिष्ट पद-योजना का स्मरण कराती है। कभी-कभी मन कहता है : यदि वाल्मीकि भागवत की रचना करते तो शायद उसका ऐसा ही रूप होता। 'बालानां सुख बोधाय' वाले आदर्श को निभाते हुए भी पोतन्ना की लेखनी प्रौढ़ विद्वानों के लिए भी पर्याप्त मननीय सामग्री प्रस्तुत करती है। लोकोत्तर पुरुषों की प्रवृत्ति की भाँति पोतन्ना की वाणी कुसुम से भी कोमल है और वज्र से भी कठोर।

पोतन्ना की काव्य-साधना की दूसरी विशेषता है—भागवतार्थ का प्रत्यक्ष बोध। भागवत की भूमिका में पोतन्ना कहते हैं : **भागवत को ठीक-ठीक समझ कर उसका वर्णन करना शिव या विधाता के लिए भी दुष्कर है। इसलिए मैंने विद्वानों के यहाँ जो कुछ सुना है, जितना मैंने प्रत्यक्ष कर लिया है और जितना मेरी समझ में आया है, उतना मैं स्पष्ट करूँगा।** इस कथन में जितनी विनम्रता है उतना सत्य भी है। पोतन्ना के समय तक भागवत-संबंधी जितनी जानकारी उपलब्ध थी वह सारी की सारी पोतन्ना के भागवत में पायी जाती है। पोतन्ना का भागवत पढ़ने के पश्चात न तो संस्कृत भागवत पढ़ने की आवश्यकता है, न उसकी किसी व्याख्या की। केवल विषय की दृष्टि से ही नहीं, रसानुभूति तथा आनंद-सिद्धि की दृष्टि से भी पोतन्ना की यह रचना भागवत-सर्वस्व मानी जा सकती है।

पोतन्ना के भागवत में न केवल भागवत की कहानी है, बल्कि रामायण भी संक्षेप में कही गयी है। नवम स्कंध में रामकथा का प्रसंग आता है। प्रकृत्या रामभक्त होने के कारण पोतन्ना ने राम की कहानी संक्षेप में किंतु काफ़ी कौशल के साथ कही है। लगभग सौ पद्यों में सारी कहानी आ गयी है, जिसे पढ़ने पर जी चाहता है कि पोतन्ना की लेखनी से रामायण की भी रचना हो गयी होती तो रामायण भी आंध्रभारती की अपनी अप्रतिम संपत्ति हो जाती।

—५४।११, ओल्ड राजेंद्र नगर,
नयी दिल्ली-५।

आंध्रत्वमांध्रभाषा च
नाल्पस्य तपसः फलम् ।

—अप्पय दीक्षित ।

शिव-पार्वती, लेपाक्षी (विजयनगर काल)

बालरसालसाल नवपल्लव कोमल काव्य कन्यकन्
कूललकम्मि यप्पड्डपु गूड्ड भुजिंचुट कंटे
सत्कवुल् हालिकुलैन नेमि? गहनांतर सीमल कंद-
मूलकौद्दालिकुलैन नेमि? निजदारसुतोदर पोषणार्थम ।

—महाकवि पोतन्न

(बालरसाल के नवपल्लव-सी कोमल काव्य-कन्या को नीचों के हाथ बेच कर उससे प्राप्त भोजन को खाने की अपेक्षा, अपने बाल-बच्चों का पेट भरने के लिए, सत्कवि यदि हल चलाये तो क्या हुआ? जंगलों में कंद-मूल खोद कर खाये तो क्या हुआ?)

आचार्य गंटि जोगि सोमयाजि

आंध्र भाषा का इतिहास

वर्तमान आंध्र प्रदेश में आंध्रों के द्वारा व्यवहृत भाषा के लिए आंध्र, तेलुगु तथा तेलुगु-- ये तीन शब्द प्रयुक्त होते हैं। इस भाषा के बोलने वालों की संख्या लगभग तीन करोड़ तीस लाख की है। वर्तमान भारत में, सभी व्यवहृत भाषाओं में, अपेक्षाकृत सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा हिंदी है। उसके अनंतर, तेलुगु भाषा-भाषियों की ही संख्या सर्वाधिक है। इस भाषा में नन्नय्य आदि महान कवियों के द्वारा प्रणीत गौरव-ग्रंथ उपलब्ध हैं। तेलुगु में भी, वाङमय अथवा साहित्य की नवीन विधाएँ जो आधुनिक सभ्यता की देन हैं, बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं। एवंविध गौरवपूर्ण एवं सुविशाल भाषा के इतिहास की रूपरेखा को संक्षेप में ही सही जान लेना समीचीन होगा।

प्रथम शती ई० से ले कर अब तक अर्थात लगभग दो हज़ार वर्षों के आंध्र भाषा के इतिहास को, बोधगम्य बनाने के हेतु, भाषा-विकास-क्रम में उपलब्ध परिणति-विशेषों के आधार पर, कतिपय युगों में हम विभाजन कर सकते हैं। हमारी तेलुगु भाषा में सर्वप्रथम आविर्भूत महाग्रंथ नन्नय्यकृत 'महाभारत' है। इससे प्राचीनतर कृतियों के संबंध में बहुत समय तक विद्वत्समाज में चर्चाएँ चलीं, परंतु 'इदमित्थम्' वाले निर्णायक प्रमाणों के अभाव में, उन कृतियों का अस्तित्व एक प्रश्न-चिन्ह ही रह गया है। सर्वविदित तथ्य यह है कि तेलुगु भाषा के प्रथम कवि नन्नय्य थे तथा उनके द्वारा प्रवर्तित भाषा-नियमों का ही पालन अद्यावधि तेलुगु के विद्वान लेखक करते आ रहे हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि नन्नय्य के युग की भाषा को ही ज्यों का त्यों हम प्रयोग कर रहे हैं, परंतु फिर भी यह सत्य है कि भाषा का जीव-सत्व तथा भाषा के स्वरूप-स्वभाव अधिकांश में आज भी उसी प्रकार के बने हुए हैं। जिस प्रकार तीस वर्ष के मनुष्य से परिचित हो कर पुनः साठ वर्ष की आयु में उसको देख कर उसे भिन्न व्यक्ति नहीं मानेंगे, उसी प्रकार भाषा में प्राप्त स्थूल परिवर्तनों के बावजूद, जब तक उसकी आत्मा नहीं बदलती, उसे कोई भिन्न भाषा नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्य के बाल्य, कौमार आदि चार वयोदिशाएँ मानी जाती हैं, उसी प्रकार तेलुगु का भी युग-विभाजन किया जा सकता है।

भारत-रचना का आरंभ-काल ग्यारहवीं शती ई० है। उस युग से ले कर अब तक एक युग और उससे पहले के काल-खंड को अलग युग माना जा सकता है। इन्हीं दो काल-खंडों को, विशेषताओं के आधार पर अवांतर विभाजन करें तो, कुल पाँच युग बनते हैं: १. ईसा से पूर्व, २. प्रथम शती ई० से सातवीं ई० तक, ३. सातवीं शती ई० से ११ शती ई० तक, ४. ग्यारहवीं

शती ई० से १९ शती ई० तक तथा ५. १९ वीं शती ई० से लेकर आज तक। इस प्रकार विभाजित काल-खंडों में प्रथम तीन तेलुगु भाषा के साहित्य के उद्गम से पूर्व-दशा को तथा अनंतर के दो काल-खंड तेलुगु भाषा तथा साहित्य की परवर्ती दशा को बताते हैं।

उपरिनिर्दिष्ट तीसरे युग (सातवीं शती ई० से लेकर ग्यारहवीं शती ई० तक)—में तेलुगु गद्य में लिखित शिलालेख, कुछ पद्यमय शिलालेख जिनमें तेलुगु के देशी छंद (सीसमु, तरुवोज, अक्कर आदि) प्रयुक्त हुए हैं, मिलते हैं। इन शिलालेखों में, ब्राह्मणों को, मंदिरों को तथा कुछ अन्य राजसेवी व्यक्तियों को तत्तत्कालीन राजाओं के आज्ञानुसार दिये हुए, इनाम, भूमिखंड आदि का जिक्र मिलता है। 'महाभारत' में जैसा न उदात्त सूक्तियों का कथन, न कथाओं अथवा उपकथाओं का रमणीक निर्वाह, इनमें उपलब्ध होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार, इस युग में अवश्य कतिपय सुदीर्घ प्रबंध काव्य तथा उनमें संस्कृत छंदों का (जैसे—उत्पलमाला, शार्दूल-विक्रीडितम् आदि) प्रयोग हुआ होगा और वे रचनाएँ सब कालकवलित हुई होंगी। परंतु इस विचार की पुष्टि में न कोई सही प्रमाण न कोई अकाट्य तर्क ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इस युग के शिलालेखों की भाषा से अवश्य हम तत्कालीन तेलुगु भाषा की संरचना तथा व्याकरणपरक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। और एक विशेषता यह थी कि इन्हीं दिनों समसामयिक राजाओं का आदर तेलुगु को प्राप्त हुआ था, जिसके कारण ही वह शिलालेखों में प्रयुक्त किया जाने लगा। तेलुगु का समादर करने वाले प्रथम राजा पूर्वचालुक्यवंशीय थे। इस राजवंश के मूल पुरुष कुब्जविष्णुवर्धन का राजत्व-काल ६१५ ई० से ६३३ ई० तक था। इसी राजवंश का सत्ताईसवाँ वंशधर, राजनरेंद्र ही तेलुगु को एक साहित्यिक स्तर दान कर के युग-प्रवर्तक बने।

दूसरे युग (१-६०० ई० तक) में तेलुगु में लिपिबद्ध शिलालेख नहीं के बराबर हैं। यदि कतिपय शिलालेख इस युग के माने जायँ, तब भी वे इस युग के अंतिम चरण के ही हो सकते हैं। प्रायः इस युग के शिलालेख संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध होने के कारण तत्कालीन तेलुगु भाषा की संरचना के संबंध में हम अनभिज्ञ ही रह जाते हैं। यहाँ तक कि कुछ विद्वान उस युग में तेलुगु के अस्तित्व के बारे में भी संशयालु हो सकते हैं। परंतु एक बात है। इतने विशाल भूखंड में यह कल्पना कैसे की जा सकती है कि तेलुगु भाषा एकदम कहीं से टपक पड़ी थी? अतः यह निश्चित है कि अवश्यमेव इस युग में भी, तेलुगु भाषा का कोई प्रारूप लोगों के व्यवहार में था। परंतु शासकों का आदर प्राप्त न होने के कारण, शिलालेखों में उल्लिखित नहीं हो पायी।

वास्तव में, इस दूसरे युग के शिलालेखों के अवलोकन से यही बात प्रमाणित होती है कि जनवाणी में तेलुगु भाषा का प्रारूप अवश्य विद्यमान था। तत्कालीन संस्कृत तथा प्राकृत के शिलालेखों में, तेलुगु प्रदेश के गाँवों के नाम मिलते हैं, जो प्रायः तेलुगु भाषा के ही हैं। 'विरिपरु', 'चिल्लरेक', 'तोटिकोंट', 'वेंगी', 'टेंदुलुरु', 'ओगोडु' आदि उन शिलालेखों में हैं। ये क्रमशः आज के 'विप्पर्ति' 'चिल्लरिगे', 'ताटिकोंड', 'वेंगि', 'देंदुलूरु' 'ओंगोलु' आदि ग्रामों के प्राचीन नाम थे। इन नामों में कालांतर में थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ था।

ईसा से पहले अर्थात प्रथम युग में इस भाषा का क्या स्वरूप रहा था, इसका अनुमान तक लगाने के लिए कोई आधार नहीं मिलता। उस युग के शिलालेख नहीं के बराबर हैं। यदि एकाध मिलता तो भी, उनसे तत्कालीन तेलुगु पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। परंतु इतना तो कहा जा सकता है कि जो तेलुगु का प्रारूप दूसरे युग में उपलब्ध है, लगभग इसी प्रकार का भाषा-रूप प्रथम युग में भी होना चाहिए। सभी भाषा-वैज्ञानिक इस बात पर सहमत हैं कि तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम, इन चारों भाषाओं की एक मूल भाषा ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व ही विद्यमान होनी चाहिए, जिससे कालांतर में ये भाषाएँ, पृथक रूप से विकसित होने लगीं। इस सिद्धांत के अनुसार यह सहज अनुमेय है कि तेलुगु का भी प्राचीन तमिल और कन्नड़ के साथ-साथ समरूप होना चाहिए।

सातवीं ई० तक तेलुगु प्रदेश में संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं की ही प्रधानता रहने के कारण तथा तेलुगु का कोई विशिष्ट प्रयोजन नहीं होने के कारण, तेलुगु भाषा की संरचना के संबंध में हम अज्ञान में ही रह गये हैं। वैसे तो आंध्र शातवाहनों ने तेलुगु प्रदेश पर ई० पू० २३४ से ले कर २०७ ई० तक अर्थात चार शतियों तक राज्य किया था। इन राजाओं ने प्राकृत भाषा का ही आदर किया था। उनके द्वारा उत्कीर्ण शिलालेख, प्रणीत अथवा संकलित ग्रंथ प्राकृत भाषा में ही हैं। उनका नित्यप्रति व्यवहार प्राकृत भाषा में ही चल रहा था। उन्होंने तेलुगु का आदर नहीं किया। उनके अनंतर लगभग सातवीं शती ई० तक विभिन्न वंशीय राजाओं ने तेलुगुप्रदेश पर राज्य किया था, परंतु उन दिनों स्पर्धा अथवा संघर्षण तथा प्राकृत के बीच था, तेलुगु की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया था। सातवीं शती ई० से अर्थात चालुक्य नरेशों के राजत्व-काल के आरंभ से ही तेलुगु आदृत होने लगी। चार शतियों के अनंतर जो साहित्य स्तर तेलुगु को प्राप्त हुआ था, वह भी राज-समादरण के द्वारा ही। तब तक प्राकृत भाषा की प्रधानता लुप्त हो चली। संस्कृत भाषा तो केवल पंडितों की भाषा रह गयी। अतएव तेलुगु भाषा विकास के पथ पर अग्रसर होने लगी।

चौथा युग १००० ई० से १८०० ई० तक है। इस युग को नन्नय्य युग कहा जा सकता है। नन्नय ने अपने से पहले तेलुगु की जो अव्यवस्थित दशा थी, उसको सुधारा तथा एक सुव्यवस्थित भाषा को प्रस्तुत करने के लिए 'महाभारत' की रचना तेलुगु में आरंभ किया था। तब तक तेलुगु की वाक्य-संरचना, विभक्ति-प्रणाली आदि अविकसित थी, उन सबको संस्कृत की तथा कन्नड़ साहित्य की देखादेखी नन्नय्य ने सँवारा। उनके अनंतर उनके अनुयायी-कवि, उसी मार्ग पर चल कर नन्नय्य की अभिव्यक्ति-शैली को संपुष्ट किया था। संस्कृत का अनुसरण व अनुकरण करना तथा उस संस्कृत साहित्य का अनुवाद करना, ये ही दो बातें नन्नय्य-मार्ग के प्रधान लक्षण थे। कालांतर में नन्नय्य के पद-चिन्हों में ही तेलुगु व्याकरण का भी विकास हुआ था। उन्नीसवीं शती ई० में इस भाषा-प्रवाह में दिशा-परिवर्तन होने को था।

अंग्रेज़ों का शासन भारत में प्रतिष्ठित होना, अंग्रेज़ी विद्वानों द्वारा हमारी भाषाओं का आदर करना, हमारे देश के सभी बुद्धिजीवियों द्वारा अंग्रेज़ी भाषा तथा साहित्य का अध्ययन करना, विभिन्न प्रांतों के निवासियों में परस्पर संपर्क और परिचय बढ़ाने वाले रेलगाड़ी का याता-

यात, शिक्षा का देश के सभी वर्गों में प्रचार, मुद्रित पुस्तकों की उपलब्धि, समाचार-पत्रिकाओं का प्रचलन, जन-साहित्य तथा जनवाणी का प्राधान्य बढ़ना आदि अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति तेलुगु भाषा में भी परिवर्तन लाने के उपकरण प्रमाणित हुए हैं।

सन १८१७ ई० से ले कर सन १८५५ ई० तक सी० पी० ब्राउन नामक अंग्रेज़ महानुभाव मछलीपत्तनम् आदि नगरों में जिलाधीश के रूप में रहे। तेलुगु के प्रति ये इतने आकृष्ट हुए तथा उस पर इतने आसक्त हुए कि इन्होंने तन-मन-धन से तेलुगु भाषा की सेवा की थी। इनकी बड़ी देन यह थी कि उपलभ्यमान तेलुगु पांडुलिपियों का बहुत संकलन कर के नष्ट होने से उनको बचाया। एक ही प्रबंध काव्य की विभिन्न पांडुलिपियों का ग्रहण कर के पाठ-निर्धारण आदि कर के उनकी सही प्रति का संपादन करते थे। अकारादि क्रम से तेलुगु में कोश का संकलन सर्व-प्रथम इन्होंने किया था। यही नहीं, साहित्य का इतिहास तथा कवियों के काल आदि का शोध वग़ैरह सर्वप्रथम इन्हीं के द्वारा तेलुगु में संपन्न हुआ था। आधुनिक ढंग से व्याकरण लिखने का मार्ग भी इन्होंने प्रशस्त किया था।

१८८० ई० से हमारी भाषा का संवर्धन अंग्रेज़ी भाषा के संपर्क से होने लगा था। फलतः तेलुगु पर अंग्रेज़ी के हर प्रकार का प्रभाव पड़ने लगा। अंग्रेज़ी शब्द, अंग्रेज़ी का वाक्य-विधान, अंग्रेज़ी साहित्य की प्रक्रियाएँ, तेलुगु में प्रवेश कर गये। इस प्रभाव को तेलुगु में आत्मसात करने वाले सर्वप्रथम गण्यमान्य तेलुगु लेखक श्री वीरेशलिंगम् पंतुलु थे। ये इस युग के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। इस युग में न केवल संस्कृत साहित्य अपितु अंग्रेज़ी तथा अन्य भारतीय साहित्य भी तेलुगु के संवर्धन और संपोषण में योगदान पहुँचा रहे थे।

भाषा-परिणाम के लिए सबसे बड़ा सहायक उपकरण व्याकरण है। नन्नय्य के युग में व्याकरण की रचना-पद्धति केवल संस्कृत व्याकरण से अनुप्राणित थी। परंतु तथ्य यह है कि तेलुगु भाषा की प्रकृति संस्कृत से भिन्न है। वह अत्यंत सुगम तथा ऋजुगामी है। संस्कृत के व्याकरण संप्रदाय का अवलंबन तेलुगु वैयाकरणों ने उन्नीसवीं शती ई० तक किया था। तदनंतर अंग्रेज़ी व्याकरण का प्रभाव पड़ा था। फलतः आज हम तेलुगु व्याकरण में संस्कृत और अंग्रेज़ी व्याकरण-पद्धतियों का समन्वय देख सकते हैं। अतः व्याकरण संबंधी अनेकानेक मौलिक विचारों में परिवर्तन हो चला है।

तेलुगु की शब्दावली भी अधिकांश में समृद्ध हुई। नन्नय्य से पहले तेलुगु की शब्दावली अत्यंत सीमित थी। तेलुगु की आधारभूत शब्दावली तमिल आदि अन्य द्रविड भाषाओं की आधारभूत शब्दावली से अभिन्न थी। आज भी एक ही शब्द एक ही रूप में एक ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। कुछ शब्दों में थोड़ा सा परिवर्तन हो चला, परंतु यह स्पष्ट झलकता है कि इन शब्दों का स्रोत एक ही है। आरंभ में उपलब्ध तेलुगु की समग्र शब्दावली इसी प्रकार की थी। नन्नय्य ने अनु-भव किया कि तेलुगु में प्रयुक्त शब्दावली काव्य-रचना के लिए अपर्याप्त है। अतः उन्होंने संस्कृत शब्दों में ही तेलुगु-प्रत्यय लगा कर संस्कृत में प्रयुक्त अर्थ में ही उन शब्दों का प्रयोग तेलुगु में किया था। यदि कहीं कुछ शब्दों में रूप-परिवर्तन अथवा अर्थ-परिवर्तन दिखायी दिया, तो उनको उसी अर्थ में ग्रहण किया था। इसी पद्धति को परवर्ती काल के कवियों ने भी अपनाया और आज भी

अपना रहे हैं। इधर तेलुगु प्रदेश के कुछ भागों पर मुसलमानों का शासन तेरहवीं शती ई० से ही जाने के कारण, हिंदुस्तानी, अरबी तथा फ़ारसी के अनेक शब्द तेलुगु में व्यवहारवश अर्थात जनवाणी के द्वारा आ गये हैं। दूसरी ओर कन्नड़, तमिल, मलयालम के शब्द भी तेलुगु में प्रवेश कर गये हैं। अठारहवीं शती ई० से पश्चिमी देशवासियों के संपर्क में आने से फ़्रेंच, पुर्तगाली, डच आदि भाषाओं के शब्द, अंग्रेज़ी के अतिरिक्त तेलुगु में सम्मिलित हुए। आज भी इन शब्दों का प्रयोग तेलुगु में ही हो रहा है। परंतु इस प्रकार के शब्दों की संख्या अधिक नहीं है। अंग्रेज़ी शब्दों की बात अलग है। अंग्रेज़ी शब्द तो विज्ञान के माध्यम से और प्रशासन के माध्यम से प्रचुर मात्रा में तेलुगु में प्रविष्ट हो गये। कुछ शब्दों का रूप-परिवर्तन हुआ और अनेक शब्द नित्यप्रति व्यवहार में, सहस्रों की संख्या में तेलुगु के लोग इस्तेमाल करते हैं। एक बात है। ये अंग्रेज़ी शब्द व्यवहार में खूब चलते हैं, परंतु अभी इनकी प्रतिष्ठा काव्य-भाषा में इतनी नहीं हो पायी। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार समस्त संस्कृत शब्दावली को पूर्णतया निस्संकोच भाव से तेलुगु में प्रयोग करते हैं, उस मात्रा में इन शब्दों को नहीं। निष्कर्ष यह है कि संस्कृत तो तेलुगु का एक अंग बन गयी, जब कि अंग्रेज़ी उस सीमा तक नहीं पहुँची।

तेलुगु भाषा के विकास-क्रम को जानने के लिए तीसरे युग की भाषा हमारे काम की है। वैसे तो यह केवल शिलालेख-लिपिबद्ध है। और मात्रा में भी कम है। फिर भी इससे एक ओर तेलुगु का अन्य द्रविड़ भाषाओं से क्या संबंध है, इस पर प्रकाश पड़ता है तो, दूसरी ओर तेलुगु भाषा के विकास-क्रम के अध्ययन के लिए सहायता मिलती है। आज के विभक्ति-प्रत्यय 'डु, मु, वु, लु' आदि के पूर्व रूपों का स्पष्ट विकास-क्रम समझ सकते हैं। अतः तेलुगु भाषा के इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए, इस युग की भाषा की अपेक्षा सदैव बनी रहती है।

तेलुगु भाषा के विकास-क्रम के अध्ययन से यह बात स्पष्ट लक्षित होती है कि आरंभ की सात शतियों में उसकी विशेष प्रधानता नहीं रही है और वह गौण दशा में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की आड़ में जैसे-तैसे दिन काट रही थी। कालांतर में ज्यों-ज्यों तेलुगु प्रदेश में संस्कृत और प्राकृतों की प्रधानता कम होती चली तथा तत्कालीन शासक-वर्ग का आदर प्राप्त होता चला, त्यों-त्यों तेलुगु की प्रधानता बढ़ने लगी। इस प्रकार उसमें समृद्ध साहित्य का भी निर्माण हो सका। तेलुगु ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं से कई विषयों का ग्रहण किया था। परवर्ती काल में, अंग्रेज़ी साहित्य के संपर्क में उसका संवर्धन और विस्तार हो कर वह समूची आंध्र जनता के लिए विज्ञान-वर्धक विचार-वाहिका बन सकी। भाषावार प्रदेशीय विभाजन के लिए तेलुगु ने ही मार्ग दिखाया।

अब संक्षेप में, आज की स्थिति का अवलोकन तथा आकलन करना आवश्यक है। तेलुगु में पुस्तकीय भाषा तथा व्यवहृत जनवाणी में अंतर दिखायी देता है। पुस्तकीय भाषा एक प्रकार से आंध्र प्रदेश में, एक ही स्तर की तथा एक ही संरचना की होती है। यह स्तरीय भाषा हमें, व्याकरण-प्रणयन में, कोश-रचना में, कवि-प्रयोगों में, शिक्षित शिष्ट जनता की व्यवहृत भाषा में मिलती है। अतः यह प्रामाणिक भाषा मानी जाती है। हाँ, यह तो सच है कि इस प्रामाणिक भाषा में भी समय के साथ थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहता है। नन्नय्य के द्वारा प्रयुक्त 'महाभारत'

के कुछ प्रयोग आज की भाषा में उपलब्ध नहीं होते। नित्यप्रति व्यवहार में से तो बिलकुल ओझल हो चुके। इस प्रकार नन्नय्य काल की भाषा से आधुनिक तेलुगु भाषा कुछ भिन्न होते हुए भी, वह इतनी दूर नहीं जा पायी कि उसकी पहचान ही कठिन हो। मतलब यह है कि नन्नय्य की भाषा आज भी हरेक व्यक्ति के लिए बोधगम्य ही है। नन्नय्य के पूर्व की तेलुगु भाषा तो कुछ अस्त-व्यस्त सी ही रही। आजकल तेलुगु लेखक लिपिबद्ध भाषा में 'चेयुचुन्नाडु'[1] 'चेसिनाडु' आदि स्तरीय रूपों का प्रयोग करते हैं, परंतु बोलते समय, सीमा-भेद के अनुसार 'चेस्तुन्नाडु'[2] 'चेस्तंडु' 'चेसाडु' 'चेसिडु 'आदि रूपों का प्रयोग लोग करते हैं। इस प्रकार का अंतर लिपिबद्ध भाषा तथा व्यवहृत भाषा में, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में भी पाया जाता है। परंतु कुछ लोगों का आग्रह है कि हमें उसी प्रकार लिखना चाहिए जिस प्रकार हम बोलते हैं। इसी व्यावहारिक शैली में बाक़ायदा लिखने वाले भी हैं। हाँ, यह सच है कि विद्यार्थियों के लिए भाषा का अध्ययन सरल और सुलभ होगा। परंतु इस व्यावहारिक शैली में निहित आशंका यह है कि कालांतर में सीमा-भेदगत भावना बढ़ कर प्रदेशीय अखंडता ही ख़तरे में पड़ सकती है। यही नहीं, स्तरीय एवं प्रामाणिक भाषा के अभाव में हम अपने प्राचीनों की काव्य भाषा से दूर हो जायँगे। नयी प्रामाणिक भाषा के लिए नये वाङमय की सर्जना होनी चाहिए। परंतु यह भी सत्य है कि किसी भी भाषा का साहित्य एक रात में उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। हाँ, व्यावहारिक शैली का भी मानकीकरण होने के बाद कुछ पीढ़ियों तक साहित्यिक सर्जना के अनंतर एक स्तर निर्धारित हो सकता है। परंतु यह सब भविष्य की बात है।

निकट भविष्य में तेलुगु भाषा में ही सभी आधुनिक विश्व-विज्ञान को समाहित कर के, तेलुगु के शिक्षार्थियों तथा जिज्ञासुओं को ज्ञान-भिक्षा देने का पुनीत कर्तव्य तेलुगु के शिक्षित वर्ग पर है। सुदूर अतीत में जब महान कवि नन्नय्य पर एवंविध उत्तरदायित्व आ पड़ा, तो उन्होंने यह अनुभव किया था कि आवश्यक शब्दावली तेलुगु में नहीं है। अतः उन्होंने संस्कृत भाषा से शब्दावली का उन्मुक्त हृदय से तेलुगु में आह्वान किया और अपने कर्तव्य का पालन सुंदर ढंग से किया था। आज समस्या का रूप और आयाम कुछ भिन्न है। विश्व-विज्ञान-वाहिका के रूप में तेलुगु का संवर्धन करना हो, तो शब्दावली का संग्रहण किस स्रोत से किस मात्रा में हो, यह एक बड़ी समस्या है। तेलुगु में अंधाधुंध शब्दों का गठन नहीं किया जा सकता। यह भी एक समस्या है कि संस्कृत शब्दावली को ही कुछ परिवर्तित रूप में आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार ढाल कर प्रयोग किया जाय अथवा अंग्रेजी की अधिकाधिक सहायता इस दिशा में ली जाय। एक बात और है। क्या ये तकनीकी शब्द विभिन्न भारतीय भाषाओं में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हों अथवा

---

१. चेयुचुन्नाडु---करता है---यह क्रिया का ग्रांथिक रूप माना जाता है। चेसिनाडु---किया है---वही।

२. चेस्तुन्नाडु---करता है-क्रिया का यह व्यावहारिक रूप तीरस्थ जिलों में किया जाता है। चेस्तंडु---उसी अर्थ में रायलसीमा तथा तेलंगाना में किया जाता है।---अनुवादक

सभी भारतीय भाषाओं में इनका प्रयोग एक सरीखा हो, यह भी विचारणीय प्रश्न है। इन सारी समस्याओं का समाधान क्रमशः होना चाहिए। इनका समाधान वास्तव में विज्ञ और प्रशासक ढूँढ़ रहे हैं। धीरे-धीरे उपयुक्त मार्गों का उद्‌घाटन भी होता जा रहा है। आधुनिक भारत में हिंदी भाषा का अपना अलग महत्व तो है ही। भविष्य ही यह निर्धारण करने में समर्थ होगा कि हिंदी भाषा के प्रभाव से अन्य भारतीय भाषाएँ कहाँ तक प्रभावित एवं लाभान्वित हुई हैं।

इस प्रकार भूत, वर्तमान तथा भविष्य की तेलुगु भाषा की उपलब्धियों और संभावनाओं पर ध्यान देने के बाद हमें तेलुगु भाषा के लिए प्रयुक्त विभिन्न नामों का अध्ययन करना चाहिए। आज तेलुगु भाषा तीन अलग नामों से व्यवहृत हो रही है। १. आंध्र भाषा, २. तेनुगु तथा ३. तेलुगु। इन तीनों में आंध्र शब्द संस्कृत भाषा का है। शेष दोनों शब्द देशज शब्द ही हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में, 'आंध्र' शब्द का व्यवहार एक जातिपरक अर्थ में प्रयुक्त हुआ था। यही नहीं, आंध्र राजाओं के संबंध में हमें, विभिन्न पुराणों में तथा विदेशी यात्रियों के वर्णनों में उल्लेखन मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि आंध्र शब्द का प्रयोग प्रथमतः जातिपरक अर्थ में ही हुआ करता था। अनंतर यह देशपरक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। तदनुसार इस भूखंड को प्राचीन काल के शिलालेखों में, आंध्रपथ, आंध्र विषय, आंध्र देश नाम से अभिहित किया गया। इस शब्द का प्रचलन तीसरी शती ई० से दिखायी दे रहा है। उससे पहले यह सारा भूमि-खंड 'दक्षिणापथ' नाम से ही व्यवहृत होता था। तदुपरांत आंध्र शब्द का व्यवहार भाषापरक अर्थ में होने लगा था। नन्नय्य ने स्वरचित शिलालेखों में, आंध्र शब्द का प्रयोग भाषापरक अर्थ में किया था। फिर स्वरचित 'महाभारत' में तेनुगु शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया था। तेलुगु शब्द का प्रयोग परवर्ती ग्रंथों में दिखायी दे रहा है। आंध्रप्रदेश के प्रसिद्ध क्षेत्र १. दक्षाराम २. श्रीशैल तथा ३. श्री कालहस्ति, तीनों में शिव की लिंगाकार प्रतिष्ठा है। अतः ये तीनों त्रिलिंग कहे जाते हैं। इन तीन लिंगों के अंतर्गत आने वाला भूखंड त्रिलिंग देश कहा जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में यही विचार प्रकट किया गया है। तात्पर्य यह है कि यह त्रिलिंग शब्द ही कालांतर में, जनवाणी में तेलुगु शब्द बना है। इस विचार की संपुष्टि में हमें शिलालेखों में 'तिलिंग, तेलुंग, तेलिंग' आदि शब्द मिलते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार, बीच का लकार 'न' में परिवर्तित हुआ है, जिससे तेनुगु शब्द का भी प्रयोग होने लगा। परंतु यह विचार तर्कसम्मत नहीं है। क्योंकि तेलुगु शब्द से पहले ही तेनुगु शब्द का प्रयोग साहित्य में हुआ था। द्रविड भाषाओं में तेनुगु शब्द का अर्थ दक्षिण है। इस भूखंड को दक्षिणापथ, दक्कन आदि नामों से व्यवहृत करना इतिहास प्रसिद्ध है। तेनुगु शब्द इसी दक्षिण शब्द का ठेठ अनुवाद माना जा सकता है और वास्तव में उसी प्रकार तेनुगु शब्द की प्रतिष्ठा जनवाणी एवं साहित्य में हो पायी। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये तीनों शब्द 'आंध्र', 'तेलुगु' तथा 'तेनुगु' भाषापरक अर्थ में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

—अनु० : हनुमच्छास्त्री अयाचित।

न० वी० राजगोपालन

तेलुगु और अन्य द्राविड़ भाषाएँ

भारत की सब भाषाओं में तेलुगु भाषा का व्यवहार-क्षेत्र—हिंदी के क्षेत्र को छोड़ कर—सर्वाधिक विशाल है; और द्राविड़ भाषाओं में सबसे अधिक वैशाल्य इसी का है। भारत की कुल जनसंख्या में दस करोड़ से अधिक लोग द्राविड़ भाषाएँ बोलते हैं और तेलुगु बोलने वालों की संख्या लगभग तीन करोड़ है। भारत से बाहर पश्चिम पाकिस्तान में बोली जाने वाली 'ब्राहुई' भाषा इसी परिवार के अंतर्गत है।

भारत में निम्नलिखित द्राविड़ भाषाओं की अब तक पहचान हुई है: (बोलने वालों की संख्या के अनुक्रम में)। १. तेलुगु ('ते में ह्रस्व 'ए कार है), २. तमिळ, ३. कन्नड़, बडग, ४. मलयाळम्, ५. तुळु, ६. कुरुख, ७. कुई/कुवि, ८. गोंदी, ९. कुडगु, १०. गदव, औल्लादि, सलूर, ११. कोलामी, १२. माल्तो, १३. पर्जी, १४. कौंड, १५. नायकि, १६. कोत, १७. तोद। भारत के दक्षिण भाग में तेलुगु, तमिल, कन्नड़, मलयाळम और तुळु—एक ही विस्तार में फैली हैं। शेष भाषाएँ भारतीय-आर्य परिवार की या मुंडा परिवार की भाषाओं के मध्य बिखरी पड़ी हैं। विविध भाषाओं के संपर्क में तथा प्रभाव में रह कर विकसित हुई इन भाषाओं को भाषाशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार से पहचानना और दूरस्थित समवर्गीय भाषा के साथ उसका साम्य निरूपित करना कठिन कार्य नहीं है।

दक्षिण भारत में प्रचलित चार बड़ी भाषाएँ साहित्य से संपन्न हैं। अति प्राचीन काल से इनमें शिलालेख तथा विविध साहित्य क्रमबद्ध ढंग से प्राप्त होता है। तमिळ में लगभग ढाई हज़ार वर्ष का, कन्नड में लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष का, तेलुगु में लगभग एक हज़ार वर्ष का और मलयाळम में लगभग सात सौ वर्ष का प्राचीन साहित्य उपलब्ध है। इस साहित्य की सहायता से उक्त भाषाओं के विकास-क्रम का अध्ययन सुकर हो सका है।

शेष भाषाओं का इतिहास अभी खोज का विषय है।

सभी द्राविड़ भाषाओं को कुछ विशिष्ट लक्षणों की समता के आधार पर तीन वर्गों में रख सकते हैं।

उत्तर द्राविड़ वर्ग में कुरुख, माल्तो और ब्रहुई आती हैं। ये क्रमशः बंगला, उड़िया, और बलूची बोलियों के संपर्क में हैं, दूसरा मध्य द्राविड़ वर्ग है, जिसमें गोंदी, कोलामी, पर्जी, कुई, कुवि

आदि हैं। ये मध्यप्रदेश में, आंध्र के उत्तरी छोर में और आंध्र के भीतर कहीं-कहीं प्रचलित हैं; इनके बोलने वाले वन्य एवं पार्वत्य जाति के लोग हैं। दाक्षिणात्य वर्ग में तमिल, कन्नड़, मलयाळम और तुळु का अंतर्भाव है।

तेलुगु दक्षिण वर्ग में अंतर्भुक्त की जाती है; किंतु इसके अनेक लक्षण मध्यवर्गीय द्राविड़ भाषाओं के समान हैं। वास्तव में तेलुगु एक ऐसी कड़ी है जो मध्य एवं दक्षिणी वर्गों को सम्पृक्त करती है।

तेलुगु की एक और विशिष्टता है उसका संस्कृत और प्राकृत से अत्यधिक प्रभावित रहना। इस कारण तेलुगु का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण जटिल हो जाता है। इस भाषा के संबंध में विद्वानों में काफ़ी वाद-विवाद होता रहा है। कुछ वर्ष पूर्व डॉ० चि० नारायण रावु जैसे विद्वान ने यह सिद्ध करने का यत्न किया था कि तेलुगु यथार्थ में आर्य परिवार का अंग है। किंतु ध्वनि-गठन, शब्द-रचना के लक्षण, मूल धातु एवं आधारभूत शब्दावली आदि इस कथन को अप्रामाणिक कर देते हैं।

स्वयं 'तेलुगु' शब्द के संबंध में विद्वानों में अनेक मत प्रचलित हैं। तेलुगु का दूसरा नाम 'आंध्र' है और 'तेलुगु' का रूपांतर 'तेनुगु' भी होता है। 'तेलुगु' जिस परिवार का अंग है—अर्थात 'द्राविड़'—उसकी व्युत्पत्ति के संबंध में भी काफी चर्चा चली है। डॉ० काल्डवेल ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'द्राविड़ भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन' (सन १८५६ ई०) में 'द्राविड़ परिवार' नाम के औचित्य की अनेक उपपत्तियाँ दी हैं। काल्डवेल ने कुमारिल भट्ट (सातवीं शती ई०) की कृति 'तंत्रवार्तिक' से 'आंध्रद्राविड' उद्धरण दे कर 'द्राविड़' शब्द को भाषापरक अर्थ में प्रयुक्त माना है। किंतु बाद में प्रमाणित हुआ कि यह उद्धरण अशुद्ध है। वास्तव में यह 'अथ द्राविड़' था। 'द्राविड़' शब्द देशवाचक और जातिवाचक रूप में पुराणों में व्यवहृत है। दर्शन के क्षेत्र में 'द्रमिडाचार्य' जैसे नाम विख्यात हैं। तमिळ भाषा के लिए 'द्राविड़' का प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। उन्नीसवीं शताब्दी ईस्वी से तमिल के अतिरिक्त तेलुगु आदि अन्य भाषाओं को मिला कर 'द्राविड़ परिवार' का नाम दिया जाने लगा।

द्रम्मिल्ल, द्रमिळ, द्रमिड, द्रविड़ आदि शब्द इस शब्द के विकास-क्रम को स्पष्ट करते हैं। विद्वानों का मत है कि आजकल का 'तमिल' शब्द इस शब्द का विकसित रूप है। किंतु तमिल-विद्वान 'तमिल' शब्द को मूल और द्रविड़ आदि को उसके विकसित रूप मानते हैं।

द्राविड़ परिवार की वर्तमान भाषाओं में तमिल प्राचीनतम परंपरा को यथावत वहन करती हुई अब तक प्रचलित रही है। प्राचीन (मातृक) द्राविड़ भाषा की एक बोली का विकास, तमिल से पृथक 'कन्नड़' के रूप में हुआ, जिसका अस्तित्व पाँचवीं शती ईस्वी से पहले से ही प्रमाणित हुआ है। कन्नड़ से तेलुगु कन्नड़ भाषा से संबद्ध थी और उसका स्वतंत्र विकास आठवीं-नवीं शतियों से हुआ। तमिल क्षेत्र के अंतर्गत व्यवहार में स्थित एक बोली का 'मलयाळम' के रूप में विकास हुआ। इसका समय बारहवीं-तेरहवीं शती माना जाता है। (कुछ विद्वानों ने इन भाषाओं के उद्गम का काल इससे भी प्राचीन निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।)

द्राविड़ परिवार की अन्य भाषाओं में लिपिबद्ध साहित्य के न होने से उनके विकास-क्रम का पता लगाना कठिन है।

तेलुगु, तेनुगु और आंध्र एक ही भाषा के नाम हैं। 'आंध्र' का प्रयोग 'अंध्र', 'अंधक', 'आंध्र' आदि रूपों में ऐतरेय ब्राह्मण से ले कर पुराणों तथा अन्य साहित्य में पाया गया है। यह शब्द पहले एक मनुष्य-वर्ग का नाम था (विश्वामित्र के शापग्रस्त पुत्र जो व्रात्य और वैदिक कर्महीन बना दिये गये, दक्षिण के दंडकारण्य प्रांत में आ कर बसे, जिन्हें 'अंधक' या 'अंध्र' कहा गया था।)

ईस्वी शती के प्रारंभ-काल में 'आंध्र' का प्रयोग अनेक शिलालेखों में किया गया है; ये प्रयोग 'आंध्रजन', 'आंध्रराजा' या 'आंध्रदेश' के लिए हुए हैं। भाषा के अर्थ में 'आंध्र' का प्रयोग ग्यारहवीं शती से होने लगा। तेलुगु के प्रथम महाकवि 'नन्नय' ने 'आंध्रशब्दचिंतामणि' नाम से संस्कृत भाषा में तेलुगु-व्याकरण की रचना की; किंतु उनके विरचित 'आंध्र महाभारतमु' में 'तेलुगु' का भी प्रयोग है। तेलुगु (या तेनुगु) इस भाषा का प्राचीन नाम है, और 'आंध्र' नाम बाद में पड़ा।

आठवीं शती के पूर्व आंध्रप्रदेश में किस भाषा का अधिक व्यवहार होता था—यह निर्णय करना दुष्कर है। प्रथम शती के समय राज करने वाले 'शातकर्णी' राजाओं के शिलालेख 'प्राकृत' में हैं और चौथी शती के पश्चात पल्लव आदि राजाओं के शिलालेख संस्कृत में।

इन राजाओं का अधिकार-क्षेत्र आंध्र की सीमा से बाहर भी फैला था। (शातकर्णी राजाओं की राजधानी 'प्रतिष्ठानपुर' थी, जो महाराष्ट्र में है) अतएव इनकी 'राजभाषा' प्राकृत या संस्कृत रही हो तो आश्चर्य नहीं है। किंतु जनता के व्यवहार की भाषा कोई 'द्राविड़' बोली थी, जिसका नाम 'तेलुगु' था।

'तेलुगु' के तिलग, तिलंग, तेलंग, तेलग, तेलुंगु, आदि रूप भी प्रचलित थे। यह मौलिक रूप में एक 'जाति' का बोधक था। ईसा के पूर्व की शताब्दियों में भी मेगस्थनीज़, टालमी आदि ने 'तेलग' प्रदेश या जनवर्ग का उल्लेख किया है।

विद्वानों में इसकी व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं। 'त्रिलिंग' एक प्रदेश का नाम है; क्योंकि इस प्रदेश का विस्तार तीन प्रसिद्ध लिंगों (शिव-क्षेत्रों) के भीतर था, इसी का विकार 'तेलुगु' है। कुछ अन्य विद्वानों ने इसी प्रकार एक प्रदेशवाचक शब्द 'त्रिकलिंग' से इसका विकास माना है।

तेलुगु का जो रूप ग्यारहवीं शती से ले कर अब तक प्रचलित रहा है, उसका व्याकरण न केवल द्राविड़भाषीय सिद्धांतों को, परंतु संस्कृत एवं प्राकृत के व्याकरण के सिद्धांतों को भी अपना लेता है। अतएव 'आंध्र' वैयाकरणों ने उक्त तीनों व्याकरणों के नियमों का एक प्रकार से समन्वय उपस्थित किया है। तेलुगु भाषा का ध्वनि-संगठन, शब्द-रचना, वाक्य-विन्यास—सभी स्तरों पर संस्कृत, प्राकृत और द्राविड भाषा का यह मिश्रण देखा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर कुछ शब्द-स्तर के नमूने प्रस्तुत हैं:

तत्सम शब्द

संस्कृत	तेलुगु	प्राकृत	तेलुगु
विद्या	विद्य	अग्गी (अग्नि)	अग्गि
धेनुः	धेनुवु	गारवम् (गौरवम्)	गारवमु
भूः	भुवि	जडा (जटा)	जड
पिता	पित	जमो (यमः)	जमुडु
जगत्	जगत्तु / जगमु	राणी (राज्ञी)	राणि
		सिंगारो (श्रृंगारः)	सिंगारमु
		सिरी (श्रीः)	सिरि

तद्भव शब्द

संस्कृत	तेलुगु	प्राकृत	तेलुगु
आकाशः	आकसमु	इंगालो (अंगारः)	इंगलमु
चंद्रः	चंदुरुडु	अच्चरा (अप्सराः)	अच्चर
नाराचः	नारसमु	पुढवी (पृथिवी)	पुडमि
मुखम्	मोकमु / मोगमु	पयाणम् (प्रयाणम्)	पयनमु
		जण्णो (यज्ञः)	जन्नमु
वक्र	वङ्कर	लच्छी (लक्ष्मीः)	लच्चि
समुद्रः	संद्रमु	विण्हू (विष्णुः)	विण्णुडु
स्मरः	मरुडु	वेज्जो (वैद्यः)	वेज्जु

तमिल आदि अन्य द्राविड़ परिवारीय भाषाओं में इतना बाह्य प्रभाव नहीं पड़ा है। उन 'शुद्ध' (?) द्राविड़ भाषाओं के व्याकरण के साथ तेलुगु व्याकरण की तुलना अनेक दृष्टियों से रोचक होती है। शुद्ध द्राविड़ ध्वनियों, शब्द-रचना-प्रक्रिया तथा प्रत्यय आदि की पहचान करने में, और मूल द्राविड़ रूपों का अनुमान करने में द्राविड़ परिवार की उन भाषाओं का, जिनमें लिपिबद्ध साहित्य नहीं है, और जो संस्कृत आदि के प्रभाव से मुक्त हैं, अध्ययन ही अधिक सहायक सिद्ध हुआ है।

तेलुगु के वैयाकरणों ने इस भाषा के ३६ वर्णों (ध्वनि-ग्रामों) को गिनाया है:

(अ) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए (ह्रस्व), ए, ऐ, ओ (ह्रस्व), ओ, औ; (आ) अं (या पूर्ण बिंदु) अ (या खंडबिंदु); (इ) क, ग, च, च़, ज, ज़, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल, व, स, ह, ळ।

('खंडबिंदु' को पृथक् ध्वनि-ग्राम मानने के संबंध में मतभेद है; किंतु 'लिपि' में उसका पृथक अस्तित्व स्वीकृत है।)

संस्कृत-प्राकृत शब्दों के आगम से तेलुगु में महाप्राण ध्वनियों, कुछ नासिक्यों और कुछ स्वरों आदि का भी आगमन हुआ; जैसे—ऋ, ऌ, विसर्ग, महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ (ख, घ, थ, ध आदि), कंठ्य नासिक्य (ङ), तालव्य नासिक्य (ञ), तालव्य संघर्षी (श) और मूर्धन्य संघर्षी (ष)।

किंतु इन ध्वनियों का प्रयोग केवल तत्सम-तद्भव शब्दों में होता है।

आधुनिक तेलुगु के ध्वनि-ग्राम (वर्ण) निम्न प्रकार से हैं:

स्वर	अग्रस्वर	पश्चस्वर
उच्च	ई	ऊ
उच्च मध्य	ए	ओ
निम्न मध्य		
निम्न		आ

(१) ये सभी स्वर ह्रस्व एवं दीर्घ, दोनों रूपों में विद्यमान हैं। (२) दो संयुक्त स्वर 'ऐ' और 'औ' संस्कृत-प्राकृत तत्सम शब्दों में 'शब्द-संयुक्त' हैं। किंतु कुछ आधुनिक भाषाविदों के अनुसार, इनका कभी छंद में 'एकलस्वर' जैसा रूप होता है। (३) एक प्रकार का 'आ' कार तेलुगु के पुराने व्याकरणों के लिए भी विवादास्पद रहा है। 'ताटि+आकु', 'कोट्टि+अक' के रूप क्रमशः 'ताटॉकु' (ताड़ का पत्ता), 'कोट्टॉक' (पीटने के बाद) होते हैं। इनमें मध्य स्थित (संधि जन्म) आकार शुद्ध आकार—पश्चस्वर—नहीं है; किंतु अग्रस्वर है (-अंग्रेजी के कैट बिल्ली, में स्थित 'ए' जैसी ध्वनि)। आधुनिक भाषाशास्त्रज्ञ इसका ध्वनि-ग्रामीय महत्व स्वीकार करते हैं। यह अन्य किसी द्राविड़ भाषा में नहीं है। (४) प्राचीन वैयाकरणों ने तत्सम शब्दों में प्रयुक्त 'ऋ', 'ॡ' को भी परिगणित किया है। किंतु अब इनका शुद्ध उच्चारण नहीं होता।

व्यंजन	ओष्ठ्य	दंत्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	कंठ्य	स्वरतन्त्रीय
स्पर्श	प फ	त		ट ठ		क ख	
	ब भ	द ध		ड ढ		ग घ	
स्पर्श संघर्षी					च छ		
					ज झ		
संघर्षी	फ़		स	ष	श		ह
नासिक्य	म		न	ण			
पार्श्विक			ल	ळ			
			र				
अर्द्धस्वर	व				य		

(१) विसर्ग (:) का प्रयोग शब्दों के मध्य में ही होता है; जैसे--'दुःख, 'अंतःपुर। शब्दांत में 'ह' हो जाता है। 'रामः' का उच्चारण 'रामह' होता है।

(२) च और ज के प्राचीन वैयाकरणों ने दो-दो रूप माने हैं; एक स्पर्श, दूसरा स्पर्श संघर्षी; शुद्ध तेलुगु शब्दों में ये 'त्स' और 'द्ज' जैसे होते हैं। संस्कृत तत्सम शब्दों में ('चतुर्थ' 'जनक') स्पर्श होते हैं। किंतु इधर आधुनिक तेलुगु में इनका लगभग सर्वत्र स्पर्शसंघर्षी रूप होने लगा है। 'राजभाषा' 'आज' आदि शब्द भी 'राजभाषा', 'आज' हो जाता है। शुद्ध स्पर्श इनकी 'संध्वनि' मात्र हैं।

(३) दंत्यस्पर्श 'अघोष महाप्राण' 'थ' ध्वनि आधुनिक तेलुगु में लुप्तप्राय है। इसके स्थान पर 'ध' (सघोष महाप्राण) का प्रयोग ही प्रचुर है। 'अर्थ' को 'अर्ध', 'व्यथा' को 'व्यधा' कहा जाता है।

(४) 'ञ' ध्वनि कहीं-कहीं (समवर्गीय ध्वनियों के संग) आती है। किंतु यह 'न' के साथ परिवर्तनशील ('युक्त वितरक' में) है। अतः 'न' ध्वनि-ग्राम की 'संध्वनि' है।

(५) 'त' और 'द' का 'य' के साथ संयोग होने पर उनका उच्चारण दंत्य न हो कर तालव्य हो जाता है। 'त्य' का उच्चारण 'च्य' और 'द्य' का उच्चारण 'ज्य' होता है। जैसे: साहित्य--साहिच्य, पद्य--पज्य।

यह प्राकृत भाषीय लक्षण है। अद्य > अज्य > आज--हिंदी में 'आज' इसी प्रकार के उच्चारण का परिणाम है। हिंदी के ऐसे अनेक विकसित शब्द हैं; जैसे 'वैद्य' से 'बैज', 'मध्य' से 'माँझ', 'उपाध्याय' से 'ओझा' आदि।

(६) तेलुगु में दो पार्श्विक ध्वनियाँ हैं: 'ल'--दंत्य; 'ळ' मूर्धन्य। ये सभी द्राविड़ भाषाओं में विद्यमान हैं।

(७) 'ऴ' समान एक संघर्षी ध्वनि प्राचीन द्राविड़ भाषाओं में थी। अब भी तमिऴ और मलयाळम में यह प्रचलित है। (स्वयं 'तमिऴ' शब्द की अंतिम ध्वनि यही है)

इसकी उच्चारण-प्रक्रिया यों है: जिह्वाग्र (नोक) को मूर्धा के आगे तालु भाग से इस प्रकार छुलाया जाता है कि जिह्वा की मध्य रेखा में श्वास-निर्गमन का मार्ग हो और जिह्वा के दोनों पार्श्व ऊपर की ओर तालु से लगे रहें। 'सीटी' बजाने में ऐसी स्थिति होती है।

प्राचीन शिलालेखों की तेलुगु शैली में यह ध्वनि दिखायी पड़ती है। किंतु अब इसका विकास कहीं 'ळ' और कहीं 'ड' के रूप में हो गया है।

नागरी लिपि में इस ध्वनि का संकेत 'ष्' बनाया गया है। किंतु 'ऴ' रूप अधिक युक्ति-संगत लगता है। 'तमिऴ' में इसका ळ (मूर्वन्य पार्श्विक) के साथ परिवर्तन (मुक्त परिवर्तन) होता है; 'ष' के साथ परिवर्तन नहीं होता। 'पऴम्' को 'पळम्' कहना स्वीकार्य है; 'पषम्' कहना स्वीकार्य नहीं है।

कुछ विद्वानों के अनुसार 'ऴ' संघर्षहीन अनुस्यूत ध्वनि है।

(८) प्राचीन तेलुगु में 'र' के दो रूप थे। एक हिंदी के 'र' ('राम' में है) का जैसा रूप। दूसरा हिंदी के 'तुर्रा', 'बर्रा', 'हर्रा' आदि में प्राप्त 'र' जैसा रूप। पहली 'उत्क्षिप्त' ध्वनि

है, दूसरी 'लुंठित'। आधुनिक तेलुगु में यह दूसरी ध्वनि अर्थबोधक महत्व नहीं रखती है और सामान्य 'र' से अभिन्न हो कर उसकी 'संध्वनि' मात्र रह गयी है। तमिळ, मलयाळम, कन्नड आदि अन्य द्राविड़ भाषाओं में इनका पृथक-पृथक अस्तित्व अब भी है।

इस दूसरी 'र' ध्वनि के प्राचीन द्राविड भाषा में कुछ और रूप थे। एक 'त' जैसा रूप; दूसरा 'ड्र' या 'ट्र' जैसा रूप, तीसरा 'न्न' जैसा रूप। मलयाळम और तमिळ् में इनका अस्तित्व है। तेलुग् में इन ध्वनियों का विकास 'त्त' या 'ड' में हो गया है। जैसे---तमिळ---ओन्रु, तेलुगु---ओण्ड्ड कन्नड---ओन्दु, मलयाळम---ओन्नु।

इस दूसरी 'र' ध्वनि का स्थान प्राचीन तेलुगु वैयाकरणों ने 'मूर्धा' माना है। किंतु कुछ अनुसंधानकर्ताओं का कथन है कि इसका 'जिह्वा-फलक' (जीभ के ऊपर 'नोक' के पीछे के भाग) और (ऊपर तालु के) वर्त्स भाग से 'र' का उच्चारण होता था। कदाचित 'मलयाळम्' में अब भी इसका ऐसा उच्चारण किया जाता है।

तमिळ को छोड़ कर शेष मलयाळम, कन्नड़ आदि द्राविड़ भाषाओं में संस्कृत-प्राकृत आदि का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। परिणामतः उन भाषाओं की ध्वनियों में अब महाप्राण ध्वनियाँ भी (ख, घ, आदि) परिगणित की जाती हैं। किंतु 'तमिळ' ऐसे प्रभाव से अपने को काफ़ी हद तक सुरक्षित रख पायी है। अतः तमिळ-ध्वनि-संगठन लगभग वही है जो प्राचीन द्राविड़ भाषा में (अनुमानतः) था।

तेलुगु की उपर्युक्त ध्वनियाँ (एक या दो को छोड़ कर, जिसका उल्लेख पूर्व के अनुच्छेद में यथास्थान किया जाता है) तमिळ को छोड़ अन्य द्राविड़ भाषाओं में भी प्राप्त होती हैं।

तमिळ् में एक विशिष्ट ध्वनि विसर्ग समान है, जिसे 'आय्दम्' कहते हैं। यह 'ह' से भिन्न एक कंठ्य ध्वनि है। इसका प्रयोग बहुत कम ही होता है। जैसे 'अः रिणै' (अमहद्वाचक शब्द) 'एः कु' (ह्रस्व 'ए' कार विशिष्ट शब्द है; इसका अर्थ है---इस्पात)।

तेलुगु की एक विशिष्ट ध्वनि प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार' खंडबिंदु (या अर्धानुस्वार) थी। अन्य द्राविड़ भाषाओं में जहाँ कोई नासिक्य ध्वनि स्पर्श के साथ आती है, वहाँ तेलुगु में आ कर उसका 'पूर्ण बिंदु' रूप हो जाता है। यह पूर्ण बिंदु 'अनुस्वार' ही है। जैसे---तमिळ--पोंङ्गु (उमड़ना) तेलुगु 'पोंगु' समवर्गीय ध्वनि से नियंत्रित हो कर इस अनुस्वार का ङ, ञ, ण, न, म जैसा उच्चारण संभव होता है। प्राचीन तेलुगु में केवल 'म, 'ञ और 'ङ के स्थान पर 'पूर्ण बिंदु' आता था; 'न' और 'ण' के स्थान पर नहीं आता था। अब भी कहीं-कहीं स्पर्श के साथ आनेवाली 'न ध्वनि बिंदु नहीं बनती है। जैसे---किन्क (इसका दूसरा प्रचलित रूप है 'किनुक= कोप, गुस्सा) इसका 'किंक' रूप नहीं बनता। ऐसा ही है 'कन्क' ('कनुक' इसलिए); किंतु 'किङकर' का 'किंकर' होता है।

दीर्घ स्वर के बाद जब 'पूर्ण बिंदु' वाला यह परिवर्तन होता था, उसका लोप होता था; और ह्रस्व स्वर के बाद उसका वैकल्पिक लोप होता था। इस लोप को 'खंडबिंदु' के रूप में दिखाया जाता था। तेलुगु के अनेक प्रातिपदिक शब्दों में यह खंडबिंदु रहता था; इस शब्द के अन्य द्राविड़ भाषाओं में प्राप्त रूपों में कोई नासिक्य ध्वनि होती है।

जैसे : तेलुगु 'नाँग' तमिळ् 'नङ्गै' (युवती) आधुनिक तेलुगु लिपि में 'खंडबिंदु' लुप्त हो गया है।

ङ, ञ, ण, ळ और य शब्द के आदि में नहीं आते। 'व का र' 'उ' और 'ओ' के साथ शब्दादि में नहीं आता। शेष सभी ध्वनियाँ शब्दादि में आती हैं।

मलयाळम में 'ञ' ध्वनि शब्दादि में आती है। शेष ध्वनियों की स्थिति तेलुगु जैसी है। तमिळ में और अन्य द्राविड़ भाषाओं में भी यही स्थिति है।

तेलुगु में शब्दांत में केवल दंत्य नकार कभी-कभी आता है, जैसे 'चे सेन्' (उसने किया) अन्य व्यंजन शब्दांत में नहीं आते। प्रायः शब्दांत में 'उ' कार होता है; या 'आ', 'इ', 'ए', 'ओ होते हैं। जब कि तमिळ् में शब्दांत में 'न', 'म्', 'ळ', 'र्' और 'ऴ' होते हैं; या 'आ', 'इ', 'उ', 'ए', 'ऐ' या 'ओ' होते हैं। मलयाळम में 'ऐ' को छोड़ कर तमिळ् के समान ही व्यंजन और स्वर शब्दांत में आते हैं। कन्नड़ की स्थिति तेलुगु के समान है।

शब्द के मध्य में सभी व्यंजन और स्वर आते हैं।

मध्य वर्ग और उत्तर वर्ग की द्राविड़ भाषाओं में ध्वनियों की लगभग यही स्थिति है। अर्थात महाप्राण आदि संस्कृत से प्राप्त ध्वनियाँ जो तेलुगु में व्यवहृत हैं, वे उनमें नहीं हैं। शब्द के आदि, मध्य और अवसान में ध्वनियों की स्थिति लगभग यही है। कहीं कुछ अपवाद हैं। जैसे 'कोंड' भाषा में 'प' कार शब्दांत में होता है, जैसे माप् (=हम)। द्राविड़ भाषाओं में दो स्वरों के मध्य अघोष ध्वनि प्रायः नहीं आती है। वह या तो सघोष बन जाती है या उसका द्वित्व हो जाता है। जैसे तमिळ् में 'कपम्' का उच्चारण 'कवम्' होता है; किंतु 'कप्यम्' का यथावत उच्चारण होता है। इसी प्रकार नासिक्य के पश्चात समवर्गीय अघोष स्पर्श 'सघोष' के रूप में उच्चरित होता है; जैसे तमिळ्––(तन्तै)––तन्दै (पिता), (तङकै)––तङ्गै (बहन)।

तेलुगु में प्राचीन शैली में तमिळ् जैसी स्थिति दिखायी पड़ती है। शुद्ध तेलुगु की पदावली में स्वरों के मध्य अघोष स्पर्श प्रायः नहीं दिखायी पड़ता। किंतु संस्कृत-प्राकृत तत्सम और तद्भव रूप में स्वरों के मध्य अघोष स्पर्श दिखायी पड़ता है। वास्तव में इस विषय में तेलुगु की स्थिति संस्कृत के समान ही है। 'पोट्टु' 'पोक', 'इक' आदि शब्द द्राविड़मातृक होने पर भी तेलुगु में अघोषस्पर्शयुक्त हैं। अतः यही कहना उपयुक्त होगा कि तेलुगु में द्राविड़ और आर्य––दोनों के ध्वनि-लक्षण और विपरिणाम दिखायी पड़ते हैं। आधुनिक अनुसंधानकर्ताओं ने यह प्रमाणित करने का यत्न किया है कि मूल द्राविड़ और प्राचीन तमिळ् में भी स्वरों के मध्य अघोष स्पर्श का प्रयोग होता है।

द्राविड़ भाषाओं के ध्वनि-विपरिणामों का ऐतिहासिक अध्ययन इनकी तुलना करने का एक मुख्य आधार बना हुआ है। उत्तर, मध्य, दक्षिण नाम से इन भाषाओं का वर्गीकरण करने का भी एक आधार यह अध्ययन है। विस्तार-भय से केवल यहाँ एक उदाहरण दिया जा रहा है। प्राचीन द्राविड़ भाषा में शब्दादि में आनेवाला 'क' (कंठ्य अघोष स्पर्श, प्रायः दक्षिणी द्राविड़ भाषाओं में 'च' हो जाता है। यह तभी होता है जब 'क' के बाद की ध्वनि कोई अग्रस्वर (अर्थात 'इ' या 'ए') हो। जैसे 'किन्न' चिन्न (छोटा)-तमिळ्-तेलुगु।

तेलुगु में सर्वनामों के अंतर्गत एकवचन में पुरुषवाचक, ('वाडु') स्त्रीवाचक (आमे) और अमहद्‌वाचक (आदि) शब्द पृथक-पृथक हैं; और बहुवचन में स्त्री और पुरुषबोधक सर्वनाम एक ही है (वारु) और अमहद्‌वाचक 'अवि' है।

परंतु सर्वनामों में स्त्रीवाचक एकवचन का विकास बाद के काल में हुआ है। सर्वनाम की यह स्थिति तेलुगु को दक्षिण वर्गीय द्राविड़ भाषाओं के निकट लाती है; और क्रिया रूपों की स्थिति मध्यवर्गीय भाषाओं के निकट रखती है।

लिंग-विधान की कोई व्यवस्था तोद और ब्राहुई में नहीं है। उनमें केवल संख्याबोधक प्रत्यय हैं। शेष द्राविड़ भाषाओं में, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट होता है, वचन और लिंगबोधक व्यवस्था मिश्रित है। संस्कृत में लिंग-प्रत्यय प्रातिपदिक का अंग है और वचन कारक-बोधक प्रत्यय के साथ मिला रहता है। आर्य और द्राविड़ भाषाओं का यह एक परस्पर व्यावर्तक लक्षण है।

कारक-बोधक प्रत्यय प्रथमा कारक में प्रत्यय हैं, जब कि अन्य कारकों में कुछ स्वतंत्र शब्दों के विकसित (विकृत) रूप हैं। प्रातिपदिक के साथ ये शब्द जोड़ दिये जाते हैं। प्रकृति-प्रत्यय के संयोग में कभी-कभी प्रातिपदिक की अंतिम ध्वनि परिवर्तित होती है; यही स्थिति सभी द्राविड़ भाषाओं में हैं। एक उदाहरण :

एकवचन	बहुवचन
रामुडु (राम)	रामुलु (अनेक राम)
रामुनि (राम को)	रामुलनु
रामुनि तो, रामुनिचे (राम से)	रामुल तो, रामुलचे
रामुनिकि (राम को)	रामुलकु
रामुनिवलन, रामुनिनुंडि } (राम से)	रामुल वलन, रामुलनुंडि
रामुनि, रामुनि यौक्क } (राम का)	रामुल, रामुल यौक्क
रामुनिलो, रामुनि पै } (राम में, राम पर)	रामुल लो, रामुल पै

विशेषण और विशेष्य का संबंध तेलुगु और अन्य द्राविड़ भाषाओं में संस्कृत से भिन्न प्रकार का है। द्राविड़ भाषाओं में वास्तव में विशेषण और विशेष्य एक ही शब्द है; अर्थात 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में भी हो सकता है। कभी विशेषणत्व को स्पष्ट करने

के लिए 'अयिन' (=हुआ), शब्द जोड़ा जाता है। जैसे 'मंचि' =अच्छाई; मंचि वालुडु= अच्छा लड़का; मंचिदैन पनि=अच्छा बना हुआ काम।

इसी प्रकार क्रियाविशेषण बनाने के लिए 'अगु' शब्द प्रत्यय के जैसे जोड़ दिया जाता है।

अतएव द्राविड़ भाषाओं में पद-रचना आर्य भाषाओं की अपेक्षा सरल है।

तेलुगु सर्वनामों में एक विशेष शब्द उत्तम पुरुष बहुवचन का है। उत्तम पुरुष बहुवचन में दो--केवल वक्ता को बताने वाला एक शब्द वक्ता और श्रोता को बताने वाला एक शब्द है। जैसे---मेमु=हम लोग; मनुमु = हम और तुम; (हिंदी की कुछ बोलियों में इस दूसरे अर्थ में 'अपन' चलता है।)

यह विशेषता सभी दक्षिणी द्राविड़ भाषाओं में है, किंतु मध्य और उत्तर की द्राविड़ भाषाओं में यह सार्वत्रिक नहीं है। एक सर्वनाम का नमूना प्रस्तुत है :

तुम के पर्याय

तेलुगु	नीवु	तमिळ	नी
मलयाळम्	नी	तुळु	ई
कन्नड़	नीम्, नीनु	कोडगु	नी
तोद	नी, नीव्	कोंड	नीम्
नायकी	नीव्	पर्जी	ईन्
गदब	ईन्	गोंदी	इम्म
कुई	इनु	कुवि	नीनु
कुर्ख	नीम्	माल्तो	नीन्
ब्राहुई	नी		

तेलुगु धातुओं का विश्लेषण कर के डॉ० भ० कृष्णमूर्ति ने यह निष्कर्ष निकाला है कि तेलुगु की प्राचीन एवं अर्वाचीन धातुओं की संख्या १,२३६ है। इनमें से तेईस का स्रोत आर्य भाषाएँ हैं, जिनमें से आठ धातुएँ कुछ अन्य द्राविड़ भाषाओं में भी प्रचलित हैं। इन आठ को 'द्राविड़ धातु' मान कर शेष पंद्रह धातुओं को, जो केवल तेलुगु में प्राप्त हैं, निकाल दें, तो शेष संख्या १,२२१ है; इनमें भी १६५ ऐसी हैं जो अन्य कुछ धातुओं की एक प्रकार की पुनरुक्ति-सी हैं। अब जो बची हैं, १०५६. इनमें से ८०%तमिळ में, ६१% कन्नड़ में, ४७% तुळु में, २१% पर्जी में, २८% कुई में, १९% गोंदी में, २४%कुरुख में और ६%ब्राहुई में भी प्रचलित हैं।

दूसरा निष्कर्ष यह निकाला कि इनमें से १०%धातुएँ केवल तेलुगु में, ३९%दक्षिण द्राविड़ भाषाओं में, ३% मध्य द्राविड़ भाषाओं में, ०.८५% उत्तर द्राविड़ भाषाओं में, २०% दक्षिण तथा मध्य भाषाओं में, ०.५६%मध्य तथा उत्तर भाषाओं में, ७%दक्षिण तथा उत्तर भाषाओं में, २०%दक्षिण, मध्य तथा उत्तर भाषाओं में प्रचलित हैं।

ये अत्यंत महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं; इनसे भारत की द्राविड़ भाषाओं के परस्पर साम्य तथा उनका आर्य आदि अन्य परिवारों से पृथकत्व प्रमाणित होता है। प्रत्येक परिवार की धातुओं का ऐसा ही विश्लेषण यदि किया जाय और परस्पर की तुलना की जाय तो इन परिवारों के परस्पर प्रभाव का पता लग सकेगा।

तेलुगु का शब्द-भंडार इधर द्राविड़गोत्रीय शब्दों से और उधर आर्यगोत्रीय शब्दों से समृद्ध है। अन्य स्रोतीय शब्दों के क्रिया रूप बनाने की शक्ति तेलुगु में है, जिससे उसकी अभिव्यंजना-शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है।

'अधिक्षेप' से 'अधिक्षेपिंचु', 'निद्रा' से 'निद्रिंचु', 'प्रयोग' से 'प्रयोगिंचु', 'भंग' से 'भंगिंचु' जैसे असंख्य क्रियापद बनाये जा सकते हैं। ऐसी प्रवृत्ति तमिळ, कन्नड़ और मलयाळम में भी है। तमिळ में यह प्रवृत्ति इधर कुछ वर्षों से कम होती जा रही है; क्योंकि उसके 'शुद्धीकरण' का यत्न ज़ोरों से चल रहा है।

तेलुगु में आये हिंदी शब्दों के भी कुछ क्रियारूप बन गये हैं, जैसे––दबायिंचु (दबाना, धौंस जमाने के अर्थ में), चलायिंचु (चलाना, विशेषकर अधिकार चलाने के अर्थ में उपहासद्योतक)। अंग्रेजी, फ़ारसी, अरबी, हिंदी (उर्दू), तुर्की, पुर्तगाली, फ्रेंच आदि भाषाओं के शब्द भी तेलुगु में प्राप्त होते हैं। इन 'उधार लिये गये' शब्दों में अवश्य 'तेलुगु-संस्कार' कर लिया जाता है। दुकाणमु (दुकान), नकलु (नक़ल), खुलासा ('खुशहाल' का, विकृत रूप) कच्चेरी (कचहरी), तालूकु (=संबंधित, मुताल्लिक़; इलाक़ा), कोर्टु (कोर्ट), रिपोर्टु (रिपोर्ट), आदि कुछ नमूने हैं।

तेलुगु का वाक्य-विन्यास, तमिळादि अन्य द्राविड़ भाषाओं के समान ही 'सरल वाक्य-प्रधान' हैं। वाक्यों में कर्ता, कर्म और क्रिया का क्रम है, जैसे हिंदी में है। किंतु सत्ताबोधक क्रिया (जैसे हिंदी में 'है') का प्रयोग छोड़ दिया जाता है, जिससे शैली का सौंदर्य बढ़ता है। जैसे :

यह पुस्तक है	इदि पुस्तकमु
यह राम है	वीडु रामुडु

इनमें 'उन्नदि' या 'उन्नाडु' (है) का प्रयोग नहीं हुआ है। यदि अस्तित्व का द्योतन हो तब इनका प्रयोग आवश्यक है, जैसे––राम वहाँ है––रामुडु अकड उन्नाडु।

कर्मणि प्रयोग द्राविड़ भाषाओं के लिए नैसर्गिक नहीं है; संस्कृत के प्रभाव से सहायक क्रिया का प्रयोग कर के कर्मणि प्रयोग बना लिया जाता है।

तेलुगु भाषा द्राविड़ और आर्य भाषाओं के योग से एक विलक्षण अभिव्यक्ति-शक्ति से समन्वित है; यह कदाचित भारत की सभी भाषाओं में तेलुगु को विशिष्ट बना देती है।

इस भाषा में एक विशिष्ट लय-सौंदर्य को विदेशी विद्वानों ने भी देखा है; यह शैली कोमल और कठोर, प्रसादमय और ओजस्वी अनेक भंगिमाओं में चलती है।

तेलुगु शैली का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा। (विस्तार-भय से तमिळादि अन्य भाषाओं के उदाहरण नहीं दिये गये हैं)।

अनुवृत्त

[नन्नय भट्टारककृत 'आंध्र महाभारतमु'--ग्यारहवीं शती ई०, सभापर्व २]

कुरुवृद्धुल् गुरुवृद्धबान्धवुल अनेकुल् सूच चुंडन् मदो
द्धुरुडै द्रौपदिन् अट्लु चेसिन खलुन् दुश्शासनुन् लोकभी
करलीलन् वधियिंचि तद्विपुलवक्षश्शैलरक्तौघनि
र्झरं उर्वीपति चूचुचुंड ननिन् आस्वादितुन् उग्राकृतिन्

सुचुचुंड = (उनके) देखते समय,
अट्लु = उस प्रकार,
चेसिन = जिसने क्रिया उस (को),
वधियिंचि = वध कर के,
ननिन् = प्रीति से; आनंद के साथ,
आस्वादितुन् = आस्वादन करूँगा, पीऊँगा)

ऐसी ही शैली आज भी प्रचलित है।

संदर्भ-ग्रंथ

व० चि० सीताराम शास्त्री — 'आंध्रव्याकरणसंहितासर्वस्वमु' (दो खंड) आंध्र विश्वविद्यालय—वाल्तेयर।

चि० नारायण रावु — 'आंध्रभाषाचरित्रमु (दो खंड)—वही

काल्डवेल, रेवरेंड, राबर्ट — 'ए कंपेरटिव् ग्रामर ऑफ़ दि द्रविडियन फ़ेमिली ऑफ़ लैंग्वेजस्, मद्रास विश्वविद्यालय।

ब्लाक, जूल्स — 'स्ट्रक्चर ग्रम्माटिकेल दे लांगुए द्राविदियेने'

टी० पी० मीनाक्षीसुंदरमु — 'ए हिस्टरी ऑफ़ द तामिल लैंग्वेज'

एमेनो, एम० बी० — 'कोलामी : ए द्रविडियन् लैंग्वेज', कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले (अमरीका)

कृष्णमूर्ति, भद्रिराजु — 'तेलुगु वर्बल् बेसेस्'—वही

एमेनो, एम० बी और बरो, टी — 'द्रविडियन् एटिमोलॉजिकल डिक्शनरी ऑक्स-फ़ोर्ड, इंग्लैंड

सीतारामाचार्युलु, बहुजनपल्ली — 'शब्दरत्नाकरमु' (कोश), दि मद्रास स्कूल बुक ऐंड वर्नाक्युलर लिटरेचर सोसाइटी

राजगोपालन्, न० वी० — 'तमिळ् साहित्य का नवीन इतिहास', आर्या एंड कंपनी, नयी दिल्ली

कोत्तपल्लि वीरभद्र राव

पाश्चात्य विद्वानों का तेलुगु को योगदान

तेलुगु की वास्तविक महत्वपूर्ण सेवाएँ उन पश्चिमी विद्वानों के द्वारा संपन्न हुई थीं, जिन्होंने प्रशासकीय अधिकारी रहते हुए तेलुगु का गहरा अध्ययन किया था। इन महानुभावों में सर्वप्रथम स्मरणीय व्यक्ति कर्नल मेकेंज़ी थे (१७५३-१८२१ ई०) जिन्होंने समग्र भारत की अभूतपूर्व सेवा की थी। कई साल ये भारत के 'सर्वेयर जनरल' के ओहदे पर काम करते रहे। मेकेंज़ी साहब का आभिमानिक विषय गणित रहा। फिर भी साहित्य और समाज संबंधी अभि-रुचि की प्रेरणा इन्हें आंध्र प्रदेश के एलूरुनिवासी कावलि वेंकट बोरय्या से मिली। मेकेंज़ी ने अपने अपार धन को व्यय कर के बोरय्या को ग्राम-ग्राम में भेज कर सैकड़ों ग्रंथों, शिलालेखों तथा ताम्र-पट्टिकाओं का संग्रहण कराया था। बोरय्या की सहायता से उस सामग्री की गवेषणा कर के निष्कर्षों को तत्कालीन प्रसिद्ध शोध-पत्रिकाओं में—(एशियाटिक रिसर्च्स, रायल एशियाटिक सोसायटी जर्नल, ओरियेंटल मैन्युअल रजिस्टर आदि में) प्रकाशित किया।

स्थानिक इतिहास से संबद्ध कई काग़ज़ात नष्ट होने वाले थे कि सी० पी० ब्राउन ने उनको पुनः लिखवा कर उनका प्रकाशन कराया। मेकेंज़ी के ये काग़ज़ात ६२ जिल्दों में प्रकाशित हुए। इन जिल्दों में तीन चौथाई का अंश तेलुगु प्रदेश से संबद्ध था। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक भारतीय गवेषणा के पथप्रदर्शक मेकेंज़ी तथा इनके सहयोगी श्री बोरय्या जी थे। परवर्ती गवेषकों के समक्ष इन दोनों ने अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया था।

डॉ० विलियम कैरी ने एक मुद्रणालय की स्थापना श्रीरामपुर में की तथा लगभग सभी भारतीय भाषाओं की लिपियों के लिए टाइप ढलवा कर उनमें उन-उन भाषाओं के व्याकरणों का तथा कोशों का मुद्रण कराया। इन्होंने ख़ुद मराठी (१८०५ ई०), पंजाबी (१८१२ ई०), तेलुगु (१८१४ ई०) आदि भाषाओं के लिए व्याकरण लिख कर प्रकाशित किया। इनके मता-नुसार दक्षिण भारत की भाषाएँ संस्कृतजन्य होते हुए भी कुछ विलक्षण शब्दावली रखती हैं जिनका स्रोत पहचानना कठिन है।

श्री ए० डी० कैंपबेल को सर्वप्रथम अकारादि क्रम में तेलुगु-कोश लिखने का श्रेय मिलता है। कोश के अतिरिक्त उन्होंने तेलुगु-व्याकरण की भी रचना की थी। इन्होंने अपने व्याकरण में साफ़ लिखा था कि दक्षिण भारत की भाषाएँ संस्कृतजन्य नहीं हैं। काल्डवेल से पहले इस सत्य

की ओर ध्यान दिलाने वाले प्रथम पश्चिमी विद्वान ये ही थे। वास्तव में इन्होंने आधुनिक पद्धतियों पर भाषा-गवेषणा तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के पथ को सर्वप्रथम प्रशस्त किया था। कैंपबेल के विचार की संपुष्टि फ्रांसिस एलिस ने की थी। एलिस उन दिनों फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज कॉलेज, मद्रास के अध्यक्ष थे। एलिस ने अपनी संपुष्टि में स्पष्ट किया था कि तेलुगु संस्कृतजन्य नहीं है और उसका संबंध तमिल आदि अन्य दक्षिणी भाषाओं से अधिक है। इनके मतानुसार संस्कृत से इन भाषाओं के सौंदर्य में निखार आ सकता है, परंतु इन भाषाओं के अस्तित्व के लिए संस्कृत की आवश्यकता नहीं है। अपने कथन और विचारों की पुष्टि में एलिस ने तेलुगु, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं की सदृश शब्दावली दिखायी तथा उनमें तथा संस्कृत शब्दों में पाया जाने वाला महदंतर दिखाया। सन १८१७ ई० में विलियम ब्राउन ने 'जेंटु भाषा-व्याकरण' लिखा था। तेलुगु को गोरे जेंटु भाषा कहा करते थे। इन्होंने भी प्रकारांतर से यही स्पष्ट किया था कि तेलुगु और संस्कृत में कोई जन्य-जनक-संबंध नहीं है। इनके अनुसार 'यदि किसी तेलुगु-वाक्य को संस्कृत वाक्य से मिलान कर के देखें तो दोनों में प्राप्त अंतर बहुत ही स्पष्ट दिखायी देता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रविड़ भाषाओं के प्रख्यात विद्वान बिशप काल्डवेल से पहले ही, कैंपबेल, एलिस तथा विलियम ब्राउन ने स्पष्ट कर दिया था कि तेलुगु और संस्कृत में जन्य-जनक-संबंध नहीं है, प्रत्युत तेलुगु और तमिल आदि में घनिष्ट संबंध दिखायी देता है। अतः इन तीनों को हम द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रथम दिशा-निर्देश करने वाले महानुभाव मान सकते हैं।

वास्तव में प्रख्यात पश्चिमी विद्वान सी० पी० ब्राउन (१७९८-१८८४ ई०) के द्वारा जो अनिर्वर्णनीय लाभ-प्राप्ति तेलुगु भाषा तथा साहित्य को पहुँची, वह किसी अन्य विद्वान के द्वारा नहीं। तत्कालीन तेलुगु भाषा और साहित्य की दयनीय दशा का वर्णन ब्राउन ने इन शब्दों में किया: 'जब मैंने इन कामों को आरंभ किया, तेलुगु-साहित्य मरणासन्न था, तेलुगु भाषा की ज्योति केवल टिमटिमा रही थी।' पंडितों की दशा अत्यंत करुणाजनक थी। 'पंडितों ने मुझसे अपनी करुण कहानी कही. अधिकारी वर्ग उनको निरुपयोगी पेंशनर समझता था।' सी० पी० ब्राउन तेलुगु भाषा और तेलुगु साहित्य की सेवा में जी-जान से तीस वर्ष से अधिक समय तक जुटे रहे, जिसके फलस्वरूप मुमूर्षु अवस्था में पड़ी हुई तेलुगु भाषा और तेलुगु साहित्य में पुनः प्राण-शक्ति का संचार हो गया। ब्राउन साहब के इस अथक परिश्रम के पीछे स्वार्थ-वृत्ति गोचर नहीं होती। मात्र निस्स्वार्थ प्रेम से इन्होंने तेलुगु की अनन्य सेवा की। 'मेरा सदैव ध्येय यही रहा कि मैं हिंदुओं को लाभ पहुँचाता रहूँ।' इनको अपने अध्यवसाय से अंत में बड़ा ही संतोष-लाभ हुआ, जैसा कि इन शब्दों से स्पष्ट होता है: 'मैं समझता हूँ, अब आगे चल कर कोई भी यह महसूस नहीं करेगा कि तेलुगु भारतीय भाषाओं में सबसे कठिन भाषा है।'

ब्राउन साहब का प्रथम लक्ष्य यह रहा कि विलायत से आने वाले अंग्रेज़ों के लिए तेलुगु का पठन-पाठन सुविधाजनक हो। तदर्थ उन्होंने बहुत सी वाचन-सामग्री की सर्जना की। इससे आनुषंगिक सुफल यह मिला कि अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए इच्छुक तेलुगु भाषाभाषी भी इन पुस्तकों से लाभ उठाने लगे। उनके द्वारा रचित पाठमाला की विशेषता इस प्रकार है। पुस्तक के प्रथम

भाग में तेलुगु की छोटी कहानियाँ, पत्र आदि जनवाणी में दिये गये हैं। दूसरे भाग में अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रस्तुत किया गया तथा तीसरे भाग में व्याकरण संबंधी टिप्पणियाँ और पदकोश थे। यह पाठमाला सन १८५३ में मुद्रित हुई थी। इसके अतिरिक्त ब्राउन साहब की इस दिशा में उल्लेखनीय अन्य रचनाएँ थीं : १. इंग्लिश ट्रांसलेशन ऑफ़ दि इक्सेरसाइजेज़ ऐंड डाकुमेंट्स प्रिंटेड ऑफ़ दि तेलुगु रीडर, २. अनालिसिस आफ़ दि वर्ड्स इन फ़र्स्ट चेप्टर ऑफ़ दि तेलुगु रीडर ३. अ लिटिल लेक्सिकन, ४. डायलाग्स इन तेलुगु ऐंड इंग्लिश विद अग्रामेटिकल अनालिसिस एटसेटेरा।

तेलुगु की पठन-पाठन-प्रक्रिया को सुलभ बनाने के लिए उन्होंने अनेक लाभप्रद सुझाव दिये। आरंभ में ही व्याकरण के क्लिष्ट प्रसंगों से पाठक को भयभीत कर देना उनको अभीष्ट नहीं था, अतः उनके अनुसार 'आरंभ में तेलुगु व्याकरण के शब्द-परिच्छेद तथा क्रिया-परिच्छेद पढ़ाना पर्याप्त है'। शुरू में ही 'कला, द्रुत, संधि, सरलादेश आदि प्रसंगों को उठाने से ही पाठक भयभीत हो जाता है। हाँ, इनका प्रसंग कुछ दूर जाने के बाद उठाया जा सकता है और समझाया जा सकता है। इसी प्रकार आरंभ में ही तेलुगु पद्यों को पढ़ाना भी लाभप्रद नहीं है। अतः पहले पत्र, कहानी आदि पढ़ाना ही उचित है।'

प्रविविक्षुओं के लाभार्थ ही उन्होंने तेलुगु के महान प्रजा कवि वेमन्ना के छंदों का संपादन किया तथा उनका सफल अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया था। इसके संपादन में ब्राउन साहब ने बड़ा परिश्रम किया। जगह-जगह से पांडुलिपियाँ मँगायी गयीं। सही पाठ-निर्धारण किया गया, पाठ-भेदों को पृष्ठांत में दिखाया गया तथा पुस्तक के अंत में शब्दार्थ-सूची भी दी गयी। यही नहीं, वेमन्ना के छंदों का विषयवार वर्गीकरण किया गया तथा अंग्रेज़ी प्रथा के अनुसार पुस्तक एक, पुस्तक दो, इस प्रकार ग्रंथ अलग-अलग भागों में छापा गया। वास्तव में ये सारी बातें उन दिनों देशी पंडितों के लिए बिलकुल नवीन और अपरिचित थीं। इस संकलन का प्रथम प्रकाशन १८२९ में हुआ।

तेलुगु कोश-कला के उन्नयन में सी० पी० ब्राउन साहब का योगदान अत्यंत प्रशंसनीय रहा है। तब तक के देशी कोश छंदोमय थे। कारण यह था कि सारी विद्या मुखप्रधान थी, पुस्तकापेक्षी नहीं थी। अतः स्मृति-सौलभ्य के लिए कोश भी पद्यमय ही लिखे जाते थे। वैसे ब्राउन से पहले ही कैंपबेल ने अकारादि क्रम से एक कोश का निर्माण किया था, परंतु इस दिशा में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण योगदान, जिसका प्रभाव आज तक अक्षुण्ण रहा है, वह ब्राउन साहब का ही है। इन्होंने तीन कोशों का निर्माण किया था : १. तेलुगु-इंग्लिश डिक्शनरी, २. इंग्लिश-तेलुगु डिक्शनरी तथा ३. अ डिक्शनरी ऑफ़ दि मिक्स्ड डायलेक्ट्स एंड फ़ारेन वर्ड्स यूज़्ड इन तेलुगु (सन १८५४ ई०)। प्रथम दोनों कोश सन १८५२ ई० में प्रकाशित हुए। इनमें प्रथम तथा तृतीय कोशों की कई विशेषताएँ हैं। प्रथम कोश में ब्राउन साहब ने कई मौलिक उद्भावनाओं को प्रश्रय दिया था। स्वर अकारादि क्रम में ही रखा था। परंतु व्यंजनाक्षरों से संबंधित शब्दावली के संग्रह में उन्होंने एक नवीन पद्धति को प्रविष्ट किया। एक व्यंजन के बाद दूसरे व्यंजन को न ले कर उन्होंने स्वरों को प्रधानता दे कर उनका संग्रह इस प्रकार किया, जैसे कोत, गोत्रमु, घोणि

आदि। य,र,ल,व वाले शब्द तो परंपरा के अनुकूल ही रखे थे, परंतु श, ष, स वाले शब्दों का फिर अपनी सूझ के अनुसार ही शब्द-संग्रह किया था। जैसे चिगुरु, जिगि, जिवांसुड़ आदि। इस प्रकार स्वर-प्राधान्य पर विभिन्न व्यंजन वाले शब्दों को एक ही स्थान पर दिखाना भारतीय कोश-कला में ही एक नवीन प्रयोग था। इस पद्धति पर पंडितों में काफ़ी तर्क-वितर्क चले। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि परवर्ती कोशकारों ने ब्राउन साहब की इस पद्धति को नहीं अपनाया। केवल अकारादि अक्षर-क्रम में ही परवर्ती कोशकारों ने कोश-निर्माण किया था। इस कोश की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें तेलुगु के काव्य-साहित्य की शब्दावली के साथ-साथ, जनवाणी की शब्दावली अर्थात नित्यप्रति व्यवहार की शब्दावली भी संगृहीत हुई थी। इस कोश की तीसरी विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन कवियों की रचनाओं से ही नहीं, अपितु ब्राउन साहब के समकालिक लेखकों से भी शब्द और अर्थ की पुष्टि में उद्धरण दिये गये हैं। उदाहरण के लिए समकालिक एनुगुल वीरास्वामी की 'काशीयात्र चरित्र' स्मरणीय है। सी० पी० ब्राउन साहब का प्रगतिशील विचार था कि किसी भी जीवद् भाषा का न कोई समग्र कोश हो सकता है, न कोई समग्र व्याकरण। इस विचार के अनुसार अपने कोश तथा व्याकरण, दोनों में वे समय-समय पर सुधार और संवर्धन किया करते थे। उन्हीं के शब्दों में 'मैं प्रतिदिन कोशों और व्याकरण में नये-नये अतिरिक्तांश तथा सुधार किया करता था, जिसके फलस्वरूप दोनों का आकार दुगुने से भी बढ़ गया है।' आज भी तेलुगु-इंग्लिश डिक्शनरी की इतनी मान्यता है कि हाल ही में इस कोश का पुनर्मुद्रण आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी के तत्वावधान में संपन्न हुआ था। अपने इंग्लिश-तेलुगु कोश में ब्राउन साहब तेलुगु भाषाभाषियों के लाभार्थ, शब्दों के अर्थों के साथ-साथ आवश्यक प्रसंगों पर विवरणात्मक टिप्पणियाँ भी देते गये। ब्राउन साहब का तीसरा कोश मिश्रभाषा-कोश है। इसमें ऐसे शब्दों का संग्रह किया गया है जो तेलुगु के न हो कर अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी आदि अन्य भाषाओं से आ कर तेलुगु के नित्यप्रति व्यवहार में प्रयुक्त होते रहे हैं। विशेषकर इस प्रकार की मिश्रित भाषा का व्यवहार लोग दफ़्तरों में, अदालतों में, व्यापार में किया करते थे, जहाँ उनका संपर्क अन्य भाषा-भाषियों से भी हुआ करता था। इस मिश्रित भाषा का एक उदाहरण तत्कालीन 'फ़ोर्ट जर्नल' मछलीपत्तनम् से लीजिए : '**ई नंबरु ली डेफेंडंटु सम्मनु चूचि दस्खतु चेसि वायिदा चोप्पुन कोर्टुलो हाजरु अयि आन्सरु इय्यक पोयिनंदुन यिंदुलो येक्सपार्टि दर्याफ़्तु चेयवलेनेनि--प्रेसीडिंग्सु लो एण्टरु चेयब्सेनदि।**'

सी० पी० ब्राउन ने तेलुगु साहित्य की कई पांडुलिपियों का संग्रह पंडितों के द्वारा करा कर उनकी शुद्ध प्रतियाँ प्रस्तुत करायीं और उनमें से कई का मुद्रण-भार भी उठाया। उनके शब्दों में 'तेलुगु की प्राचीन पांडुलिपियों की दशा अत्यंत दयनीय थीं, ठीक उसी प्रकार की दशा थी जिस प्रकार की लातिन और ग्रीक ग्रंथों की मुद्रण-यंत्र के पहले थी।' मेकेंज़ी के अनंतर ब्राउन साहब ही थे जिन्होंने अनेक पांडुलिपियों का संग्रह कर के गवेषणा-मार्ग को प्रशस्त किया था। उन्होंने उस प्रकार संगृहीत अनेकानेक पांडुलिपियों को 'लिटरेरी सोसाइटी' तथा 'ईस्ट इंडिया हाउस' आदि संस्थाओं को दान में दे दिया था। ये ही पांडुलिपियाँ अद्यतन प्राच्य लिखित पुस्तक भंडागार, मद्रास की आधार-शिला बन कर शोधार्थियों के लिए कामधेनु की भाँति लाभप्रद

हो रही है। इन संगृहीत ग्रंथों की कुल संख्या २४४० है। इनमें संस्कृत संबंधी पांडुलिपियाँ आंध्र और तेलुगु की आधी थीं। तेलुगु के प्राचीन काव्यों पर उन्होंने कई साहित्यिक लेख 'मद्रास लिटरेरी सोसाइटी जर्नल' में प्रकाशित किये। स्वयं सी० पी० ब्राउन के शब्दों में 'जब कभी मैंने किसी पुस्तक का मुद्रण पूरा किया, तुरंत उसके पुनर्मुद्रण के लिए उस पुस्तक का संशोधन और परिवर्धन शुरू कर दिया। इधर मैं कोश के प्रणयन, बाइबिल के अनुवाद में लगा रहता, तो उधर मेरे पंडित सावधानी के साथ तेलुगु काव्यों के पाठ-निर्धारण, संपादन, व्याख्या आदि में तत्परता के साथ काम करते ये ब्राह्मण पंडित तीन विभागों में काम करते थे। लोग मेरे मकान को 'ब्राउन कॉलेज' नाम से पुकारते थे।'

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ब्राउन महाशय को मुद्रण-कला के प्रति देशी पंडितों का ध्यान आकृष्ट करते-करते बहुत समय लगा था। परंतु परिणाम अच्छे निकले। उनके शब्दों में सुनिए : 'मैं जानता था कि यह साहित्य तब तक तरक्क़ी नहीं कर सकता जब तक पुस्तक-विक्रेता तथा प्रकाशक इस साहित्य की बिक्री तथा प्रकाशन एक व्यापारिक दृष्टि से न अपनायें। अब मैं देख रहा हूँ कि मेरी सलाह के अनुसार लोग चलने लगे और आज सन १८६५ ई० में तेलुगु में मुद्रण-व्यवसाय उसी प्रकार चलने लगा है जिस प्रकार अस्सी वर्ष पहले से बंगला और उससे भी पहले से तमिल भाषा में यह व्यवसाय चलता आ रहा है।' तेलुगु मुद्रण-कला में काफ़ी सुधार ब्राउन साहब लाये। उनकी अपार देन मुद्रण-योग्य अक्षरों के ढलवाने आदि में थी।

जहाँ तक भाषा-व्यवहार का प्रश्न है ब्राउन महाशय बहुत ही उदार दृष्टिकोण रखते थे। तेलुगु की वर्णमाला में दो विचित्र लिपि-संकेत हैं १. शकट रेफ तथा २. अर्धबिंदु अथवा अर्धानुस्वार। इन दोनों संकेतों के पीछे वास्तविकता यह थी कि भाषाविज्ञान के विद्यार्थी के लिए इनकी जानकारी आवश्यक मानी जा सकती है, परंतु साधारण विद्यार्थी के लिए इनका सही प्रयोग करना कठिन है। देशी पंडित अब तक इन दोनों के संबंध में एकमत नहीं हैं। परंतु ब्राउन साहब ने उन्हीं दिनों में इन अनावश्यक झगड़ों का खंडन किया था और उनकी मान्यता थी कि शकट रेफ की जगह साधारण का प्रयोग तथा अर्धबिंदु का पूर्ण विसर्जन किया जा सकता है। यही नहीं, ब्राउन ने अपने कोश में व्यावहारिक भाषा को भी काव्यभाषा के साथ प्रश्रय दे कर बहुत क्रांतिकारी चरण उठाया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा-सुधार-आंदोलन चलाने वाले श्री गिडुगु राममूर्ति पंतुलु, गुरजाड अप्पाराव आदि के मार्ग को ब्राउन साहब ने पहले ही प्रशस्त कर रखा था। तेलुगु और अंग्रेज़ी के परस्पर पठन-पाठन के लिए अंग्रेज़ों तथा देशवासियों से उन्होंने इन शब्दों में अनुरोध किया था, 'उनकी पुस्तकों को पढ़े बिना, उनसे नित्यप्रति संपर्क में उनकी भाषा के माध्यम से व्यवहार किये बिना, हिंदुओं के मनोगत भावों का क्या परिचय हम प्राप्त कर सकते हैं ?—उसी प्रकार हमारे प्रति जो पूर्वग्रह हिंदुओं के मन में है, अंग्रेज़ी के अध्ययन द्वारा ही दूर हो सकता है, अन्यथा नहीं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राउन साहब ने कई दिशाओं में तेलुगु भाषा तथा साहित्य का उन्नयन किया था, जिससे सारी तेलुगु जनता उपकृत हुई। कार्माइकेल के शब्दों में 'सभी भारतीय

भाषाओं का अच्छा ज्ञान रखते हुए ब्राउन साहब ने तेलुगु के अध्ययन में अपना सारा तन-मन-धन लगाया। उनके अधिकार-काल का महत्वपूर्ण भाग तेलुगु प्रदेश में बीता, जिससे उस भाषा के साहित्य का सम्यक अध्ययन कर सके, और उसके अध्ययन के लिए पर्याप्त प्रणालियाँ दे सके। आगे जो कोई इस भाषा का अध्ययन करेगा उसको निस्संदेह उन्हीं के दिखाये हुए मार्ग पर चलना पड़ेगा।' उस महान व्यक्ति के प्रति निस्संदेह आंध्र जनता सदैव ऋणी रहेगी।

ब्राउन के समकालिक तथा परवर्ती काल के कतिपय विलायती विद्वानों ने भी तेलुगु भाषा की सेवा की थी। उन महानुभावों में मेरिस भाई, बाल्जियल, बोइल, मेकेरिल, विज्लर आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अनंतर काल में स्मरणीय हैं ए० एच० आर्डन। मैरिस बंधुओं में से श्री जे० सी० मैरिस ने तेलुगु-अंग्रेजी कोश का निर्माण सन १८३५-३९ ई० के मध्य किया था। इसको कॉलेज बोर्ड ने प्रकाशित किया था। उनके भाई एच० मैरिस ने तेलुगु व्याकरण तथा गोदावरी जिले का इतिहास लिखा, जो क्रमशः १८९० तथा सन १८७८ ई० में प्रकाशित हुए। एच० मैरिस तेलुगु भाषा पर अत्यंत अनुरक्त थे। इन्होंने तेलुगु की प्रशंसा इस प्रकार की है: 'तेलुगु की अपनी विलक्षण स्वर-सुंदरता है। यह भाषा द्रविड़ भाषाओं में सर्वाधिक मधुर तथा संगीतमय है। अशिक्षित जन के ओठों पर भी इस भाषा का नाद-सौंदर्य ध्वनित होता है। यह सही मानों में 'इटालियन् ऑफ़ दि ईस्ट' कही गयी है। प्रायः तमिल तेलुगु से अपेक्षाकृत समृद्ध भाषा हो सकती है और उसमें अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण अभिजात साहित्य उपलब्ध हो सकता है, फिर भी तेलुगु का स्थान अपने नाद-सौंदर्य तथा कोमलकांतपदावली के लिए सर्वोच्च है'।

ए० एच० आर्डन का व्याकरण 'ए प्रोग्रेसिव ग्रामर ऑफ़ दि तेलुगु लैंग्वेज" सन १८७३ ई० में प्रकाशित हुआ था और उसे काफ़ी प्रचार और प्रसिद्धि मिली। विशाखापत्तनम के रेवेरेंड ए० रिक्काज ने भी तेलुगु का एक व्याकरण लिखा था। इस प्रकार कितने ही विलायती विद्वानों ने तेलुगु का अध्ययन करके उसमें व्याकरण आदि लिखे, जिससे तेलुगु के प्रति विदेशों में आदर का भाव बढ़ा था। अंग्रेजों के अलावा फ्रेंच के विद्वानों ने भी तेलुगु में व्याकरण तथा कोश का निर्माण किया था, जिसका प्रमाण हमें विलियम ब्राउन तथा सी० पी० ब्राउन की रचनाओं में मिलता है। इनका रचना-काल १७०० ई० के लगभग था।

महज तेलुगु में अध्यवसाय न करने पर भी अन्य भाषाओं के साथ तेलुगु का अध्ययन करने वालों में तथा उस पर लिखने वालों में बिशप काल्डवेल का नाम स्मरणीय है। इनका द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण आज भी विद्वत्-समाज में उतना ही मान्य है जितना पहले था। इसमें काल्डवेल महाशय ने अन्य द्रविड़ भाषाओं के साथ तेलुगु पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला था। इस पुस्तक का प्रथम प्रकाशन वर्ष सन १८५५ ई० था। द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन का सूत्रपात करने वाले इन महानुभाव की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। वास्तव में इन्हीं के प्रदर्शित मार्ग पर परवर्ती देशी तथा विदेशी पंडितों ने इन भाषाओं

का तुलनात्मक अध्ययन किया एवं इस दिशा में कितने ही नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया था।

विदेशों में भी तेलुगु आदि भाषाओं के अध्ययन की सुविधाएँ उपलब्ध होने लगी हैं। सन १८८४ ई०में ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में रेवरेंड पोप को तमिल और तेलुगु के आचार्य पद पर नियुक्त किया गया था। डॉ० एल० डी० बार्नेट ने ब्रिटिश म्यूज़ियम के लिए तेलुगु, कन्नड़ तथा तमिल में उपलब्ध पुस्तकों की पुस्तक सूचियाँ तैयार कीं। इन सूचीपत्रों से शोधार्थियों को बड़ा लाभ पहुँचता है। लंदन स्कूल ऑफ़ ओरिएंटल ऐंड आफ़्रिकन स्टडीज़ में द्रविड़ भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन के लिए प्रबंध किया गया है। ज्ञात होता है कि सी० पी० ब्राउन लंदन विश्वविद्यालय में तेलुगु के आचार्य रहे थे। सी० पी० ब्राउन कई वर्ष आई० सी० एस० परीक्षा के तेलुगु परीक्षक रहे थे।

बीसवीं शती ई० में ए० गलेटि्ट नामक विदेशी विद्वान ने एक तेलुगु-अंग्रेजी कोश का निर्माण किया। यह सन १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसकी विशेषता यह है कि इसमें रोमन लिपि में तेलुगु शब्द दिये गये हैं। अनावश्यक तेलुगु शब्द इसमें नहीं है। नित्यप्रति व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों का ही चयन हुआ है। इस कोश के अतिरिक्त इन्होंने 'सहकारुल परपति संघमुलु' तथा 'विमल ज्ञानोपदेशमुलु' नामक दो किताबें तेलुगु में लिखीं और वीरेशलिंगम पंतुलु की पुस्तक 'विनोद-तरंगिणी' का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के अनंतर विलायत में हमारी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का प्रबंध विस्तार से होने लगा है। ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के आचार्य बरो तथा अमरीका के एम्मनो ने द्रविड़ भाषाओं के व्युत्पत्ति-कोश का निर्माण किया था। पेंसिल्वेनिया विश्वविद्यालय में तमिल, तेलुगु, मलयालम, संस्कृत, हिंदी, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं में अध्ययन तथा शोध-कार्य चल रहा है। नार्मन ब्राउन के तत्वाधान में यह सारा काम संपन्न हो रहा है। विसकान्सिन विश्वविद्यालय के डॉ० जेराल्ड बी० केल्ली तेलुगु के विद्वान हैं। ये आजकल आंध्र विश्व-विद्यालय में तेलुगु का गहरा अध्ययन करने आये हैं। स्वदेश लौटने के बाद ये ही विसकांसिन विश्वविद्यालय में तेलुगु के प्राध्यापक रहेंगे। फ्रेंच विद्वान जूल्स ब्लाक का योगदान भी द्रविड़ भाषाओं के लिए प्रशंसार्ह है। सोवियत रूस में भी भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का अच्छा प्रबंध है। तेलुगु के लिए भी यथोचित स्थान मिला है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तेलुगु भाषा तथा साहित्य की सेवा में पश्चिमी विद्वान कई शतियों से योगदान पहुँचाते आ रहे हैं। वास्तव में तेलुगु की मुद्रण-कला, पाठ-निर्धारण प्रक्रिया, रूढ़िमुक्त व्याकरण तथा कोशों का प्रणयन, आधुनिक पद्धतियों पर शोधकार्य भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर सदृश भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आदि अनेकानेक नवीन विधाएँ पश्चिमी विद्वानों के द्वारा ही तेलुगु को संप्राप्त हुई हैं। एतदर्थ तेलुगु जनता सदैव इन महानुभावों का स्मरण कृतज्ञता-भाव के साथ करती रहेगी।

—अनु०: हनुमच्छास्त्री अयाचित।

कोव्वूरु गोपालकृष्ण राव

तेलुगु पर उर्दू तथा फ़ारसी का प्रभाव

द्रविड़-कुल की भाषाओं में तमिल के पश्चात तेलुगु का नाम लिया जा सकता है। इस भाषा पर आरंभ से ही तमिल तथा संस्कृत का प्रभाव पड़ा है। भारत में मुसलमानों ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उन्होंने फ़ारसी भाषा को राजभाषा का स्थान दिया। तेलुगु पर फ़ारसी के प्रभाव का यही कारण है।

फ़ारसी हमारे देश के लिए विदेशी भाषा थी। इस विदेशी भाषा का प्रभाव तेलुगु पर कब पड़ना शुरू हुआ, उस संबंध में पंडितों में मतभेद है। सामान्यतया यह समझा जाता है कि काकतीय साम्राज्य पर मुसलमानों के आक्रमण से तेलुगु फ़ारसी से प्रभावित होने लगी। इससे पूर्व तेलुगु पर किस-किस विदेशी भाषा का प्रभाव पड़ा, इस विषय में शोध की गुंजाइश है। हमारे पास इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मुसलमानों के आगमन से पहले भी तेलुगु का कुछ विदेशी भाषाओं से संपर्क था। हम इस बात को नहीं भूल सकते कि ईसा से पहले ही आंध्र लोग समुद्री व्यापार में निपुण हो चुके थे। समुद्री व्यापार के कारण आंध्र लोग अरबों के साहचर्य में आये। ईसा की सातवीं शती से अरब लोग बड़ी संख्या में हमारे प्रांत से व्यापार करने लगे थे। दसवीं शताब्दी के आरंभ में आंध्र लोगों ने मलाका आदि द्वीपों से व्यापारिक संबंध स्थापित कर लिया था। व्यापारी लोग मलाका तथा अन्य द्वीपों से जो पदार्थ लाते थे, उनका उपयोग इस प्रदेश के लोग किया करते थे। बारहवीं शती के तेलुगु कवि पालकुरिकी सोमनाथ ने 'मलक वित्तमलु' (मलका द्वीप के बेंत) शब्द का उल्लेख किया है।

'मलकलु' शब्द का उपयोग, आगे चल कर, मुसलमानों के लिए किया जाने लगा।

द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव अरबी पर और अरबी का प्रभाव द्रविड़ भाषाओं पर दो कारणों से पड़ा, एक कारण तो यह था कि अरब लोग दक्षिण भारत में व्यापार करने आते थे और दूसरा कारण यह था कि दक्षिणवासी वाणिज्य-व्यवसाय के लिए अरबस्तान की यात्रा करते थे। डॉक्टर चिलकूरि नारायण राव ने आंध्र प्रदेश के नाविकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अध्ययन कर के एक सूची प्रकाशित की है। इस सूची से प्रकट होता है कि आज भी आंध्र के नाविक 'अरजुल बलद' जैसे अरबी के अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं।

तेलुगु पर फ़ारसी का स्पष्ट प्रभाव मुसलमानों के दक्षिण-अभियान से प्रारंभ हुआ किंतु इस अभियान से पहले भी तेलुगु कविता में फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस

प्रकार के प्रयोग के कारण तभी जाने जा सकते हैं, जब कुछ लोग गहराई से इन शब्दों की जाँच-पड़ताल करें।

दिल्ली के सैनिकों तथा प्रशासकों के साथ फ़ारसी के पंडित भी आंध्र पहुँचे। आंध्र के अपने मंडलाधीश भी दिल्ली के सुलतानों और अमीरों से फ़ारसी में पत्र-व्यवहार करने लगे। वेंडपूडि अन्नमंत्री अरबी, तुर्की और फ़ारसी के ज्ञाता थे, इस बात की जानकारी श्रीनाथ कवि की रचना से मिलती है। जक्कना का कथन है कि सिद्धमंत्री विदेशी लिपि पढ़ सकता था। इससे यह प्रमाणित होता है कि आंध्र में फ़ारसी, अरबी तथा तुर्की का अध्ययन होने लगा था। आगे चल कर रेख़्ता, हिंदी या दक्खनी के नाम से वह भाषा भी प्रचलित हुई, जिसकी शब्द-शैली उर्दू कहलायी।

काकतीय साम्राज्य तथा रेड्डी राजाओं के पराभव के पश्चात फ़ारसी का प्रचार बढ़ता गया। बहमनी वंश और गोलकुंडा के सुलतानों ने तो फ़ारसी को प्रशासनिक भाषा का दर्जा दिया। दक्खनी को लोकप्रिय बनाने में भी इन शासकों ने यत्न किया। गोलकुंडा के कुतुबशाहों का राज्य मछलीपट्टन तक फैला हुआ था, अतः फ़ारसी का प्रभाव तेलंगाना तक सीमित नहीं रहा। गोलकुंडा की पराजय के पश्चात आंध्र पर दिल्ली के मुग़ल शासकों ने अधिकार किया। अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में निजामुलमुल्क आसफ़जाह (प्रथम) ने आसफ़िया शासन की नींव डाली। हैदराबाद के निज़ामों ने फ़ारसी तथा उर्दू के प्रसार में बहुत योग दिया इसलिए तेलुगु इन दोनों भाषाओं से अछूती नहीं रह सकी। तेलंगाना क्षेत्र की तेलुगु पर फ़ारसी तथा उर्दू के अधिक प्रभाव के दो कारण थे—राजस्व विभाग का पूरा काम पहले फ़ारसी में और फिर उर्दू में संपन्न होता था। प्रशासकीय समस्त कार्य धीरे-धीरे उर्दू में संपन्न होने लगे। उस्मानिया विश्वविद्यालय की स्थापना से उर्दू का प्रभाव पराकाष्ठा को पहुँच गया। उर्दू के प्रमुख केंद्रों में दिल्ली तथा अलीगढ़ के साथ हैदराबाद का नाम भी लिया जाने लगा।

एक जाति जिस तरह दूसरी जाति पर सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रभाव डालती है उसी तरह एक भाषा भी दूसरी भाषा को प्रभावित करती है। विश्व की भाषाओं का शास्त्रीय अध्ययन करने पर इस तरह का प्रभाव अनिवार्य प्रतीत होता है। किसी अन्य भाषा से शब्दावली ग्रहण की जा सकती है, वह उधार ली गयी शब्दावली कहलाती है। जिस भाषा से शब्द उधार लिये जाते हैं, वह 'अनुकार्य' भाषा है जो भाषा शब्द उधार लेती है, वह 'अनुकृत' भाषा कहलाती है। अनुकरण का कोई न कोई उद्देश्य होता है। अनुकरण के दो प्रकार हैं—'आवश्यकता की पूर्ति' के लिए अनुकरण, प्रतिष्ठा के लिए अनुकरण। राजनीतिक कारणों से अन्य भाषा की शब्दावली ही नहीं, साहित्य-शास्त्र भी ग्रहण किया जाता है। अंग्रेज़ी के शासन-काल में जीविका के लिए लोगों ने अंग्रेज़ी पढ़ी और फिर अंग्रेज़ी साहित्य का अनुकरण किया गया। इसी तरह तेलुगु पहले फ़ारसी से और बाद में उर्दू से प्रभावित हुई। अन्नय मंत्री ने फ़ारसी, तुर्की तथा अरबी का ज्ञान इसीलिए प्राप्त किया होगा कि उन्हें मुसलमान शासकों के साथ पत्राचार करना पड़ा। विजेता जाति की भाषा सीखना तथा उस भाषा के शब्दों को प्रयुक्त करना पराजित जाति के लिए प्रतिष्ठा का कारण बनता है।

तेलुगु में व्यवहृत फ़ारसी तथा उर्दू शब्दों को छह भागों में बाँटा जा सकता है—(१) प्रशासकीय शब्दावली, (२) व्यापार तथा वाणिज्य संबंधी शब्दावली, (३) युद्धोपयोगी सामग्री के लिए प्रयुक्त शब्द, (४) दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली सामग्री से संबंधित शब्द, (५) वस्त्र तथा अलंकारों के नाम, (६) धार्मिक आचार-व्यवहार के शब्द।

यदि हम छहों प्रकार की शब्दावली का अध्ययन करें तो हमें अनेक भाषाशास्त्रीय विशेषताएँ दिखायी देंगी। तेलुगु में फ़ारसी शब्दों में कुछ परिवर्तन स्वाभाविक है। सर्वप्रथम उच्चारण संबंधी परिवर्तनों पर ध्यान जाता है। प्रत्येक भाषा में कुछ विशेष ध्वनियाँ रहती हैं। फ़ारसी-उर्दू की कुछ ध्वनियाँ तेलुगु में नहीं हैं। जब इन ध्वनियों से बनने वाले शब्द तेलुगु में प्रयुक्त होने लगे तो उनके चिह्नों की समस्या सामने आयी। उच्चारण संबंधी विषमता को लोग किसी न किसी तरह हल कर लेते हैं। फ़े, क़ाफ़, ग़ैन, ज़ोय, वाद, ज़े, ख़े का परिवर्तन निम्नलिखित शब्दों से जाना जा सकता है।

फ़ारसी	तेलुगु
फ़ायदा	फायदा
ज़ब्ती	जब्ति
ख़ैरात	खैरात या करात
ख़िताब	खिताब या किताब
ज़मीन	जमीन
क़ानून	खानून या कानून
ग़ुरूर	गरूर

उर्दू-फ़ारसी की विशेष ध्वनियों के लिए हम तेलुगु लिपि के निकटस्थ ध्वनि-चिह्न का प्रयोग करते हैं। विशेष ध्वनि का उच्चारण साधना या अभ्यास पर निर्भर है। तेलुगुभाषी लोग इन विशेष ध्वनियों का उच्चारण ठीक नहीं कर पाते किंतु उर्दू लिखते समय वे हिज्जे की ग़लती नहीं करते। तेलुगु लिपि में हिज्जे भी बदल जाती है। कई बार इस परिवर्तन से भ्रम होता है। तेलुगु में 'ख़िताब' को 'किताब' लिखते हैं। डॉक्टर चिल्कूरि नारायण राव ने 'किताब' शब्द के दो अर्थ लिखे हैं—पुस्तक और उपाधि। इस प्रकार के भ्रम के निराकरण के लिए हमें तेलुगु वर्णमाला में कुछ नये चिह्नों का प्रयोग करना पड़ेगा। इस प्रकार का प्रयत्न कुछ लोगों ने किया भी है। वड्लमूडि गोपाल कृष्णैया ने तेलुगु वर्णमाला में कुछ नये संकेत सम्मिलित किये। अंग्रेज़ी के 'एफ़' और फ़ारसी उर्दू के 'फ़े' के लिए तेलुगु में 'प' की रेखा को दाहिनी ओर कुछ अधिक बढ़ा दिया जाता है। मेरे विचार से यह ठीक रहेगा। तेलुगु में भी देवनागरी लिपि की भाँति 'क़ाफ़', 'ख़े,' 'ग़ैन' के लिए बिंदु से काम चलाया जा सकता है। यदि यह सुझाव ठीक न हो तो पंडित लोग मिल-जुल कर विदेशी ध्वनियों के लिए 'चिह्न' निर्धारित करें।

तेलुगु स्वतंत्र भाषा है। इस दृष्टि से 'फ़ारसी-उर्दू' के शब्दों में परिवर्तन होता है। फ़ारसी-उर्दू के हलंत शब्द तेलुगु में स्वरांत बन गये; जैसे—दुरुस्त—दुरुस्तु। मिसल्—मिसुलु आदि। कुछ शब्दों के साथ 'अमु' प्रत्यय का उपयोग होता है; जैसे—गज—गजमु, दफ़्तर—दफ़्तरमु आदि। उर्दू फ़ारसी के कुछ स्वतंत्र शब्द भी उच्चारण की सुविधा के लिए बदल गये हैं। कुछ शब्दों में आरंभिक दीर्घ स्वर ह्रस्व बन गया है, जैसे—चालान—चलान, चाबुक—चबुक। विदेशी ध्वनियों में जो परिवर्तन हुए हैं, उन्हें हम तेलुगु में प्रचलित नियमों के आधार पर विभाजित कर सकते हैं।

स्वर-परिवर्तन—पूर्वापर स्वरों का परस्पर प्रभावित करना—क़ब्र—कबरु, कब्रुरु, क़िस्त+लु—किस्तुलु।

वर्ण-व्यत्यय—स्वर तथा व्यंजन का व्यत्यय—जैसे—अमानत—अनामतु, सख़्ती—कस्ती

ध्वनि-व्यत्यय—द्रविड़ भाषाओं में सामान्यतया शब्द के प्रथमाक्षर पर आघात होता है। आघाती ध्वनि का व्यत्यय पाया जाता है, जैसे—ओहदा—होदा।

द्विरुक्ति—सवर्ण ध्वनियों का समीकरण; जैसे—इत्र—अत्तर, हक़—हक्कु, हद—हद्दु।

स्वर-भक्ति—विदेशी शब्दों के संयुक्ताक्षरों में स्वर-भक्ति का प्रयोग होता है; जैसे—मख़्ता—मगता, खुश्की—खुसिकी, इक़रार—इकरारु।

गुण—कुछ शब्दों में गुण के उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे—मुबादिला-मोबादिला, गुलाम—गोलाम।

व्यंजन-लोप—शब्द का अंतिम व्यंजन और प्रत्यय का पहला व्यंजन सवर्णी हो तो अंतिम व्यंजन लुप्त होता है; जैसे—ख़रीददार—खरीदार।

वर्ण-च्युति—संयुक्ताक्षरों में एक व्यंजन का लोप होता है, मजदूरी—मजूरी, मस्जिद—मसीदु।

अघोष वर्ण का सघोष वर्ण में परिवर्तन, अनुनासिकों का परस्पर एक-दूसरे में बदलना, मध्य के इकार को अकारादेश जैसे कई परिवर्तन ध्वनियों में होते हैं। विदेशी शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन ही नहीं, अर्थ-परिवर्तन भी होता है। शास्त्रीय दृष्टि से इन परिवर्तनों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

अर्थ-संकोच—कुछ शब्द सामान्य अर्थ के स्थान पर विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'खाविंद', शब्द तेलुगु में 'खामंदु' बन गया। इस शब्द का अर्थ पति न हो कर स्वामी अथवा मालिक है। भू-खामंदु का अर्थ पृथ्वी का मालिक।

अर्थ-प्रसार—विशेष अर्थ में प्रयुक्त कुछ शब्द सामान्य अर्थ में आते हैं, जैसे 'फ़ौज' (सेना) का विकृत रूप 'पौजलु' तेलुगु में 'समूह' अथवा 'वृंद' का पर्यायवाची है।

हीनार्थ—कुछ शब्द हीन अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे तेलुगु में 'तालीमखाना' का अर्थ है व्यायामशाला।

स्थानीयता—स्थानीयता के कारण कुछ शब्दों में अर्थ-परिवर्तन होता है। तेलंगाना में 'तनखाह' शब्द 'वेतन' के अर्थ में प्रयुक्त है, किंतु आंध्र में उसका अर्थ है 'गिरवी' या

'रेहन', जैसे--भूमि तनखा बैंक। कुछ स्थानों पर 'मुद्दई' शब्द वादी के लिए नहीं, प्रतिवादी के लिए प्रयुक्त होता है।

क्रिया, उपसर्ग, प्रत्यय तथा मुहावरे से संबंधित कुछ तथ्य विचारणीय हैं। तेलुगु में फ़ारसी के गार, नामा, बाज, दार, दान आदि प्रत्ययों के कई शब्द बनते हैं। फ़ारसी की क्रियाओं के साथ 'इंचुक' प्रत्यय लगता है। कई बार समास के कारण अर्थ-भेद होता है; जैसे--सिग्गुबरमु (सिग्गु, ते+शर्म, फ़ा०) का अर्थ लज्जा है। इसी तरह प्रमाण खर्चलु, नानार कालु (नाना ते०+रकालु-रक फ़ा०) आदि।

कुछ शब्दों के मूल रूप तक पहुँचना कठिन हो गया है। ऐसे शब्द विश्लेषण के योग्य हैं। कोशकार व्युत्पत्ति के अभाव में इस प्रकार के शब्दों को 'देशी' मान बैठे। श्रीनाथ जैसा महाकवि भी भ्रम से नहीं बच सका। उसने इन शब्दों का प्रयोग समास में संस्कृत शब्द की भाँति किया है। जैसे--**पसुल गोडा** (फ़सील--क़िले या नगर की चारदीवारी) में 'पसु' 'पशु' का भ्रामक है। **क़िल्लाकु** (क़िला--दुर्ग, आकु-ते--पत्र, क़िले से आने वाला पत्र, इस समय इस शब्द का अर्थ है, राजाज्ञा,) कूर्मसानि ओमा (कूर्मसानि-खुरासान, ओमा-ते०--अजवायन) आदि। इस प्रकार शब्दों की संख्या कम नहीं है, जिनका समावेश अब तक शब्दकोश में नहीं हुआ, जिनकी व्युत्पत्ति ज्ञात नहीं है।

प्राचीनता की दृष्टि से कुछ शब्दों का उल्लेख किया जाता है। विद्वानों का विचार है कि तेलुगु के आदि काव्य नन्नय भट्ट द्वारा रचित महाभारत के आरंभिक ढाई पर्व में भी कुछ विदेशी[1] शब्द हैं। देवरपल्ली वेंकट कृष्णा रेड्डी ने 'गाड़ी' शब्द विदेशी माना है। नन्नय भट्ट द्वारा प्रयुक्त **गाडी दलनु** पाठ में **गाडिदा** को ठीक मान कर 'गाडी' पाठभेद माना गया है। नन्नय चोड देव ने अपने 'कुमारसंभव' में **कैपु**, **बाकु**, मडग शब्दों का प्रयोग किया है। देवरपल्ली वेंकट कृष्णा रेड्डी ने 'कैपु' को अरबी के 'कैफ़' शब्द का विकृत रूप माना है। जब कि दोणप्पा इसे देशी मानते हैं। उनका कहना है कि 'कैफ़' और 'कैपु' में कोई संबंध नहीं है। तिक्कन्ना और पालकुरिकि सोमनाथ की रचनाओं में दो-तीन विदेशी शब्द हैं। श्रीनाथ के समय और उनके पश्चात विदेशी शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया, श्रीनाथ ने अनेक विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है; जैसे--जलतारु, मसीदु, मुखमलु, सुलतानु, खुसी, मुड्गु आदि। महाकाव्य, खंड-काव्य, लोकगीत, प्रास्ताविक पद्य, क्षेत्रीय वृत्त, विवरण, शिलालेख, ताम्रपत्र, सरकारी काग़ज़, सनद ही नहीं, साहित्य की सभी विधाओं में फ़ारसी के अगणित शब्द प्रयुक्त हुए। दैनिक जीवन में तो फ़ारसी शब्दों का प्रयोग और अधिक होता है।

फ़ारसी-अरबी के परिचय के कारण १९वीं शती में तेलुगु में एक प्रकार की मिश्र भाषा का प्रचलन हुआ। कवियों ने उर्दू के शब्द और मुहावरे ही नहीं, वाक्यों का प्रयोग भी सीसपद्यों में किया है। कुछ पदों में फ़ारसी-अरबी की तरह तुकों का प्रयोग भी मिलता है। फ़ारसी का

---

१. तेलुगु में फ़ारसी-अरबी या अंग्रेजी ही नहीं, हिंदी के ठेठ शब्द भी विदेशी माने जाते हैं।

रदीफ़-काफ़िया भी तेलुगु में देखा जा सकता है। सरकारी विवरणों में फ़ारसी-अरबी के पचास प्रतिशब्द मिलते हैं।

शिष्टु कृष्णमूर्ति गारु के चाटु पद्यों और वेस्सा प्रेग्गड कामराजु के बेरीज पत्रों में ज़मीदारी, बंदोबस्त आदि से संबंधित बहुत से शब्द आये हैं। सुरवरमु प्रताप रेड्डी का 'वेट्टिवानि दंडकमु' तेलंगाने की तेलुगु पर फ़ारसी-प्रभाव को प्रकट करता है। पोलिपेद्दि वेंकट-राय कवि के 'तिट्ल दंडकमु' में उर्दू की गालियाँ देखी जा सकती हैं। बहुत सी गालियाँ अश्लील हैं। हरामा, गुलामा, दगाखोरु, फाजी, हल्का, दीवाना, बहन . . . आदि। कवियों पर जो प्रभाव पड़ा, वह उनकी कृतियों में भी प्रतिबिंबित हुआ।

—अनु० : श्रीराम शर्मा, ई० कृष्णमूर्ति।

श्रीराम शर्मा

दक्खिनी पर तेलुगु का प्रभाव

दक्खिनी बोली का अधिकांश साहित्य तेलुगु तथा कन्नड़भाषी क्षेत्र में लिखा गया। गोलकुंडा के क़ुतुबशाही और बीजापुर के आदिलशाही शासकों ने फ़ारसी कवियों की तरह दक्खिनी के कवियों को आश्रय दिया। दक्खिनी के बहुत से लेखक गोलकुंडा और बीजापुर के या तो मूल निवासी थे या फिर अन्य नगरों से आ कर यहाँ स्थायी रूप में बस गये थे। ये दोनों नगर क्रमश तेलुगुभाषी और कन्नड़भाषी क्षेत्र में पड़ते हैं। तेलुगु तथा कन्नड़भाषी क्षेत्र में लिखे जाने पर भी दक्खिनी के साहित्यिक रूप पर तेलुगु तथा कन्नड़ का प्रभाव नगण्य है। इसके विपरीत मराठी और गुजरातीभाषी इलाक़े में दक्खिनी का बहुत कम साहित्य लिखा गया। वली औरंगाबादी ही दक्खिनी का एकमात्र ऐसा कवि है, जिसका नाम ग़वासी, वजही, मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह और नुस्रती के साथ लिया जा सकता है। ये चारो कवि गोलकुंडा और बीजापुर से संबंध रखते हैं। वली के बारे में अब तक यह निश्चय नहीं हो सका है कि वे मूलतः औरंगाबाद (महाराष्ट्र) के निवासी थे या अहमदाबाद (गुजरात) के। कुछ लोगों ने इन्हें औरंगाबाद सिद्ध किया है और कुछ ने गुजराती। इनकी रचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि कुछ समय तक वे गुजरात में रहे और कुछ समय तक महाराष्ट्र में। उन्होंने सूरत नगर का आँखों देखा हाल लिखा है और युवा मराठे का चित्रण भी किया है। वली के अतिरिक्त गुजरात तथा महाराष्ट्र में दक्खिनी के किसी बड़े कवि का जीवन नहीं बीता, फिर भी दक्खिनी भाषा पर गुजराती तथा मराठी का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। आंध्र तथा कर्णाटक में विकसित होने पर भी दक्खिनी का साहित्यिक अथवा परिनिष्ठित रूप तेलुगु तथा कन्नड़ के प्रभाव से अछूता क्यों रह गया और गुजराती तथा मराठी उसे अत्यधिक प्रभावित क्यों कर सकीं ?

इस लेख में मुख्य रूप से तेलुगु के बारे में विचार किया जा रहा है। जहाँ तक संस्कृत शब्दावली का संबंध है, तेलुगु तत्सम रूपों को अपनाती आयी है, जब कि हिंदी मूलतः एक तद्‌भव भाषा है। कुछ लोगों ने तेलुगु को भी आर्यकुल की भाषा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यहाँ इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। तेलुगु मूलतः किसी भाषा का तद्‌भव रूप है, किंतु उस भाषा का साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। उसने नवीं-दसवीं शताब्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों को स्वीकार कर बड़ी तेज़ी से विकास किया। दो-तीन सौ वर्षों में ही, इसीलिए, तेलुगु महाभारत और भागवत जैसे ग्रंथों को प्रस्तुत कर सकी। यह स्पष्ट है कि संस्कृत शब्दावली उसे किसी परंपरा से प्राप्त नहीं हुई। तेलुगु ने इस शब्दावली को बाहर से स्वीकार किया।

इसीलिए यह शब्दावली पिछली दस शताब्दियों में बहुत कुछ अविकृत बनी रही। कई बार तेलुगु के तद्भव रूप को प्रमुखता देने का प्रयत्न किया गया। पिछली शताब्दी के अंत में इसके लिए व्यवस्थित रूप से आंदोलन चलाया गया, किंतु फिर संस्कृत की अविकृत अथवा तत्सम शब्दावली का प्रयोग कम नहीं हुआ।

इस शताब्दी में, हिंदी में, संस्कृत के तत्सम रूपों का प्रयोग बढ़ा है, किंतु तत्सम शब्दों के प्रचलन से इस बात में कोई अंतर नहीं आता कि हिंदी मूलतः एक तद्भव भाषा है। उसने अनेक प्राकृतों और अपभ्रंशों से उत्तराधिकार में क्रियापद तथा संज्ञाएँ प्राप्त की हैं। हिंदी की एक शैली होने के कारण दक्खिनी भी तद्भव रूपों पर अवलंबित रही है। इसीलिए तत्सम रूपों का आग्रह रखने वाली तेलुगु से दक्खिनी बहुत कम प्रभावित हुई। गुजराती तथा मराठी भी हिंदी की भाँति तद्भव भाषाएँ हैं, अतः उनके प्रभाव से दक्खिनी वंचित नहीं रह सकी। फिर गुजराती तथा मराठी उसी परिवार की भाषा है, जिस परिवार में दक्खिनी का जन्म हुआ है।

इस प्रसंग में सिद्धांत रूप से एक अन्य तथ्य का उल्लेख भी आवश्यक है। दक्खिनी के प्रायः सभी लेखक मुसलमान हैं। एक-दो हिंदू लेखकों का नाम अपवादस्वरूप ही प्रस्तुत किया जा सकता है। इन मुस्लिम लेखकों ने संस्कृत के परंपरागत शब्दों को तद्भव रूप में स्वीकार किया, किंतु फ़ारसी-अरबी के शब्दों के संबंध में वे तत्सम रूप का आग्रह रखते थे। उनकी इस प्रवृत्ति के विपरीत तेलुगु की प्रवृत्ति थी। तेलुगु में भी फ़ारसी और अरबी के असंख्य शब्द प्रयुक्त हुए हैं, किंतु तद्भव रूप में। अवधी, ब्रज आदि बोलियों में भी तेलुगु की तरह फ़ारसी-अरबी के तद्भव रूपों का प्रयोग होता रहा है। दक्खिनी के लेखकों ने जो रुख़ अपनाया, उसने आगे चल कर परिनिष्ठित उर्दू के लेखकों का पथ-प्रदर्शन किया। इस प्रवृत्ति को उर्दू तथा हिंदी के वर्तमान रूप में प्रतिफलित देखा जा सकता है।

जहाँ तक भाषा-विज्ञान का संबंध है, उर्दू तथा हिंदी दो भिन्न भाषाएँ नहीं हैं। अनेक राजनीतिक नेताओं और साहित्यकारों के प्रयत्न करने पर भी यह अभेदता व्यावहारिक रूप ग्रहण नहीं कर सकी। इसका कारण दोनों भाषाओं में पनपने वाली एक विशेष प्रवृत्ति है। हिंदी मुख्यतः संस्कृत ही नहीं, अरबी-फ़ारसी के शब्दों को भी तद्भव रूप में प्रयुक्त करती है। पिछले दिनों संस्कृत ही नहीं , फ़ारसी-अरबी के भी तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ी है किन्तु ज्ञान-विज्ञान संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त इस प्रवृत्ति को अत्यंत नहीं देखा जा सकता। इसके विपरीत उर्दू की स्थिति है। उर्दू संस्कृत के तद्भव रूपों और केवल तद्भव रूपों को स्वीकार करती है। तत्सम रूप अपवादस्वरूप ही प्रयुक्त होते हैं, किंतु फ़ारसी तथा अरबी के तत्सम रूपों और केवल तत्सम रूपों का प्रयोग शिष्ट मानती है। बोलने में चाहे विकार पैदा हो जाय, किंतु लिखते समय 'स्वाद' की जगह 'सीन' या 'तोय' की जगह 'ते' ग्राह्य नहीं है।

यह प्रवृत्ति दक्खिनी के लेखकों में अच्छी तरह जड़ जमा चुकी थी। अतः जहाँ तक शब्दावली का संबंध है, तेलुगु दक्खिनी को अधिक प्रभावित नहीं कर सकी।

दूसरा मुख्य कारण यह है कि दक्खिनी के साहित्यकार लोक-साहित्य के निर्माता नहीं थे। उन्होंने दक्खिनी को पूरी तरह साहित्यिक ढाँचे में ढाल रखा है। बलपूर्वक उन्होंने दक्खिनी को विकृतियों से बचाया है। प्रायः सभी लेखक इस बोली का निश्चित व्याकरण अपने ध्यान में रखते थे। इसीलिए थोड़े ही काल में दक्खिनी ने परिनिष्ठित भाषा का रूप धारण कर लिया। मनमाना प्रयोग सहन नहीं किया गया। लेखकों ने संस्कृत के ऐसे तत्सम रूपों का प्रयोग किया है, जो लिपि या उच्चारण की दृष्टि से मुस्लिम समाज में खप सकते थे। जहाँ तक तेलुगु के संस्कृतेतर शब्दों का प्रश्न है, दक्खिनी के लेखकों ने उन्हें कभी ग्राह्य नहीं माना। दक्खिनी के समस्त साहित्य को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि इस भाषा के कवि और लेखक इस दिशा में बहुत सावधान थे। तेलुगु के इने-गिने शब्द ही दक्खिनी में देखे जा सकते हैं। **मुंजल** तथा **भंगार** शब्द इसी प्रकार के हैं : मीठे कइ नीर के चश्मे ऐसी भर्या है मुंजल (अली आदिल शाह का काव्य-संग्रह), सकल कोट चौगिर्द भंगार के (कुतुब मुश्तरी)।

ताड़फल के लिए तेलुगु में 'मुंज' (I) शब्द का प्रयोग होता है। 'लु' तेलुगु का बहुवचन-वाची प्रत्यय है। दक्खिनी में 'मुंजलु' के स्थान पर 'मुंजल' रूप प्रयुक्त होता है। 'भंगार' शब्द संस्कृत के 'भृंगारक' शब्द का तद्भव रूप कहा जा सकता है। तेलुगु में 'स्वर्ण' के लिए 'बंगारमु' शब्द का प्रयोग होता है। यह निरुक्त का विषय है कि तेलुगु के 'बंगारमु' का 'भृंगारक' से कोई संबंध है या नहीं, किंतु यह स्पष्ट है कि दक्खिनी में 'भंगार' का प्रयोग तेलुगु के 'बंगारमु' से प्रेरित है।

निम्नलिखित पंक्ति में 'लंका' तथा 'पड्लंका' (प्रतिलंका) का प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है : **लंका पड्लंका** होर बंगाला व गौड (कुतुब मुश्तरी)

हिंदी में 'लंका' शब्द सिंहल के लिए रूढ़ है, किंतु तेलुगु में किसी भी द्वीप के लिए लंका का प्रयोग होता है। यहाँ तक कि गोदावरी तथा कृष्णा के ऐसे स्थान भी 'लंका' कहलाते हैं, जो प्रवाह में आने वाली मिट्टी के कारण बीच में उठ गये हैं, जहाँ लोग खेती-बाड़ी करते हैं और घर बना कर रहने लगते हैं। ये स्थान प्रवाह बढ़ने पर चारों ओर पानी से घिर जाते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने 'लंका' शब्द का प्रयोग इसीलिए कमर के लिए किया है :

लंक पुहुमि अस आहि न काहूँ,
केहरि कहौं न ओहि सरि ताहूँ।
बसा लंक बरनै जग झीनी,
तेहि तें अधिक लंक वह खीनी।
परिहँस पिअर भाट तोरह बसा,
लीन्हें लंक, लोगन्ह कहँ डँसा।
(पद्मावत ११६-१,२,३)

दक्खिनी के लेखकों द्वारा प्रयुक्त 'लंका' अथवा 'पड्लंका' शब्द तेलुगु में प्रयुक्त 'लंका' के अधिक निकट है। यह एक अलग विषय है कि मूलतः 'लंका' शब्द संस्कृत से संवद्ध है अथवा द्राविड़ परिवार की किसी भाषा से।

जहाँ तक बोलचाल की दक्खिनी का प्रश्न है, वह तेलुगु के प्रभाव से अपनी शब्दावली को अछूता नहीं रख सकी। दैनिक व्यवहार में दक्खिनी ही नहीं, तेलुगुभाषी क्षेत्र में यत्नपूर्वक विशुद्ध हिंदी अथवा उर्दू बोलने वाले लोग भी अपनी बोली में तेलुगु के अनगिनत शब्दोंका प्रयोग करते हैं। कुछ शब्द यहाँ दिये जाते हैं--मंदम--मोटाई, मंदा--समूह, एट्टी--बेगार, कुप्पा,--ढेर, गंपा-टोकरा, डोप्पा--टोपी, दोब्बा--मोटा, पोट्टा--लड़का, बंडी--बैलगाड़ी, बोंता--गुदड़ी।

'कट्टा' शब्द विशेष रूप से उल्लेनीय है। तेलुगु में 'कट्टा' का प्रयोग क्रिया के रूप में होता है, अर्थ है। 'बाँधना' दक्खिनी में बँधी हुई चीज़ के लिए' 'कट्टा' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे पानी का कट्टा, झाड़ का कट्टा।

बोल-चाल की दक्खिनी के वाक्य-विन्यास को भी तेलुगु ने प्रभावित किया है। इस संबंध में दक्खिनी की असमापिका क्रिया अथवा उद्देश्य सूचक पूर्वकालिक क्रियाओं का उल्लेख आवश्यक है। पूर्वकालिक क्रियाओं के संबंध में बंगला तथा असमिया नवीन भारतीय आर्यभाषाओं में विशेष स्थान रखती हैं। इन दोनों भाषाओं में पूर्वकालिक क्रिया अथवा असमापिका क्रिया का अधिक प्रभाव तिब्बती-ब्रह्मी प्रभाव के कारण आया है। डॉक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस संबंध में लिखा है--'कुछ विद्वानों का यह मत है कि बंगला व्यंजनों के ध्वनि-तत्व के विषय में पूर्वी बंगला की कुछ विशेषताएँ, तुर्क पूर्व समय के बंगला के विकास-काल में, उस पर पड़े हुए तिब्बती-ब्रह्मी प्रभाव के कारण ही आयी है, विशेषतया 'च', 'ज' का 'त्स', 'द्ज़' के रूप में उच्चारण तथा रूप-तत्व एवं वाक्य-विन्यासविषयक कुछ बातें यथा--बंगला, असमिया आदि भाषाओं में 'संस्कृत 'त्वा' और 'य' प्रत्ययों से संयुक्त 'असमापिका क्रिया' का बहुत प्रयोग।'[1]

बंगला-असमिया और पहाड़ी बोलियों की पूर्वकालिक क्रिया बहुलता और बोल-चाल की दक्खिनी के पूर्वकालिक क्रिया-बाहुल्य में अंतर यह है कि इसमें धातु को क्रियार्थक संज्ञा का रूप दे कर 'बोल के' अथवा 'बोल कर' जोड़ा जाता है। मुख्य क्रिया से पूर्व इस प्रकार के प्रयोग से क्रिया का उद्देश्य प्रकट होता है। इस विषय में तेलुगु और दक्खिनी में बहुत साम्य है। तेलुगु में प्रयुक्त पूर्वकालिक क्रिया भी मुख्य क्रिया के उद्देश्य-द्योतन के लिए आती हैं। तेलुगु तथा दक्खिनी के कुछ वाक्य यहाँ दिये जाते हैं:

वर्तमान काल

ते० तिनवलेननि तिनुचुन्नानु।
द० मैं खाना बोल कर खा रहा हूँ।
ते० वेल्लवलेननि वेल्लु चुन्नानु।
द० मैं जाना बोल कर जा रहा हूँ।
ते० चदववलेननि चदुवुचुन्नानु।
द० पढ़ना बोल कर पढ़ रहा हूँ।

---

१. चतर्जी--भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ० १२३।

भूतकाल

ते० तिनबलेननि तिंटिनि।
द० मैंने खाना बोल कर खाया।
ते० वेल्लवलेननि वेल्लितिनि।
द० मैं जाना बोल कर गाया।
ते० चदववलेननि चदिवितिनि।
द० मैंने पढ़ना बोल कर पढ़ा।

हँसी-मजाक के लिए दक्खिनी लोक-गीतों में आज भी तेलुगु के बहुत से शब्दों का प्रयोग होता है। यहाँ एक गीत उद्धृत किया जाता है:

बीबो का दुला गाँव-खेड़ेवाला माँ।
दूले के वास्ते मैं खाना पकाई।
बीबो का दुला बुव्वा बुव्वा बोलता माँ।
दूले के वास्ते मैं पान मँगाई।
बीबो का दुला आकु आकु बोलता माँ।
दूले के वास्ते मैं पानी भराई।
बीबो का दुला नीलु नीलु बोलता माँ।

(बुव्वा—चावल, आकु—पान, नीलु—पानी।)

तेलुगु तथा दक्खिनी साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के लिए दक्खिनी के महाकवि गवासी की 'तूतीनामा' पुस्तक और तेलुगु की 'शुक सप्तति' का नाम लिया जा सकता है। संस्कृत की किसी अज्ञातनामा लेखक की रचना 'शुक सप्तति' के आधार पर ये दोनों ग्रंथ लिखे गये हैं। तेलुगु की 'शुक सप्तति' अपने समकालीन समाज का सुंदर चित्र प्रस्तुत करती है। ग़वासी की 'तूतीनामा' पुस्तक भी अपने युग के नर-नारियों की कामुक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालती है।

मख़दूम मोहीउद्दीन

आंध्र प्रदेश में उर्दू साहित्य

पाँच सौ वर्षों से अधिक तक हैदराबाद उर्दू भाषा और साहित्य का केंद्र रहा है (मुग़लों के काल में उत्तर में फ़ारसी शासकीय तथा बौद्धिक अनुष्ठानों का माध्यम थी)। गोलकुंडा का शासक मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह (१५८०-१६१२ ई०), जिसने अपनी प्रेमिका भागमती के नाम पर भाग्यनगर (हैदराबाद) की स्थापना की, केवल पहला उर्दू कवि ही नहीं, वरन एक तेलुगु कवि भी था। उस काल में राजाश्रय तथा संरक्षणप्राप्त उर्दू और तेलुगु कवियों की गौरवपूर्ण मंडली थी, जिसने अपनी धरती और जनता का चित्रण किया।

इब्राहिम क़ुतुबशाह (१५५०-१५८० ई०) तेलुगु लेखकों और कवियों का बहुत बड़ा संरक्षक था। उसके समय में रचे गये कुछ ग्रंथ उसको समर्पित किये गये थे और स्नेहवश उसे 'इभा राम' पुकारा जाता था। उर्दू और तेलुगु के सम्मिश्रण के संघात से शब्दों के पारस्परिक आदान-प्रदान, अभिव्यक्ति, कला-कौशल और स्थापत्य कला के प्रकारों, रत्नाभूषण की शैलियों, सज्जा-रीतियों, खान-पान और धार्मिक तथा सामाजिक कर्मकांडों के रूप में सांस्कृतिक एकता आयी।

कर्बला की शोकपूर्ण दुर्घटना और उसमें सन्निहित यातना और बलिदान की भावना असाधारण रूप से भारतीय मस्तिष्क को प्रभावित करती है। इसे आंध्र प्रदेश में सामान्य रूप से तथा तेलंगाना में विशेष रूप से बड़े पैमाने पर अभिव्यक्ति मिली, जहाँ ग्रामीण समुदाय तथा श्रमिक वर्ग मुहर्रम के समारोहों में सम्मिलित हुआ करता था।

आंध्र में, उत्तर और दक्षिण, उर्दू और तेलुगु, हिंदुओं और मुसलमानों के एकीकरण की परंपरा, एक दूसरे की भाषा, रीति-रिवाज तथा रहन-सहन की पद्धतियों के प्रति आदर और प्रेम पर आधारित एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। दक्षिण पर मुग़लों के आक्रमण के बाद मधुर सांस्कृतिक विकास की यह प्रक्रिया विच्छिन्न हो गयी। इसके बाद अंग्रेज़ों का आगमन हुआ, जिन्होंने इस खाई को और बढ़ाया। निज़ाम के शासन-काल में पूर्वकालीन हैदराबाद स्टेट की राजकीय भाषा के रूप में उर्दू को विशिष्ट स्थिति और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई और उसको तेलुगु तथा अन्य दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं को तिरस्कृत कर के ज्ञान की सभी शाखाओं के लिए विश्वविद्यालय के स्तर तक अध्यापन का माध्यम बना दिया गया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उषाकाल के साथ ही भाषात्मक राज्यों के निर्माण से संबंधित आंदोलन में गति आयी और विशाल आंध्र की माँग दुर्वर हो गयी। उर्दू लेखकों और कवियों ने भी इस संघर्ष का समर्थन किया और इसमें भाग लिया। १९५६ ई० में आंध्र-निवासियों की चिरपोषित कामना पूर्ण हुई और आंध्र प्रदेश राज्य का निर्माण हो गया। विच्छिन्नता की प्रक्रिया समाप्त हो गयी। आज आंध्र प्रदेश में परंपरागत ऐक्यपूर्ण मधुर पद्धति से तेलुगु तथा उर्दू के विकास के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो गया है। तीन करोड़ साठ लाख जनसंख्या वाले इस तेलुगु राज्य में, तेलंगाना, रायलसीमा तथा सरकारों में फैले हुए २५,५४,७५३ उर्दूभाषी लोग हैं। उर्दूभाषी लोगों का संकेंद्रण विशेष रूप से हैदराबाद नगर में है, जो जिले और तालुक़े का सदर मुक़ाम है।

आंध्र प्रदेश ही एकमात्र ऐसा राज्य है, जहाँ सरकार ने उर्दू को उचित वैधानिक मान्यता और संरक्षण प्रदान किया है। उपयुक्त प्रकाशनगृहों तथा विक्रय-अभिकरणों की कमी तथा क्रय करने वाले लोगों की संख्या अधिक न होने जैसी अनेक कठिनाइयाँ अभी भी उर्दू भाषा और साहित्य के विकास के मार्ग में हैं, फिर भी थोड़े समय के मौन के बाद इस दशक में उर्दू साहित्य ने प्रगति की है। सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें काव्य-संग्रह, कहानियाँ, नाटक, साहित्यिक समीक्षा, जीवनी-साहित्य, कोश-रचना तथा विज्ञान और शास्त्रीय विद्या से संबंधित विषय सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन दक्खिनी उर्दू पांडुलिपियों पर महत्वपूर्ण कार्य हुआ है।

आंध्र प्रदेश में उर्दू साहित्य का मूल्यांकन करने से पहले इस तथ्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि समस्त विकसित भाषाओं के भारतीय लेखकों पर प्रगतिशील लेखकों के आंदोलन के प्रभाव की स्पष्ट छाप थी। इस आंदोलन को रवींद्रनाथ टैगोर, जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, मुंशी प्रेमचंद तथा मौलवी अब्दुल हक़ का समर्थन और संरक्षण प्राप्त था। साहित्य की नियम-निष्ठा तथा निरुद्देश्यता पर प्रहार करते हुए इसने उसमें नये रक्त का संचार किया।

यद्यपि ग़ज़लगोई की प्राचीन परंपरा का आग्रह अभी भी है, फिर भी अन्य स्थानों के अपने समानधर्मियों के मनोभावों के अनुकूल आंध्र प्रदेश के आधुनिक कवि अपूर्व ग्रहणशीलता और दक्षता के साथ अपने पद्य के रूप और विचार-तत्व में विचारणीय परिवर्तन करते रहे हैं। यहाँ कवियों के तीन वर्ग हैं। एक वर्ग परंपरावादियों का है, जिनके पास कुछ नया देने को नहीं है। दूसरा उन कवियों का है, जिन्होंने पूरी चेतना के साथ प्रगतिवादी आंदोलन के आह्वान के प्रति संवेदनशीलता प्रकट की है। उनका काव्य उत्पीड़ितों के मनोभावों का चित्रण करता है, शोषण के प्रति उनका विरोध व्यक्त करता है तथा मानवता के प्रशस्ततर भविष्य के प्रति आशान्वित है। तीसरा वर्ग स्वातंत्र्योत्तर युग के नवोदित कवियों का है। उनमें से बहुत से प्रगतिशील परंपराओं को आगे बढ़ा रहे हैं, जब कि दूसरे अपने विचारों में नितांत व्यक्तिवादी तथा आत्मनिष्ठ हैं। वे प्राचीन परंपरा से पूरी तरह कटे हुए नहीं हैं और नये रूपों और प्रतिमानों में भी प्रयोग कर रहे हैं।

परंपरावादियों में अरबी तथा फ़ारसी के विद्वान अल्लामा हैरत बदायूँनी का विशिष्ट स्थान है। वयोवृद्ध होते हुए भी उनकी हाल की रचनाएँ ओजपूर्ण हैं और उनमें आशावादिता की झलक मिलती है। राघवेंद्र राव 'जज़्ब' भी एक पुरातनपंथी कवि हैं, जिनकी अभिव्यक्ति का रूप विशेष कर रुबाई (चतुष्पद छंद) है। उनका दृष्टिकोण सूफ़ियाना और उपदेशात्मक है; यद्यपि कभी-कभी वे व्यंग्यात्मक भी हो जाते हैं। जन्मना कन्नड़ होते हुए भी तेलुगु के अच्छे ज्ञाता 'जज़्ब' ने उर्दू को अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाया है और उनके पास संस्कृत और फ़ारसी की आधारभूमि भी है। एक दूसरे ज्ञानवृद्ध कवि नज्म अफ़ंदी हैं; उर्दू साहित्य में जिनका विशेष योगदान सलाम के रूप में है, जो कर्बला की शोकपूर्ण दुर्घटना से संबंधित है। वे ग़ज़ल तथा अन्य रूपों में भी अपने भावों को व्यक्त करते हैं और अपनी लेखन-शैली के सौंदर्य तथा उसकी प्रांजलता के लिए विख्यात हैं। पुराने उस्तादों की भाँति उनके पास भी अरबी और फ़ारसी पांडित्य की आधारभूमि है। दृष्टिकोण में युक्तिवादी फ़ज़लुर्रहमान ने प्राचीन परंपरा से संबंध विच्छेद कर लिया और हाली तथा इस्माइल मीराती की भाँति सरल हिंदुस्तानी में देशभक्तिपूर्ण, सामाजिक तथा वैज्ञानिक समस्याओं को अपने काव्य का विषय बनाया। वे नाटककार भी हैं।

मनोहरलाल शारिब, शाहिद, कँवल प्रसाद, अरीब, सईद शहीदी, जामी और सरवर डंडा स्वातंत्र्यपूर्व काल के हैं। निज़ाम के अधीन, इन लोगों ने अंग्रेज़ों तथा सामंती वर्ग की दासता का कष्ट सहन किया। निर्धनता और वंचना, स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय के प्रति उनके जोश को दमित न कर सकी। शारिब का मानसिक गठन वेदांत और सूफ़ी मत से प्रभावित एक रहस्यवादी जैसा था। जीवन के संघर्ष और अंतर्विरोधों से परे वे मनुष्य की एकता में विश्वास रखते थे। उन्होंने धार्मिक हठवादियों तथा जातियों और संप्रदायों की दुष्परिवर्तनशीलता का निर्ममता से उपहास किया। १९६२ ई० में उनका युवावस्था में ही देहांत हो गया। शाहिद (१९११-१९६२) एक अच्छे ग़ज़लगो थे। रूप और प्रतीकों की संकीर्णता के बावजूद, जिसको उन्होंने नये अर्थ दिये, अपनी ग़ज़लों में उन्होंने प्रेम का आनंद और उसकी पीड़ा ही नहीं व्यक्त की, वरन असाधारण सूक्ष्मता तथा प्रभावोत्पादक शैली में सामाजिक अन्याय, मानवता का भय और उसकी आशाओं जैसे जीवंत यथार्थों का भी विवेचन किया।

कँवल प्रसाद 'कँवल' लोकप्रिय और प्रतिभासंपन्न कवि हैं। उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति ग़ज़ल के रूप में ही नहीं वरन नज़्म, गीत और चतुष्पद छंद (रुबाई) में भी की है। उनकी शैली सहज और गीतात्मक है तथा कथ्य परंपरावादी, जिसमें यदा-कदा देश-प्रेम तथा समाज-सुधार की भावना का उद्वेग भी मिलता है। उन्हें हिंदी में भी दक्षता प्राप्त है।

युवावस्था में अरीब प्रगतिशील लेखकों के आंदोलन के प्रति आकर्षित हुए। वे स्वयं को तेलंगाना के लोगों से अभिन्न मानते थे, जो सामंती निरंकुशता और विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। उन्होंने मानव की प्रशस्ति तथा हर प्रकार के अत्याचार के विरुद्ध लिखा। उन्हें अपने मत के लिए कष्ट सहन करना पड़ा और गिरफ़्तार कर के जेल में बंद कर दिया गया (नवंबर १९४८ से अक्तूबर १९५०)। अधिक व्यापक और मुक्त अभिव्यक्ति के लिए अरीब

को मुक्त छंद पसंद है और वे अत्यंत प्रभावोत्पादक शैली में उसका निर्वाह करते हैं। रूप और अभिव्यक्ति में उनकी ग़ज़लें उत्कृष्ट हैं। उनकी रुबाई के संगीत में मदिरा की प्रशस्ति है, जो आनंद का प्रतीक है। वे गद्य-लेखक तथा 'सबा नामक महत्वपूर्ण उर्दू साहित्यिक मासिक पत्रिका के संपादक भी हैं।

सईद शहीदी मूलतः गीतकार हैं और परंपरागत शैली में ग़ज़ल लिखते हैं। प्रभावोत्पादन के लिए वे छोटे छंदों का चयन करते हैं और उनकी प्रेमविषयक कविताएँ अपनी सहजता के लिए प्रख्यात हैं।

कभी-कभी सुधार-विरोधी विचारों को अपना कथ्य बनाते हुए जामी ने परंपरावादी की भाँति तीसरे दशक के आरंभ में लिखना शुरू किया, परंतु स्वातंत्र्योत्तर लोकतंत्रात्मक परिवर्तनों ने उनके दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन कर दिया। यहाँ तक कि अपनी आरंभिक पद्य-रचनाओं के सारे बारह ग्रंथों को उन्होंने फूँक दिया और समय के भावों के अनुकूल नये सिरे से लिखना शुरू किया। विगत तथा वर्तमान की स्थितियों के संबंध में भ्रम-निवारण और प्रशस्ततर भविष्य की आशा उनकी रचनाओं का मूल स्वर है। उनकी ग़ज़लें अपनी नवीन बिंब-सृष्टि, सहज किंतु ओजस्वी लेखन-शैली और शिल्पगत उत्कृष्टता के लिए लोकप्रिय हैं।

अज़ीज़ क़ैसी और क़मर साहिरी की रचनाओं में सामाजिक तथा राजनीतिक अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह का ज़ोरदार स्वर मिलता है। धर्मोन्माद तथा स्वैर तंत्र की आलोचना में क़मर का स्वर बहुत कटु है। अज़ीज़ क़ैसी के पास मुक्त छंद का विस्तृत फलक है और सामाजिक अन्याय तथा परमाणविक युद्ध के प्रति उनके दृष्टिकोण में युयुत्सा का भाव पाया जाता है।

अपनी कविता के सामाजिक तत्व तथा स्थानीय दक्खिनी बोली के उपयोग के कारण आंध्र प्रदेश में सरवर डंडा की अद्वितीय स्थिति है। उन्हें निरक्षर लोगों तक से सीधा संपर्क स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई है। अपने गीतों के लिए उन्होंने उर्दू, हिंदी तथा तेलुगु तक से लयात्मक और प्रवाहपूर्ण छंद लिये हैं और उनकी रचनाओं में लोकगीतों का भोलापन, मनोहारिता, सहजता तथा कलाकारिता मिलती है।

तीसरे वर्ग में वहीद अख़्तर और साज तम्कनत प्रतिभासंपन्न और प्रख्यात कवि हैं। शाज शब्दों के पारखी हैं और उनकी रचना-शैली लचीली है। अपने मन की गूढ़तम गहराइयों और भक्ति-भाव व्यक्त करने में वे अत्यंत सुकुमार और शालीन हैं। वहीद अख़्तर ने कुछ लंबी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें आद्यंत रुचि बनी रहती है। उनका पद्य सुगठित है और उसमें दार्शनिक मन की झलक मिलती है।

इनके अतिरिक्त कुछ और नवोदित रचनाकार भी हैं। इनमें हकीम यूसुफ़ हुसेन खाँ, ताज महजूर, रशीद अज़र और हरी सिंह 'शोर' मुक्त छंद का प्रभावोत्पादक शैली में उपयोग करते हैं और कथ्य के चयन तथा निर्वाह में विशिष्ट रूप से उनमें उनकी अपनी छाप मिलती है। भिन्न आयु-वर्गों के अधिकांश कवि जैसे श्रद्धेय हानसेन रेहानी, डॉक्टर रघुनंदन राज इलहाम, ताब, खैरत नदीम, ओज याक़ूबी, अनवर मोअज़्ज़र, सुघनी तबस्सुम, रघुवंशी निर्मल, नय्यर, नासिर कार्नूली, खयाल, विक़ार खलील, बर्क़ यूसुफ़ी, मनोहरलाल 'बहार', गाइने सिंह 'शातिर',

अहमद हमेश, हसन फ़रूक़, ग़यास, ख़लिश और मसूद आबिदी नये स्वर की खोज में प्रयोग कर रहे हैं। इनमें से कइयों ने अपना विशिष्ट स्थान भी बना लिया है। ख़ुर्शीद नज़ीर और बानो ताहिरा सईद लोकप्रिय कवयित्रियाँ हैं।

काव्य की तुलना में कहानी अभिव्यक्ति का नया रूप है। इसमें रचनाकार को प्रशस्ततर फलक मिलता है। नयी होने के नाते यह भाषा और कथ्य पर कोई पारंपरिक बाध्यता नहीं लादती। यही कारण है कि आधुनिक समाज के गुण, उसकी सुंदरता और विरूपताएँ कविता की तुलना में कहानी में अधिक सशक्त रूप में चित्रित की गयी हैं। पिछले दशक में कहानीकारों के एक दलविशेष रूप से महिला कहानीकारों, जैसे, ज़ीनत साजिदा, जीलानी बानो, वाजिदा तबस्सुम, अमीना अबुल हसन और नजमा सामी---ने पाठकों पर गहरा प्रभाव डाला है। पुरुष कहानीकार, जैसे, रशीद क़ुरेशी, इक़बाल मतीन, अवद तथा जीलानी अच्छी प्रगति कर रहे हैं और वे अपनी कला के प्रति ईमानदार हैं।

उर्दू में साहित्यिक समीक्षा का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। आंध्र प्रदेश में कुछ समालोचक ऐसे हैं, जिन्होंने साहित्य के इस रूप को यदा-कदा महत्वपूर्ण योगदान दिया है। परंतु ऐसा लगता है कि उनमें से किसी ने भी अपने आपको इसके लिए समर्पित नहीं किया है। प्रायः सभी अंशकालिक की भाँति हैं, जो सर्जनात्मक अथवा पुनरुत्पादी साहित्यिक विचारणा में तल्लीन हैं। ऐसे लोगों में प्रोफ़ेसर सरवरी, अबू ज़फ़र, मीर हसन, अख़्तर हसन, डॉक्टर राजबहादुर गौड़, ज़ीनत साजिदा, आलम खुंडमीरी और डॉक्टर सैयदा जफर उल्लेखनीय हैं।

साहित्यिक संस्थाएँ जैसे, आंध्र प्रदेश साहित्य अकादेमी, अंजुम-ए-तरक़्क़ी-उर्दू, स्वर्गीय श्री कुलेश्वर राव द्वारा संगठित इतिहास और विज्ञान की अकादेमी, उर्दू मजलिस, इदारा-ए-अबाबियात-ए-उर्दू, मोतीलाल नेहरू नेशनल यूनिटी सेंटर और अदबी ट्रस्ट महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं, और यहाँ से गद्य, पद्य, साहित्य के इतिहास और जीवनी-साहित्य पर अनेक ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं।

आंध्र प्रदेश के परंपरागत धर्मनिरपेक्ष वातावरण में, बिना किसी भय के उर्दू भाषा और साहित्य की शांतिपूर्ण तथा अबाधित प्रगति की प्राक्कल्पना की जा सकती है।

---अनु० : वैकुंठनाथ मेहरोत्रा,
द्वारा 'माध्यम'।

अड्डुसुमिल्लि राधाकृष्ण

आंध्र प्रदेश में रंगमंच

भारत के अन्य अधिकांश क्षेत्रीय रंगमंचों की तरह आंध्र प्रदेश में आधुनिक रंगमंच केवल सौ वर्ष पुराना है। इसके बावजूद, राज्य के बीस ज़िलों में सर्वत्र अपने विविध रूपों में उसका प्रसार आंध्र रंगमंच की निजी विशेषता है।

सन १८८० तक आंध्रवासियों के प्रमुख मनोरंजनात्मक प्रदर्शनों के अंग पारंपरिक रंगमंच के यक्षगान, विधि नाटक, छाया-नाट्य और कठपुतली-नृत्य ही थे। सन १८८० में धारवाड़ की और पारसी थियेटर कंपनियों की घुमक्कड़ नाट्य-मंडलियों के आंध्र-प्रवास ने अपने संगीत और दृश्य-पटों से युक्त 'मेलोड्रामा' के प्रदर्शनों से तेलुगु रंगमंच के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। इन नाट्य-मंडलियों के दौरे के बाद पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों पर आधारित जिस संगीतात्मक नाट्य-रूप का उदय हुआ, आंध्र के रंगमंच पर अभी भी उसी का आधिपत्य है। विशुद्ध गद्य-नाटक (सर्वप्रथम १८६४ के आसपास लिखित) को १९३० के बाद ही शिक्षित युवा जनों के हाथों मंचन में गतिशीलता प्राप्त हुई। पूर्ववर्ती नाटकों पर संस्कृत का तथा परवर्तियों पर अंग्रेज़ी का प्रभाव उनके आलेखों और मंचन में स्पष्टतः देखा जा सकता है। किसी विशेष अभिभावकत्व के बिना ही आंध्र के गाँवों में यक्षगान आदि के रूप में पारंपरिक रंगमंच आज भी जीवित है।

संप्रति आंध्र प्रदेश में रंगमंचीय गतिविधि बिखरी हुई एवं तारतम्यरहित है, हालाँकि उसके प्रति उत्साह में दिनोंदिन अभिवृद्धि हो रही है। सिनेमा, नाटक के विकास में योगदान करने वाला उद्योग न हो कर, न केवल नाट्य-रंगमंचों को हथिया चुका है, बल्कि लोकप्रिय मनो-रंजन के नाम पर तेज़ी से निम्न कोटि की रुचियों को बढ़ावा दे रहा है। अप्रत्यक्षतः पिछले ३० वर्षों में यह नाटक के विकास में बाधा डालता रहा है।

आंध्र प्रदेश में रंगमंचीय गतिविधि त्रिमुखी है। व्यावसायिक रंगमंच की लगभग चालीस घुमक्कड़ नाट्य-मंडलियाँ प्रदेश भर में प्रायः पूरे वर्ष संगीतात्मक नाटक प्रदर्शित करती रहती हैं। लोकप्रिय 'सुरभि' परिवार की थियेटर कंपनियाँ, जिनकी तादाद लगभग ३० है, जो अधिकतर गाँवों में घूमती हैं, प्रत्येक प्रमुख गाँव में अपने तंबुओं और दृश्यावलियों के साथ एक-दो महीने का डेरा डालती हैं। शहरों और नगरों में कंपनियाँ महाकवि तिरुपति कवलु रचित महाभारत पर आधारित संगीतात्मक नाटक दिखलाती हैं। सिर्फ़ एक या दो ऐसी कंपनियाँ हैं जो आधुनिक गद्य-नाटकों के प्रदर्शन का दावा करती हैं।

आंध्र के अव्यावसायिक रंगमंच ने सचमुच ही नाट्य-मंचन के मूल्यों को आज तक क़ायम रखा है, यद्यपि इसका विकास विशृंखल रहा है। इसी आंदोलन से तेलुगु रंगमंच के पुरोधाओं का उदय हुआ। १९६० के एक सर्वेक्षण के अनुसार लगभग ८०० अव्यावसायिक संस्थाएँ इस क्षेत्र में कार्यरत हैं। राज्य के विभिन्न केंद्रों में विभिन्न संस्थाओं द्वारा आयोजित नाट्य-प्रतियोगिताएँ इस अव्यावसायिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए मंच प्रस्तुत करती हैं। इस आंदोलन में अगुआ एक संस्था 'आंध्र नाटक-कला परिषद्' ने राज्य के विभिन्न भागों में राज्यस्तरीय प्रतियोगिताएँ आयोजित कर के इस आंदोलन को उत्तेजना दी है। यह महसूस करते हुए कि रंगमंच से वर्तमान परिस्थितियों में जीविकोपार्जन असंभव है, रंगमंच के ये अव्यावसायिक लोग अकेले ही आधुनिक रंगमंच को अपने सीमित समय और वित्तीय साधनों से जीवित रखे हुए हैं।

१९५४ से आंध्र प्रदेश में रंगमंच-आंदोलन में एक नया दौर शुरू हुआ है। 'भारतीय-नाट्य संघ' के क्षेत्रीय केंद्र 'आंध्र प्रदेश नाट्य संघम्' ने व्यावसायिक और अव्यावसायिक रंगमंचीय गतिविधियों में सहयोग और सहायता का कार्यक्रम प्रदेश के समस्त बीसों जिलों में प्रारंभ किया। इस संघ ने सहयोग पर आधारित वार्षिक समारोहों और रंगमंच-सेवा-विभागों के संचालन से शुरुआत की। इसने रंगमंच-कला के सुव्यवस्थित प्रशिक्षण की आवश्यकता अनुभव की और 'नाट्य-विद्यालय' के ज़रिये 'नाट्य-मंचन' का पाठ्यक्रम प्रारंभ किया। इसने एक 'अन्वेषक रंगमंच' प्रारंभ कर उसमें सार्वभौमिक रुचि के भारतीय और विदेशी नाटकों को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित किया। यक्षगान और छाया-नाट्य भी 'अन्वेषक' की 'शोध और प्रदर्शन' इकाई के द्वारा पुनर्जीवित किये जा रहे हैं।

आंध्र प्रदेश की सरकार ने समय की माँग को पहचानते हुए १९५७ में 'राजकीय संगीत नाटक अकादमी' की स्थापना संगीत, नृत्य, फ़िल्म और नाटक के विकास के लिए की तथा एक रंगशाला 'रवींद्र भारती' का भी निर्माण किया जो सच्चे अर्थों में राज्य की समस्त सांस्कृतिक गतिविधियों का मंच बन गयी है। राज्य के सांस्कृतिक मंत्रालय ने भी अनेक उपयोगी कार्यक्रमों की योजना बनायी है, जिसमें प्रत्येक ज़िले के केंद्रीय स्थान में रंगशाला का निर्माण उल्लेखनीय है। 'राजकीय संगीत नाटक अकादमी' वार्षिक संगीत, नृत्य और नाटक-समारोहों का आयोजन करती है और यह 'नाट्यसंघम्' द्वारा संचालित हैदराबाद के विद्यालय के अतिरिक्त विजयवाड़ा और अनंतपुरम में दो और विद्यालय स्थापित कर रंगमंच-प्रशिक्षण को विकसित करने में संलग्न है। आंध्र विश्वविद्यालय भी अपने 'रंगमंच विभाग' के अंतर्गत नाटक-कला का पाठ्यक्रम संचालित कर रहा है।

—अनु० : गिरधर राठी,
७१, हीरक जयंती छात्रावास, इलाहाबाद।

पोणगि श्रीराम अप्पाराव

तेलुगु का नाट्य-साहित्य

हाल सातवाहन नरेश के द्वारा संकलित 'गाथासप्तशती' में उपलब्ध कतिपय गाथाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा से पहले ही आंध्र प्रदेश में नृत्य, संगीत-नाटकों का प्रचार प्रचूर मात्रा में था। महामुनि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में बताया गया है कि आंध्र 'दाक्षिणात्य प्रवृत्ति' के हैं, दाक्षिणात्य 'बहुनृत्त-गीत-वाद्य-ललिताभिनयप्रिय' हैं तथा मध्यमग्रामाश्रयी एकादश जातियों में 'आंध्र' भी एक है। इससे स्पष्ट होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक ही आंध्रों ने ललित कलाओं की साधना में उल्लेखनीय उन्नयन कर लिया था। यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि शास्त्रीय परंपरागत नृत्य के लिए आधारग्रंथ 'अभिनयदर्पण' की रचना आंध्र प्रदेश में ही हुई थी तथा उसके प्रणेता आंध्र ही थे। इसका प्रणयन तीसरी अथवा चौथी शती ईसवी में संपन्न हुआ होगा। 'अभिनयदर्पण' के रचना-काल से ले कर ग्यारहवीं शती ईसवी तक आंध्र प्रदेश में प्रचलित नृत्य-संगीत-नाट्य का इतिहास अंधकार में है। फिर भी अमरावती, नागार्जुन-कोंड आदि स्थानों में उपलब्ध शिल्पावशेषों से हम विश्वास कर सकते हैं कि इस कालावधि में भी आंध्र प्रदेश में ललित कलाओं का विकास होता रहा।

बारहवीं शती ईसवी के पालकुरिकि सोमनाथ की कृति 'पंडिताराध्य चरित्र' से यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि आंध्र प्रदेश में उन दिनों खंडितगति-नाटकों का अभिनय और सांग नाटकों का अभिनय खूब चलते थे। अल्पकालीन प्रसंगों का अभिनय जिसमें हो, वह 'खंडितगति-नाटकाभिनय' कहलाता है। 'सांगनाटकाभिनय' वह है जिसमें इतिवृत्त समग्र हो और सभी अंगों एवं उपांगों का समावेश हो। शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विजयनगर के महान सम्राट श्रीकृष्णदेवराय के युग में इस प्रकार के नाटकों का अभिनय करने वाले कतिपय परिवार रहते थे। परंतु उस युग की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। तेरहवीं शती ईसवी के आस-पास आंध्रों की विशिष्ट नाट्य-शैली 'कूचिपूडि नाट्य' का आविर्भाव हुआ है। पंद्रहवीं शती ईसवी के लगभग 'यक्षगान'[1] साहित्य की गेय विधा के रूप में आविर्भूत हो कर तथा कालांतर में अभिनेयता को अपना कर 'वीथिनाटक' के रूप में परिणत हुआ। तंजावूर नायक राजाओं के काल में (१७ वीं शती ई०) इन वीथिनाटकों को राजाओं का आदर मिला तथा इनका प्रवेश राजमहलों

---

१. डॉ० एस० वि० जोगाराव का शोध-प्रबंध 'यक्षगानवाङ्मयमु' आंध्र विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित हुआ है।

में हो पाया। पंडित इनका प्रणयन करने लगे तथा राजाओं के आश्रय में इनका अभिनय होने लगा। दक्षिण से आये हुए कूचिपूडि ब्राह्मण इन नाटकों की अभिनय-धुरी सम्हालते थे। इस प्रकार १७ वीं शती ईसवी इन यक्षगान नाटकों का स्वर्ण-युग रहा। यक्षगानों की अभिनय-परंपरा १९०० ई० तक चली। इस विधा के कई नाटक मिलते हैं। इनमें कुछ मुद्रित हुए हैं। संगीत-नृत्य-प्रधान ये सभी नाटक देशी परंपरा के हैं। अथवा यों कहिए कि संस्कृत के उपरूपक के अंतर्गत समाहित हो जाते हैं।

वैसे तो तेलुगु में ग्यारहवीं शती ईसवी से ही संस्कृत के पुराण, इतिहास, नाटक आदि का अनुवाद होने लगा फिर भी रूपकों का यथावत अनुवाद नहीं हुआ। 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' आदि संस्कृत नाटकों का अनुवाद काव्य विधा में हुआ था। पंद्रहवीं शती ई० में वल्लभराय ने संस्कृत वीथीरूपक 'प्रेमाभिरामम्' का तेलुगु अनुवाद 'क्रीडाभिराममु' नाम से किया था। परंतु इसमें श्रव्य काव्य के ही लक्षण अधिक पाये जाते हैं। कारण जो भी हो, १९ वीं शती ई० के मध्य काल तक अर्थात अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव पड़ने तक न संस्कृत रूपकों का यथातथात्मक अनुवाद ही हुआ, न संस्कृत काव्यशास्त्र में अभिवर्णित रूपकों की परिभाषा के अनुसार कोई मौलिक तेलुगु नाटक की ही रचना हो पायी। अन्य भारतीय भाषा-साहित्यों में भी यही बात पायी जाती है। प्रकारांतर से हम यह कह सकते हैं कि भारतीय भाषाओं में सन १८४० ई० के अनंतर ही संस्कृत नाटकानुवादों का अभिनय अथवा संस्कृत रूपक-परिभाषा के अनुसार लिखे हुए मौलिक नाटकों का अभिनय आरंभ हुआ था। इनके साथ-साथ पश्चिमी साहित्य में उपलब्ध नाटकों के अनुवाद अथवा उन लक्षणों से अनुप्राणित मौलिक नाटकों की सर्जना भी होने लगी।

यहाँ पर एक ऐतिहासिक सत्य पर ध्यान देना उचित होगा। भारतीय भाषाओं में नाटकों की सर्जना दो युगों में, दो शाखाओं में बँटी पड़ी है। उन-उन भाषा-साहित्यों के उद्गम-काल से ले कर सन १८४० ई० तक इस सर्जना का प्रथम युग माना जा सकता है। सन १८४० ई० से ले कर आधुनिक युग आरंभ होता है। प्रथम युग देशी नाटकों का है। दूसरा अर्थात आधुनिक युग, मार्ग-शैली नाटकों का युग है। इस युग पर युगपद्भाव से संस्कृत रूपकों तथा पश्चिमी नाटकों का प्रभाव पड़ा है। वास्तव में, आधुनिक नाटक-सर्जना के लिए प्रथम युग की रचनाएँ आधार-भूमि बननी चाहिए थीं। परंतु ऐसा नहीं हुआ था। इन दोनों युगों में कोई समन्वय-बिंदु नहीं है। यह एक अनोखी घटना है।

आंध्र प्रदेश में आधुनिक नाटकों के अभिनय के लिए सबसे पहले उत्साह दिखाने वाले पाठशालाओं के अध्यापक और कॉलेजों के प्राध्यापक थे। उनमें भी तेलुगु अध्यापकों का महत्वपूर्ण स्थान रहा। उन दिनों नाटक-संघों के संस्थापक भी वे ही थे, प्रणेता तथा अभिनेता भी वे ही होते थे। नाटक-प्रणेताओं के समक्ष संस्कृत के नाटक तथा पश्चिमी नाटक आदर्श रहे तो अभि-नेताओं के समक्ष अन्य प्रदेशों से आये नाटक-संघ एवं अभिनेतागण पथ-प्रदर्शक रहे। इस प्रकार आंध्र प्रदेश में आधुनिक नाटक का श्रीगणेश सन १८६० के लगभग तथा आधुनिक नाटकों के अभिनय का सूत्रपात सन १८८० के लगभग हुआ था।

तेलुगु में प्रथम आधुनिक नाटक के प्रणेता के रूप में श्री कोराड रामचंद्र शास्त्री विश्रुत हुए। इन्होंने सन १८६० के लगभग 'मंजरीमधुकरीयमु' नामक मौलिक एवं काल्पनिक नाटक की रचना की। सन १८७१ में श्री कोचकोंड वेंकट रत्नम् (मद्रास) ने 'नरकासुर विजयमु' नामक व्यायोग का आंध्रीकरण प्रस्तुत किया था। इन्होंने अपनी अनुवाद प्रक्रिया में मूलगत श्लोकों को तेलुगु छंदों में तथा मूलगत गद्य को तेलुगु गद्य में रूपांतरित करने की परिपाटी अपनायी। लगभग आज भी संस्कृत रूपकों का तेलुगु अनुवाद इसी प्रकार चल रहा है। संस्कृत के पारंगत विद्वान महामहोपाध्याय श्रीमान परवस्तु रंगाचार्य (विशाखपट्टणमु)—जिन्होंने संस्कृत में बृहद विज्ञान-सर्वस्व का निर्माण किया था—ने सर्वप्रथम महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्' का तेलुगु रूपकानुवाद सन १८७२ ई० के लगभग प्रस्तुत किया था। इनकी अनुवाद-प्रक्रिया की विशेषता यह थी कि जहाँ-जहाँ प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ, वहाँ-वहाँ अनुवाद में इन्होंने ठेठ तेलुगु का व्यवहार किया। सन १८७५ ई० में इनके शिष्य तथा बी० ए० उपाधिधारी श्री वाविलाल वासुदेव शास्त्री ने (राजमंद्री) शेक्सपियरकृत 'जूलियस सीज़र' का तेलुगु में रूपांतर कर के अंग्रेज़ी नाटकों के रूपांतरण-कार्य का श्रीगणेश किया। इसमें इन्होंने नाटक-पात्रों के नामों और अभिव्यक्त विचारों एवं रीति-रिवाजों पर यथासंभव आंध्रत्व की मुहर लगाने का प्रयास किया था।[1] यहीं नहीं, इन्होंने मौलिक सामाजिक नाटक का सर्वप्रथम प्रणयन किया था। उन दिनों ब्राह्मण समाज में उपस्थित अंतःकलहों की आलोचना 'नंदकराज्यमु' नामक इस नाटक में पायी जाती है। इसका प्रकाशन सन १८८० में हुआ। उपर्युक्त दोनों नाटक मुक्त छंद शैली में रचे गये। अतः शास्त्री जी को प्रथम पद्य-नाटककार होने का श्रेय भी मिलता है।

उपर्युक्त चारों नाटककार तेलुगु में नाटक-रचना के आरंभ-युग के थे। इनके नाटकों को अभिनीत होने का सौभाग्य नहीं मिला। सन १८७४ ई० के लगभग श्री गंटि बुच्चि शास्त्री के तत्वावधान में तथा तत्कालीन विजयनगर के महाराजा के संभरण-पोषण में 'जगन्नाथ विलासिनी समाजमु' नाम से एक नाटक-वृंद, मात्र संस्कृत रूपकों का अभिनय करता था। इस मंडली के सभी सदस्य संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। अतः इस मंडली का नाम 'संस्कृत अकादमी' भी पड़ा। आधुनिक आंध्र नाटक के मंचीय अभिनय का सूत्रपात करने वाले महानुभाव श्री वीरेशलिंगम् पंतुलु थे। पंतुलु न केवल नामी समाज-सुधारक थे अपितु आधुनिक आंध्र वाङ्मय की विविध विधाओं के आविष्कर्ता भी थे। निस्संदेह पंतुलु आधुनिक आंध्र-साहित्य की महान विभूति थे।

सन् १८८०-८१ में धारवाड़ की एक नाटक-मंडली ने आल्टेकर की 'हिंदू ड्रामेटिक कंपनी' हो सकती है—तेलुगु प्रदेश में भ्रमण कर के आधुनिक विन्यास में कई नाटकों का मंचीय अभिनय प्रस्तुत किया था। उस मंडली के अभिनय-प्रदर्शनों से प्रभावित हो कर वीरेशलिंगम् पंतुलु ने एक छात्र-नाटक-मंडली की स्थापना कर के उसके माध्यम से स्वरचित नाटकों को अभिनीत

---

१. 'तेलुगु साहित्यमु पै इंग्लीषु प्रभावमु' (तेलुगु साहित्य पर अंग्रेज़ी का प्रभाव) नामक विषय पर डॉ० कोत्तपल्लि वीरभद्र राव ने शोध-प्रबंध आंध्र विश्वविद्यालय को समर्पित किया था। यह सन १९६० ई० में प्रकाशित हुआ।

कराया।[1] धारवाड़-नाटक-मंडली के अभिनय-प्रदर्शनों से प्रभावित हो कर आंध्र प्रदेश के विविध नगरों में--गुंटूरु, मछलीबंदर, ओंगोल, काकिनाड, विशाखपट्टणमु इत्यादि---औत्साहिक नाटक-कंपनियों की स्थापना हो चली। इस प्रकार नाटककार तथा अभिनेतागण प्रदेश के चारों ओर यशस्वी होने लगे।

वीरेशलिंगम् के प्रथम मौलिक नाटक 'ब्राह्मविवाह', संस्कृत नाटक का अनुवाद 'रत्नावलि', अंग्रेज़ी नाटक 'कामेडी ऑफ़ एरर्स' का अनुवाद 'चमत्कार रत्नावलि', तीनों का अभिनय-प्रदर्शन प्रथमतः धारवाड़ नाटक-मंडली द्वारा निर्मित रंगमंच पर ही सन १८८० ई० में संपन्न हुआ था। पंतुलु ने 'चमत्कार रत्नावली' में पूर्णतया राष्ट्रीय वातावरण का समावेश कर के एक मौलिक कृति होने का भ्रम पैदा किया था। सन १८८१-८५ के मध्य काल में, कोंडुभोट्ल सुब्रह्मण्य शास्त्री--गुंटूरु, ने 'गयोपाख्यानमु,' 'हरिश्चंद्र', 'युगंधर विजयमु', 'द्रौपदी वस्त्राप-हरणमु' इत्यादि मौलिक नाटकों की सर्जना की। इनकी रचना-प्रक्रिया की विशेषता यह थी कि सभी नाटक मौलिक थे और साथ ही छंद-मुक्त थे, अर्थात केवल गद्यात्मक थे। इनके नाटक गुंटूरु में ही नहीं राजमंद्री आदि अन्य स्थानों में भी अभिनीत हुए। प्रत्याख्यान-भय के बिना यह कहा जा सकता है कि आंध्र प्रदेश के सामाजिकों को बहुत समय तक सन १८८३ ई० में वड्डादि सुब्बाराय कवि के द्वारा अनूदित 'वेणीसंहार नाटकमु' तथा वीरेशलिंगम् पंतुलु का 'अभिज्ञानशाकुंतलमु', इन दोनों नाटकों ने अभिभूत कर रखा था। वड्डादि सुब्बाराव कवि स्वयं नाटकों में अभिनय कर के अपने युधिष्ठिर पात्र धारण के लिए प्रसिद्ध हुए थे। नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि (बंदरु) सन १८८४-८६ के बीच 'रामदासु' आदि बत्तीस हिंदी नाटक तथा 'सत्य हरिश्चंद्र' आदि तेलुगु नाटक लिख कर, स्वयं इन नाटकों के अभिनय का प्रबंध करते थे। इनकी सर्जनात्मक प्रतिभा की प्रक्रियागत विशेषता यह थी कि इन्होंने पात्रानुकूल भाषा का व्यवहार किया था। इस प्रकार ये पात्रोचित भाषा-शैली को अपनाने वाले प्रथम नाटककार हुए। यही नहीं, मातृभाषा से भिन्न दूसरी भारतीय भाषाओं में इतनी बड़ी संख्या में नाटकों की सर्जना करने वाली विलक्षण प्रतिभा का श्रेय, मेरे विचार में, समूचे भारत में इन्हीं को मिलना चाहिए।[2]

सन १८८६ ई० के आस-पास तेलुगु नाटक-साहित्य का तीसरा चरण प्रारंभ होता है। इस उत्थान में तेलुगु नाटक-साहित्य का बहुमुखीन विकास हो चला। बल्लारि के निवासी धर्मवरम् रामकृष्णमाचार्युलु चित्रनलीयमु (१८८७), 'विषाद सारंगधर' (१८८९) इत्यादि

---

१. श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम् पंतुलु का 'स्वीयचरित्र' दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इनकी कृतियों का डॉ० अक्किराजु रमापति राव ने आलोचनात्मक अध्ययन कर के एक शोध-प्रबंध उस्मानिया विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया है।

२. डॉ० भीमसेन निर्मल ने नादेल्ल पुरुषोत्तम कविकृत हिंदी नाटकों का प्रामाणिक संपादन तथा आलोचनात्मक अध्ययन कर के, उस्मानिया विश्वविद्यालय की डॉक्टरेट उपाधि के लिए शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है।

तीस मौलिक नाटकों का प्रणयन कर के आंध्रों के द्वारा 'आंध्र-नाटक-पितामह' नामक उपाधि से व्यवहृत होने लगे। आचार्य जी न केवल नाटक-स्रष्टा थे, अपितु स्वयं कुशल नट और निदेशक भी थे। तेलुगु में प्रथम दुःखांतकी लिखने का श्रेय इन्हीं को है। इनकी सर्जनात्मक प्रक्रिया की विलक्षणताएँ एकाधिक थीं---अंकों में रंगों की परिकल्पना; संवादों को प्रबंध काव्य की सी शैली में लिखना तथा अधिक संख्या में छंदों और गीतों का समावेश करना आदि। आंध्र नाटकों में प्राप्त विलक्षणता है नाटकों में गेय गीतों के साथ-साथ छंदों का भी प्रयोग। इसी समय राजमंद्री में आंध्र के यशस्वी नाटककार चिलकमर्ति लक्ष्मीनरसिंहम् पंतुलु ने सन १८८९ से ले कर 'गयोपाख्यानमु' आदि अनेक नाटक लिख कर आंध्र नाट्य-साहित्य का मुख उज्वल किया था। इनके 'गयोपाख्यानमु' नाटक ने तेलुगु 'सामाजिकों' को बहुत समय तक मंत्रमुग्ध कर रखा था। चिलकमर्ति जी के 'गयोख्यानमु' का महत्वपूर्ण स्थान इस तथ्य से भली भाँति सिद्ध होता है कि उन दिनों इस नाटक की प्रतियाँ एक लाख से अधिक संख्या में खप गयी थीं। कंदुकूरि और चिलकमर्ति दोनों ने कई प्रहसन भी लिखे थे। उधर नेल्लूरु में तेलुगु के महान पंडित-कवि स्वनामधन्य श्री वेदम् वेंकटराय शास्त्री ने 'नागानंदमु' (१८९१) आदि नाटकों का अनुवाद करने के साथ कई मौलिक नाटकों की सर्जना भी की।

सन १८९७ ई० का वर्ष तेलुगु नाट्य-साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। उसी वर्ष दो महान नाटक अपनी-अपनी विलक्षणतायें लिये हुए, तेलुगु रंगमंच पर अभिनयार्थ अवतरित हुए। न केवल नाटक ही महान थे वरन उनके प्रणेता, साहित्य के प्रत्येक मानदंड से, महान थे। वास्तव में वे दोनों तेलुगु जाति और साहित्य के युगपुरुषों में से थे। वे थे, स्वनामधन्य वेदम् वेंकटराय शास्त्री तथा श्री गुरुजाड अप्पाराव। वेंकटराय शास्त्री जी का 'प्रतापरुद्रीय नाटक' (ऐतिहासिक नाटक) तथा अप्पाराव जी का 'कन्याशुल्क' (सामाजिक नाटक) आज भी तेलुगु जनता में प्रसिद्ध हैं और एक प्रकार से क्रमशः अनंतर काल के तेलुगु ऐतिहासिक नाटकों तथा सामाजिक नाटकों के लिए पथप्रदर्शक रहे। 'कन्याशुल्क' के रचनातंत्र की एक विशेषता यह है कि सारा नाटक पंडितों की पारंपरिक धारणा के विरुद्ध व्यावहारिक शैली अथवा बोलचाल की तेलुगु में लिखा गया था, जो उन दिनों एक क्रांतिकारी साहित्यिक घटना थी। कोलाचलम् श्रीनिवास राव जी भी नाटककार के रूप में बहुत ही प्रसिद्ध हुए। इसी समय के अन्य यशस्वी नाटककार पानुगंटि लक्ष्मी नरसिंहम्[1] थे। श्रीनिवास राव तथा बल्लारि के कृष्णमाचार्य जी में नाटक-प्रणयन में होड़ सी लगी हुई थी। श्रीनवास राव २८ ऐतिहासिक नाटक रच कर 'ऐतिहासिक नाटक पितामह' कहलाये।[2] श्री पानुगंटि ने शेक्सपियर की रचना-प्रक्रिया से प्रभावित हो कर तीस नाटक लिखे। कोलाचलम् श्रीनिवास राव का 'रामराजु' तथा पानुगंटि

---

१. श्री पानुगंटि लक्ष्मी नरसिंह राव जी के नाट्य-साहित्य पर गवेषणा कर के डॉ० मुदिगौंड वीरभद्र शास्त्री ने एक शोध-प्रबंध उस्मानिया विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया है।

२. श्री कोलाचलम् श्रीनिवास राव की बृहद तथा स्मरणीय कृति 'द ड्रामेटिक हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड' सन १९०९ में अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई। पूर्व में यह अपने ढंग का पहला प्रयास है।

के 'राधाकृष्ण', 'कंठाभरण', 'विप्रनारायण' आदि नाटक अद्यावधि प्रसिद्ध हैं। तेलुगु में प्रथमतः सारी रामायण की कथा का नाटकीकरण करने वाले नाटककार श्री पानुगंटि ही थे। लगभग इसी समय आचंट वेंकट राय सांख्यान शर्मा, मारेपल्लि रामचंद्र कवि, सेट्टि लक्ष्मी नरसिंहम् आदि उल्लेखनीय नाटककार तेलुगु में शोभित हुए।

सन १८९७ ई० के आसपास वनारस गोविंद राव के तत्वावधान में 'सुरभि नाटक समाज' की स्थापना हुई थी। इस नाट्य-मंडली की कई विशेषताएँ थीं। इसके सभी अभिनेता एक ही परिवार के सदस्य थे। 'सुरभि नाटक समाज' तेलुगु प्रदेश की प्रथम नाट्य-शास्त्र-लक्षण-शिक्षित, पेशेवर मंडली थी। इस मंडली की कई उपशाखाएँ कालांतर में हुई, जिनके सदस्यों ने उस युग की उदीयमान प्रतिभाओं के द्वारा नये-नये नाटकों का प्रणयन करा कर नाट्य-कला की श्रीवृद्धि में योगदान दिया था।

सन १९०१ ई० से तेलुगु नाट्य-साहित्य का चतुर्थ चरण समझा जा सकता है। इस चरण में कई नवीन प्रयोगों की उद्‌भावनाएँ हुईं। जनता में नाटकों के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होने के कारण असंख्यक नाटक-मंडलियाँ आंध्र प्रदेश भर में स्थापित हो कर नाट्य-कला के विकास में योगदान देने लगीं। मंच पर नवीन प्रयोगों में इस समय, संगीत तथा रंगमंचीय अलंकरण के लिए महत्ता बढ़ती गयी। हर प्रसिद्ध अभिनेता नाट्याभिनय को एक आर्थिक व्यवसाय के रूप में ही ग्रहण करने लगा और कई तो इसी के आधार पर अपनी जीविका चलाने लगे। जहाँ तक नाटकों के रचना-तंत्र का प्रश्न है, इस समय चार-पाँच फक्किकाओं में नाट्य-साहित्य का निर्माण होने लगा। ऐतिहासिक नाटकों की बाढ़ सी आयी। इच्छापुरपु यज्ञनारायण का 'रसपुत्रविजय', उमर आलीशा का 'चंद्रगुप्तुडु', कविराजु श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री का 'बोब्बिलि युद्ध नाटकमु', श्री धर्मवरम् गोपालाचार्युलु का 'रामदासु' इत्यादि इन ऐतिहासिक नाटकों में उल्लेखनीय हैं। इसी समय श्रीपाद कामेश्वर राव ने बंगला आदि भाषाओं से कई ऐतिहासिक नाटकों का तेलुगु रूपांतरण प्रस्तुत किया था। इसी समय दूसरी ओर अंग्रेज़ी से शेक्सपियर, मोलियर आदि पाश्चात्य नाटककारों के नाटकों का रूपांतरण हुआ। परंतु ये नाटक रंगमंच पर लोकप्रिय नहीं हो सके।

आश्चर्यकारी विषय है कि इस उत्थान में जितनी पौराणिक कथाओं पर आधारित मौलिक नाटकों की सर्जना हुई, उतनी और कभी नहीं हुई। प्रसिद्ध कवियुग्म, तिरुपति वेंकट कवुलु आदि कतिपय नाटककार अपनी रचना में साहित्यिक गरिमा एवं अभिनेयता ला सके, तो अन्य नाटककारों ने केवल जनता की रुचि को ही दृष्टि में रख कर संगीतप्रधान नाटकों की रचना की। अक्सर नटानुकूल नाटक भी रचे जाने लगे। अर्थात नाटककार नाट्य-मंडलियों की रुचि के अनुसार अपनी लेखनी चलाने लगे व अपने रचना-स्वातंत्र्य को खो बैठे। इस प्रकार के रचयिताओं में श्रीरामुल सच्चिदानंद शास्त्री, मल्लादि अच्युत राम शास्त्री, पंडित के० सुब्रह्मण्य शास्त्री, द्रोणंराजु सीतारामा राव, अयिनापुरपु सुंदर रामय्या, चक्रावधानुल माणिक्य शर्मा, विष्णुभट्ल सुब्रह्मण्येश्वरुडु, काशीनाथुनि वीरमल्लयाराध्युडु, सोमराजु रामानुजरावु आदि गणनीय हैं। संगीत इतना प्रधान हो गया कि नाटककार गेय पद लिखने में असमर्थ हो तो मंडलियाँ

अन्य लेखकों के द्वारा लिखवाती थीं। इस प्रकार के संगीत-पदों को लिखने वालों में पापट्ल कांतय्य मुख्य हैं। रंगालंकरण-कला में एस० राम निपुण थे।

इस उत्थान के प्रसिद्ध नाटकों में तिरुपति वेंकट कवुलु का 'पांडवोद्योग विजयमुलु' (१९११ ई०), बलिजेपल्लि लक्ष्मीकांतम् का 'सत्य हरिश्चंद्रीयम्', श्रीरामुल सच्चिदानंद शास्त्री का 'सावित्री' (१९१५) आदि आज भी रंगमंच पर अभिनय-सफलता लाने वाले नाटक हैं। सामाजिक नाटकों के लिए 'कन्याशुल्क' का द्वितीय संस्करण (१९०९) एक आदर्श रहा तो प्रहसन-रचना के लिए पानुगंटि का 'कंठाभरण' मार्गदर्शी रहा। इस युग की विलक्षण प्रवृत्ति थी कि कतिपय रईस और राजा भी नाटक-प्रणयन-लोभ को संवरण नहीं कर सके। इनमें मेका वेंकटाद्रयप्पा राव, विक्रम देव वर्मा, मंत्रिप्रगड भुजंग राव उल्लेखनीय हैं। नाटकों का प्रणयन एक उद्यम जैसा चलने लगा। नगर-नगर में नाटक-मंडलियाँ और मंडली के पास अपने-अपने नाटककार होने की वजह से कई पुनरुक्ति-कल्प नाटक भी होने लगे। सन १९०९ ई० में कोलाचलम् श्रीनिवास राव ने 'विश्व के नाट्य-साहित्य का इतिहास' नाम से एक बृहद ग्रंथ की रचना की। इस विषय पर यह रचना सभी भारतीय भाषाओं की दृष्टि से भी प्रथम प्रयास है। यह सचमुच बड़ा ही स्तुत्य प्रयत्न है।

सन १९२० ई० तक देश में राजनीतिक आंदोलन ज़ोर पर था। प्रथम विश्व-संग्राम के अनंतर भारत में निराशावाद बढ़ता गया। सन १९०७ ई० में ही कांग्रेस ने स्वराज्य का प्रस्ताव अपने कलकत्ते के अधिवेशन में पास किया था तथा १९०६ ई० में भाषावार प्रदेशों का सिद्धांत भी पास हुआ था।

यहाँ से तेलुगु नाटक-साहित्य में पाँचवाँ उत्थान आरंभ होता है। परंपरा-भुक्त रचना-प्रक्रिया से ऊब जाने वाले कुछ लेखक नये ढंग से नाटक लिखने लगे। ये नूतन प्रयोग मुख्यतः तीन प्रकार के थे : १. भाव-वैविध्य से संबद्ध, २. रचना-वैविध्य से संबद्ध तथा ३. अभिनय-वैविध्य से संबद्ध। इनमें कई प्रयोग समकालीन भी थे।

राष्ट्रीय आंदोलन को ध्यान में रख कर नाटक लिखने वालों में दामराजु पुंडरीकाक्षुडु प्रधान थे। इनके 'गांधीविजय', 'पांचालपराभव' आदि नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुए। इससे पहले तो राष्ट्र-प्रेम का प्रबोध नाटककार भंग्यंतर से ही करते थे। सुधारवादी नाटककारों में काल्लकूरि नारायण राव, कोपवल्लि वेंकट रमणा राव आदि मुख्य थे। नारायण राव के 'चिंतामणि' (१९२१), 'वरविक्रयमु' नाटक सभी नाटक-मंडलियों के द्वारा अभिनीत हुए। कालांतर में लिखे गये अनेकानेक सामाजिक नाटकों के लिए इनसे प्रेरणा मिली। अलग प्रदेश के लिए आंध्र आंदोलन करते थे। इस प्रकार प्रादेशिक भावना पर आधारित नाटकों में ग्रंथि सुब्बराय गुप्त का 'आंध्र माता' (१९२१), द्रोणंराजु सीतारामाराव का 'आंध्रपताकमु' (१९२१) आरंभ युग के थे। गुल्लपल्लि नारायणमूर्ति का 'आंध्र ज्योति,' वेदांत कवि का 'तेलुगु तल्लि', नंडूरि बंगारय्या का 'आंध्र तेजमु' आदि परवर्ती रचनाएँ थीं। अस्पृश्यता की समस्या को ले कर रचे गये नाटकों में गोपालाचार्युलु का 'अस्पृश्य विजयमु', श्रीकृष्ण कौण्डिन्य का 'नंदनार' आदि नाटक प्रसिद्ध हुए। विवाह-समस्या पर ताडिपत्रि राघव का 'सरि-

पडनि संगतुलु' उल्लेखनीय है। रंगमंच की समस्याओं पर वि० टि० राघवाचार्युलु का 'संगीत इंद्रसभा', नंडूरि बंगारय्य का 'राज्यलक्ष्मी' सफल नाटक माने जा सकते हैं। मनोविज्ञान पर आधारित नाटकों में काल्लकूरि गोपाल राव का 'वाल्मीकि नाटक' और वेलूरि चंद्रशेखरम्कृत 'कांचनमाला' उत्तम रचनाएँ हैं। परवर्ती काल के 'बुच्चि बाबू' का 'आत्मवंचना' नाटक भी इसी वर्ग का है।

छायावादी कविता से प्रभावित कतिपय लेखकों ने पौराणिक कथाओं को इतिवृत्त के रूप में ग्रहण कर कें नवीन भावात्मक शैली के आधार पर साहित्यिक रूपकों का प्रणयन किया था। दुव्वूरि रामभिरेड्डि की 'कुंभाराणा' (१९२१), विश्वनाथ सत्यनारायण की 'नर्तनशाला' और वेनुराजु' (१९२६), चिंता दीक्षितुलु की 'शबरि' अत्यंत उल्लेखनीय नाट्य-कृतियाँ हैं। विश्वनाथ सत्यनारायण कविसम्राट् हैं। आधुनिक तेलुगु साहित्य के मेरु-पर्वत-शिखर-सदृश हैं। 'शबरि' में काव्यात्मक गद्य प्रयुक्त हुआ था। अवशिष्ट तीनों नाटक विषाद-नाटक हैं। इसी समय और परंपरा के अन्य नाटक हैं : श्रीपाद सुब्रह्मण्य शास्त्री के 'राजराजु' तथा 'निगलबंधनमु', वडूभवल रंगाचार्युलु का 'हालिकुडु' नाटक, नोरि नरसिंह शास्त्री का 'सोमनाथ विजयमु' इत्यादि।

उत्तम नाटक वही कहा जा सकता है जिसमें साहित्यिक गरिमा के साथ-साथ रंगमंचीय अभिनेयता भी सम्मिलित हो। ये दोनों गुण नाटक की दो आँखों जैसे हैं।

मंच पर संगीत का प्राधान्य हटाते हुए कोप्परपु सुब्बाराव, पिंगलि नागेंद्र राव, गुंडिमेड वेंकट सुब्बाराव आदि ने कई नाटक लिखे। इनमें सुब्बाराव का 'रोषनार', नागेंद्रराव के 'जेबुन्निसा', 'विंध्यराणि', 'ना राजु' आदि मुख्य हैं। इन नाटकों में कोई-कोई नाटक तत्कालीन शासकों द्वारा अभिनय-निषिद्ध घोषित किये गये थे। कोप्परपु सुब्बाराव मात्र व्यक्ति नहीं थे, वे एक संस्था थे। तेलुगु 'लिटिल थिएटर' नामक नाट्य उद्यम चलाने वाले नेता थे।

इस युग में अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रभाव से सन १९०० से भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के विरुद्ध कुछ लेखकों के मन में विद्रोह पैदा हुआ था। इस विद्रोही भावना के उन्नायक त्रिपुरनेनि रामस्वामि चौधरी थे। इनके नाटक 'कुरुक्षेत्र संग्राममु' (१९११), शंबुकवध' (१९२०), 'खूनी' (१९३५) तीनों इसी विद्रोही भावना से ओतप्रोत हैं। 'खूनी' नाटक विश्वनाथ सत्यनारायण के 'वेनुराजु' नाटक के निरास में लिखा गया। सामिनेनि मुद्दुकृष्ण ने अपने 'अशोकम' नाटक में राम, रावण तथा सीता के चरित्र-चित्रण में आधुनिक यौन-विज्ञान को प्रविष्ट किया है। आमंचलम् गोपाल राव 'हिरण्यकशिपु' नाटक में नास्तिकता का उपदेश देने लगे। इन तीनों ने रूढ़ि एवं परंपरा के विरोध में नवीन भावधारा को बहाने के लिए परंपरागत पौराणिक कथा-वस्तुओं को अपना कर पात्रों का चरित्र-विश्लेषण नये ढंग से किया है और श्री चलम[1] ने तो परंपरा के विरुद्ध अपनी विचारधारा प्रवाहित करने के लिए पौराणिक कथाओं को

---

१. श्री चलम् आजकल रमणाश्रम में रहते हैं और उनकी विचारधारा में आमूल परिवर्तन हो चला है।

न ले कर समसामयिक सामाजिक जीवन को भी लिया था। समाज में स्त्री-पुरुषों के मध्य उपस्थित विषमताओं को तथा निरर्थक सामाजिक बंधनों की इन्होंने कटु आलोचना की थी। इनके नाटकों में 'चित्रांगि', 'शशांक', 'पुरुरवा' आदि बहुत ही प्रसिद्ध हैं। सबमें 'पुरुरवा' का रचना-शिल्प प्रशसनीय है। इनके विचारों से कोई सहमत हो या न हो, परंतु इनकी गद्य-शैली से मंत्रमुग्ध हुए बिना कोई पाठक नहीं रह सकता। शैली प्राण-शक्ति से संचित है। जहाँ इतनी बड़ी मात्रा में नाट्य-साहित्य का सर्जन हो, वहाँ नाट्य-समालोचना का उपलब्ध होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। इन नाट्य-समालोचकों में कामेश्वरराव, तणिकेल्ल वीर भद्रुडु, कोलाचलम् श्रीनिवासराव, पुराणम् सूरि शास्त्री, पसुमति यज्ञनारायण शास्त्री आदि उल्लेखनीय हैं। आधुनिक समालोचकों में श्रीनिवास चक्रवर्ती और भिविकलिनेनि राधाकृष्ण मूर्ति का स्थान ऊँचा है। नाट्य-समालोचना में सूरि शास्त्रीकृत 'नाट्योंबुजमु', 'नाट्याशोकमु', 'नाट्योत्पलमु' तथा यज्ञनारायण शास्त्री की 'आंध्र नट प्रकाशिका' सफल कृतियाँ हैं। सन १९२४ ई० में बि० टि० राघवाचार्युलु ने 'भरतमुनि नाट्य बृंदमु' नामक एक नाट्य-पाठशाला का संचालन किया था। अल्पकालीन संस्था होते हुए भी नटों के दृष्टिकोण में यह कुछ रुचि-परिष्कार तथा परिवर्तन लायी।

सन १९२९ ई० के आसपास व्यवसाय के रूप में चलने वाली सब नाटक-मंडलियाँ मुमूर्षु हो गयीं। तदनंतर कंट्राक्ट नाटकों का युग आरंभ हुआ था। अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त अभिनेता राघव (बल्लारि) ने विलायत से लौट कर अभिनय-कला में नयी उद्भावनाओं का आविष्कार किया था। आंध्र नाटक-कला के पुनरुत्थान के लिए सन १९२९ ई० में 'आंध्र नाटक कला परिषद' की स्थापना की गयी।[1] उस समय से तेलुगु के नाट्य-साहित्य के इतिहास में छठा चरण आरंभ होता है। इस चरण में अधिकाधिक एकांकी नाटक रचे गये। तेलुगु में इनको 'नाटिका' नाम से भी व्यवहृत करते हैं।

मोरिस मेटरलिंक का प्रभाव साहित्यिक रूपक लिखने वाले कतिपय लेखकों पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। पौराणिक नाटक ही नहीं अपितु 'दोंगाटकमु', 'डोंक लो परावु', 'वैवाहिकम्', 'संसारम्', 'राजी', 'नेपथ्यम्' 'वारसुलु' आदि कई हास्य-नाटिकाओं का प्रणयन कर के उनको कलात्मक बना सके थे। भामिडिपाटि कामेश्वर राव ने मोलियर के नाटकों के अनुवादों के साथ-साथ कई मौलिक नाटकों का भी प्रणयन किया था। इब्सन से प्रभावित हो कर तेलुगु में लिखने वाले सफल एकांकीकार पि० वि० राजमन्नारु हुए। इनकी कृति 'तप्पेवरिदि' (१९३०) के द्वारा तेलुगु नाटिका का सूत्रपात हुआ था। अनंतर सामाजिक तथा समस्यामूलक कई नाटकों

---

१. परिषद् के तत्वावधान में सन १९३४ ई० में 'नाट्य-कला' नामक त्रैमासिकी का प्रकाशन आरंभ हुआ था। इसके संपादक नीलमुराजु वेंकट शेषय्या रहे। तदनंतर सन १९५७ ई० में यह श्रीनिवास चक्रवर्ती द्वारा पुनः प्रकाशित होने लगा। सन १९६३ ई० से पसर्ल सूर्यचंद्र राव के संपादकत्व में 'आंध्र प्रदेश संगीत नाटक अकादमी' के तत्वावधान में इसका प्रकाशन फिर से शुरू हुआ है।

की सर्जना इन्होंने की थी। शिवशंकर शास्त्री को पद्यनाटिका के लिए तथा बालांतरपु रजनीकांत राव को गेयनाटिका के लिए आद्य प्रवर्तकों के रूप में हम ग्रहण कर सकते हैं। इन दोनों की क्रमशः दो नाटिकाएँ १. पद्मावती चरण चारण चक्रवर्ति' तथा २. 'चंडीदासु' इन दो विधाओं के उत्तम उदाहरण हैं। तेलुगु में भुडु कृष्ण ने रेडियो रूपकों का श्रीगणेश किया था। इनकी 'अनारकली' (सन १९३८ ई०) प्रथम प्रसारित तेलुगु रेडियो रूपक है। परवर्ती काल में इस विधा के द्वारा कई उत्तम रचनाएँ प्राप्त हुईं और होती जा रही हैं। छायावादी कवि देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री ने तो रेडियो रूपक द्वारा ही इस क्षेत्र में पदार्पण किया है।

तेलुगु में उत्तम नाटिकाएँ बहुत हैं। अब्बूरि रामकृष्ण राव जी की 'नदीसुंदरि' अपनी रूमानी कल्पना के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के कतिपय प्रसिद्ध नाटिकाकारों में से हैं: मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री (श्रीक्कुबडि), चतम् (भानुमति), जि० वि० कृष्णराव (भिक्षापात्र), बुच्चि बाबु (तिष्यरक्षित), डॉ० चिलुकूरि नारायण राव (अश्वत्थामा), गोरा शास्त्री (दूरतीरालु), पालगुम्मि पद्मराजु (खूनी), श्रीवात्सव, मल्लादि वेंकट कृष्ण शर्मा (वारसत्वम्), चिंता दीक्षितुलु (शर्मिष्ठ), मल्लवरपु विश्वेश्वर राव (विल्हणीयमु), मल्लादि अवधानि (खड्ग तिक्कन) आदि-आदि।

हम सन १९४३-४४ ई० को तेलुगु की नाट्य-कला के विकास में नया मोड़ लाने वाला वर्ष मानते हैं। एक ओर आंध्र विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार के० वि० गोपाल स्वामी के तत्वाधान में कॉलेजों के बीच नाट्य-अभिनय-स्पर्धाएँ आरंभ हुईं तो दूसरी ओर आंध्र प्रदेश की ग्राम-सीमाओं में भी नाटकीय चेतना लाने वाली प्रजा-नाट्य-मंडली को नहीं भुलाया जा सकता, जिसके अथक परिश्रम के फलस्वरूप आंध्र जनता में राजनीतिक एवं सामाजिक नवजागरण हो पाया। इस मंडली के नेता जि० राजा राव हैं। यही नहीं, मेका रंगय्यप्पा राव के अध्यक्ष-काल में 'आंध्रनाटक-कला-परिषद्' की ओर से भी नाटक-अभिनय-प्रतियोगिताएँ नगर-नगर में चलायी गयीं। इन प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले वे नवयुवक कलाकार हैं, जो नाटकाभिनय केवल कला-सेवा की दृष्टि से करते हैं। व्यवसायी अभिनेता इन प्रतियोगिताओं में शायद ही सम्मिलित होते थे। इस प्रकार ये तीनों उद्यम नये नाटककारों के आगमन के लिए, नये नाटकों के अवतरण के लिए तथा रंगमचीय नित्य नूतन प्रयोगों के लिए सहायक हुए।

इस युग के नाटककार सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं के आधार पर भी नाटक लिखने लगे। आर्थिक विषमताएँ तथा समाज के विभिन्न वर्गों में प्राप्त असमानताएँ नाटक की वस्तु बन गयीं। इन लेखकों का विश्वास है कि जब तक शोषित जनता को जीवन की सामान्य सुविधाएँ उपलब्ध न हों, तब तक सामाजिक विषमताएँ दूर नहीं हो सकतीं। ये यथार्थवादी लेखक असमानता का दो प्रकार से वर्णन करते हैं: १. मध्य वर्ग का यातनामय जीवन, जो सीमित आय के कारण नगरों में कुचला जाता है तथा २. ग्रामों में किसान वर्ग का तथा मजदूर वर्ग के जीवन का यथातथात्मक चित्रण।

यथार्थवादी लेखकों में प्राप्त सामान्य लक्षणों की पहचान हम इनकी कृतियों के विश्लेषण से इस प्रकार कर सकते हैं: १. परिस्थितियों का यथातथात्मक चित्रण, अर्थात जीवन के संघर्ष

पक्ष को दिखा कर समाधान का कोई संकेत न देना। २. प्रसगों तथा संवादो को अतिनाटकीय (मेलोड्रामेटिक) बनाना। इनमें समाज की आलोचना पात्रों के भाषणों के द्वारा की जाती है। कुछ लेखक हत्याओं, चेतावनी, धमकियों आदि का समावेश करते हैं। एक तनावपूर्ण वातावरण का सर्जन करना इनका ध्येय है। ३. पद्य या संगीत का समावेश न कर के केवल गद्य में नाटक की रचना करना। कहीं-कहीं अत्यंत अल्प मात्रा में मनोरंजन के लिए अथवा पात्रों के मानसिक वातावरण को प्रतिबिंबित करने के लिए, गीतों का समावेश करना। ४. स्त्री पात्रों का विरल प्रयोग अथवा उनका नितांत अभाव। ५. एक ही 'सेट' पर पूरे नाटक का अभिनय कराना। ६. केवल समकालीन समस्याओं को ले कर लिखना। ७. परंपरागत रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज़ उठाना। ८. नाटक में अंतर्नाटक को आयोजित करना। ९. सामाजिकों को नाटक के अभिनय में सम्मिलित करना। १०. केवल मूक रंगों का आविष्कार आदि-आदि इन नये प्रयोगों के अंतर्गत आते हैं।

'आंध्र नाटक-कला परिषद' की नाटक-प्रतियोगिताओं में सर्वप्रथम पुरस्कार कोंडमुदि गोपाल राय शर्मा को अपनी कृति 'एदुरीत' पर मिला। इनके पश्चात उल्लेखनीय नाटककार आचार्य आत्रेय हैं। इनको एक प्रकार से यथार्थवादी नाटककारों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। इनका 'एन० जि० ओ०' आंध्र प्रदेश में सर्वत्र अभिनीत हो कर लोकप्रिय बना। आत्रेय को शोषित जनता के पक्ष में आवाज़ उठाने वाला विप्लववीर माना जा सकता है। इनकी रचनाएँ बीस के लगभग हैं। विशेषता यह है कि ये सभी अभिनेय हैं। आत्रेय स्कूल के अन्य लेखकों में अनिसेट्टि सुब्बाराव, (भावूर, तोरनि कोरिकलु आदि), पिनिसेट्टि श्रीराम मूर्ति (पेल्लेटूरि पडुचु, अन्नाचेल्लेलु), बेल्लभ कोंड रामदासु (आकाश रामन्न), डि० वि० नरसराजु (वीलुनामा), अवसराल सूर्याराव (पंजरमु) आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ० कोरपाटि गंगाधर राव तीस नाटकों के रचयिता हैं। इसी प्रकार चिल्लर भावनारायण (गुडिगंटलु), अंगर सूर्याराव आदि कलाकार भी काफ़ी यश प्राप्त कर चुके हैं। सोमंचि यज्ञन्न शास्त्री का 'पेद्य मनुष्युलु' हास्यसंवलित नाटिका है।

जानपद दृष्टिकोण के साथ यथार्थवाद को अपनाने वालों में सुंकर सत्यनारायण, वासिरेड्डि भास्कर राव मुख्यतः स्मरणीय हैं। 'प्रजा नाट्य-मंडली' ने इनके 'मुंढडुग', 'माभूमि' आदि नाटकों के अभिनय के द्वारा पूरे प्रदेश में एक नवीन चेतना पैदा की। इस वर्ग के अन्य रचयिता हैं के० एल० नरसिंहाराव ('आदर्शलोकालु', 'क्रीनीडलु'), बोयि भीमन्न ('पालेरु', 'कूलिराजु'), कोडालि गोपाल राव 'पेदरेतु', 'कूली' आदि।

इसी युग में कुछ उत्तम ऐतिहासिक पौराणिक नाटक प्रकाशित हुए। नंडूरि वेंकट कृष्णमाचार्युलु का 'धर्मचक्रमु', दुभा कृष्णमूर्ति का 'विषाद', 'तिम्मरुसु', विजमूरि लक्ष्मीनरसिंह राव जी का 'नरसन्न भट्ट', गोपाल राय शर्मा का 'गौतम बुद्ध', आत्रेय जी का 'अशोक सम्राट' श्रीरामुल सच्चिदानंद शास्त्री का 'दिवोदासु' वाविलाल सोमयाजुलु का 'नायकुरालु' आदि सफल नाटक हैं। अनूदित नाटकों की संख्या भी अधिक है। कई संस्कृत नाटक, अंग्रेजी नाटक तथा अन्य भारतीय भाषा नाटक प्रचुर मात्रा में अनूदित हुए। भास नाटकों के अनुवादकों में चिलक-

मूर्ति, वेटूरि प्रभाकर शास्त्री, दीपाल पिच्चय शास्त्री, भामडिपाटि कामेश्वर राव परिगणनीय हैं। कामेश्वर राव के अनुवादों की विशेषता यह है कि भास नाटकों के अनुवादों में भी इन्होंने आंध्रत्व की मुहर लगायी, अर्थात आंध्रीय वातावरण को समाविष्ट किया। रवींद्रनाथ ठाकुर के नाटकों का अनुवाद डॉ० बेजवाड़ा गोपाल रेड्डी ने किया। इनकी अनुवाद-कला की विशेषता यह है कि जहाँ तक हो सके भाषा-शैली में रवींद्र की उक्ति-भंगिमा को ज्यों का त्यों समाविष्ट करने का प्रयत्न हो। राजनीतिक चेतना को नाटकों में आयात करने वाले लेखकों में यड्लपल्लि कोटय्या (कामरेड वेंगम्मा), शांति-प्रचार के लिए नाटक लिखने वालों में आत्रेय (विश्व-शांति), अनिसेट्टि (शांति मूकनाटिका), जासूसी नाटक लिखने वालों में प्रख्य श्रीराम मूर्ति (फणि), पश्चिम के नाटकों का अनुवाद करने वालों में श्रीनिवास चक्रवर्ती मुख्य हैं।[1]

नाटिकाओं में ग्रामीण वातावरण का समावेश करने वाले नार्ल वेंकटेश्वर राव हैं। इनकी नाटिकाओं का संकलन 'कोत्रेगड्ड' उपादेय है।[2]

बाल नाटककारों में करुणश्री (करुणामयि), नार्ल चिरंजीवि (रेडियो अन्नय्य, रेडियो अक्कय्य) चेरुकुमिल्लि भास्कर राव आदि कलाकार प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। श्रव्यनाटिकाओं के रचयिता प्रचुर मात्रा में हैं। इनमें शिवरामा राव (इन्होंने लगभग एक सहस्र रेडियो रूपक लिखे), जनमंचि रामकृष्ण, वि० वि० नरसिंहराव, कोडवटिगंटि कुटुंबराव, गोरा शास्त्री, आरुद्र, नागभूषण[3] प्रमुख हैं। गेय नाटिकाकारों में आज देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री, डॉ० सि० नारायण रेड्डी, रजनीकांत राव आदि प्रशंसनीय कलाकार हैं। अद्यतन गेय नाटिकाओं में चेरुकुपल्लि जमदग्नि शर्माकृत 'महोदयम्' को शीर्षस्थान देना चाहिए।

आज के युवक कलाकारों में मंथा वेंकटरमण, कोंडमुदि श्रीरामचंद्रमूर्ति, डॉ० रमाकांत, कंचि वासुदेव राव, भामिडिपाटि राधाकृष्ण, पोतुकूचि सांबशिव राव, गोल्लपूडि मारुति राव, काव्यश्री, हितश्री, रागमूर्ति आदि उदीयमान हैं। डॉ० इलपावुलूरि पांडुरंग राव ने आंध्र हिंदी रूपक नाम से अपनी शोधकृति नागपुर विश्वविद्यालय को प्रस्तुत की थी। इसमें राव जी ने हिंदी और तेलुगु के नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

---

१. श्रीनिवास चक्रवर्ती ने नाट्य-साहित्य से संबद्ध कई आलोचनात्मक कृतियों का प्रणयन किया है। इनकी संकलित सूचनिका 'अभिनेय तेलुगु नाटकों की सूची' भारतीय-नाट्य-संघ की ओर से प्रकाशित 'बिब्लियोग्रफ़ी ऑफ़ स्टेजेबिल ड्रामाज़' में प्रकाशित है।

२. क० 'कोत्तगडु' का हिंदी अनुवाद 'नयी धरती' नाम से भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है।—अनुवादक।

३. इन पंक्तियों के लेखक द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबंध 'तेलुगु नाटक का विकास' के आधार पर अंग्रेजी में श्रीयुत नागभूषण द्वारा प्रणीत 'तेलुगु नाट्य-साहित्य का इतिहास' शीघ्र ही प्रकाशित होने को है।

—अनु० : हनुमच्छास्त्री अयाचित।

भमिडिपाटि कृष्णमूर्ति

तेलुगु पिंगल

रसानंद का अनुभव नाद से होता है, जिसका मुख्यांग लय है। गद्यमय भाषा में लय को सुव्यक्त करने को एक साधन की आवश्यकता है। वह साधन 'छंद' है। 'छंद' धातु से उत्पन्न 'छंदस' शब्द का अर्थ है आनंद या आह्लाद। इसलिए आह्लाद देने वाले वाक्य-समूह को हम छंद कह सकते हैं। गणबद्ध वर्ण-संयोजन और नियमित विराम से यह आनंद उत्पन्न होता है। सब प्रकार के भावों को लाक्षणिकों ने 'श्रृंगार-हास्य' आदि नव रसों में विभाजित किया है। इन साहित्यिक रसों की भली भाँति पाठकों को अनुभूति कराने के लिए विभिन्न प्रकार के छंद उपयोग में लाये जाते हैं। छंदों की यह उपयोगिता विश्व की सब भाषाओं में मानी गयी है।

हमारे देश में कई साहित्य-संपन्न भाषाएँ व्यवहृत होती हैं। हर एक भाषा की अपनी-अपनी विशिष्टता होती है, जिसके अनुसार छंदों का उपयोग किया जाता है।

एक ही छंद यदि दो भाषाओं में प्रयुक्त किया जाय तो उनकी विशिष्टता के अनुसार उसकी गति और धारा में पर्याप्त अंतर दिखायी पड़ता है। उदाहरण के लिए 'शार्दूलविक्रीड़ित' वृत्त को लें:

हिंदी में :

एकाकी ब्रजदेव एक दिन थे बैठे हुए सद्म में।
उत्सन्ना ब्रज-भूमि के स्मरण से उद्विग्नता थी बढ़ी॥

(हरिऔध)

और तेलुगु में

नृत्यन्मंजुल तार हार कबरी निष्यंद मुक्ता मणि
प्रत्यग्र प्रसवाक्षि संकलन दीव्यनकंधरा भेद सा-
हित्यप्रौढ · · · (विश्वनाथ)

इन दोनों में वेग, विराम और चरण के विस्तार अपनी-अपनी विशिष्टता रखते हैं।

तेलुगु भाषा में 'यति और प्रास' का विशिष्ट स्थान है। तेलुगु छंदों के ये दोनों नियम अन्य भाषाओं के यति और प्रास-नियम से भिन्न हैं। यति माने विराम। हिंदी में संस्कृत के समान

यति पर शब्द या चरण समाप्त हो जाना चाहिए। लेकिन तेलुगु में वैसा नहीं होता। तेलुगु में यति और 'यति-मैत्री' की विशिष्टता पर प्रकाश डालते हुए विश्वनाथ सत्यनारायण उदाहरण-पूर्वक कहते हैं कि **पथिक को किसी वृक्ष के नीचे मिलने वाले विराम, किसी मित्र के घर में मिलने वाले विराम और अपने सगे-संबंधियों के यहाँ मिलने वाले विराम से जैसे उत्तरोत्तर सुखानुभूति अधिक होती है, वैसे ही छंद के चरण के बीच में पड़ने वाली यति और यति-वर्ण की सजातीयता से पाठकों को श्रवण-सुख का अनुभव होता है।**

यह यति-मैत्री तेलुगु छंद की अपनी विशिष्टता है जो मोटे तौर पर इस प्रकार है: अनुनासिक व्यंजनों को छोड़ कर पाँचों वर्गों में प्रत्येक वर्ग के व्यंजन और अ, य, ह आपस में यति की दृष्टि से सजातीय माने जाते हैं। जैसे क, ख, ग, घ, ये चारों आपस में मैत्री रखते हैं। अर्थात यदि कोई चरण क' से आरंभ हो तो उस चरण के यति-स्थान पर इन चारों से कोई अक्षर आ जाना चाहिए। इस प्रकार यति-स्थान सजाति अक्षरों के प्रयोग से छंद में श्रवण-मधुरता आती है। उदाहरण :

> ग्रासमु लेक सृक्किन जरा कृशमैन, विशीर्णमैन, सा-
> यासमु नैन, नष्ट रुचि येननु, प्राण भयार्त यैन, सं-
> त्रास मदेभकुंभ पिशित ग्रह लालन शीलसा ग्रहा-
> ग्रेसर भा-स्समान यगु केसरि जीर्ण तृणंब मेयुने।'

इस छंद का नाम उत्पलमाल' है। प्रत्येक चरण के दसवें अक्षर पर यति पड़ती है।

और तेलुगु में शब्द के बीच में किसी भी अक्षर पर यति पड़ सकती है। यति के बदले प्रास यति का भी उपयोग कर सकते हैं। लेकिन ये नियम केवल देशीय छंदों तक परिमित हैं।

इसके बाद प्रास मुख्य हैं। प्रास का अर्थ प्रत्येक चरण का द्वितीय अक्षर है। यद्यपि यह नियम कन्नड से लिया गया है, फिर भी अपनी विशिष्टता रखता है। प्रत्येक चरण का द्वितीया-क्षर एक व्यंजन होना चाहिए। उदाहरण के लिए :

> **भीष्म द्रोण कृपाद धान्व निकराभीलंबु, दुर्योधन**
> **ग्रीष्मादिन्य पटुप्रताप विसरा कीर्णंबु, शस्त्रास्त्र जा-**
> **लोष्म स्फार चतुर्विधोज्वल बलात्युग्रंबुदप्रजा-**
> **पिष्मन्वा कलितंबु सैन्य ममदिये चेरंग शक्तुंडने।**

इसमें प्रत्येक चरण का दूसरा अक्षर 'सम' है। इस तरह यति और प्रास नियम से छंद की भाषा में एक प्रकार का नाद-सौंदर्य आता है जो कर्णप्रिय लगता है।

इस तरह की सुखानुभूति हिंदी में अंत्यानुप्रास या तुक से मिलती है। जैसे कबीर के इस दोहे में :

चारि भुजा के भजन में, भूलि परे सब संत।
कबिरा सुमिरौ ताहि कौ जा को भुजा अनंत।।

प्रसाद जी की इस कविता में :

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी
जल में अंतर्निहित हुई।।

इस तरह यति और प्रास के अलावा तेलुगु में और एक विशिष्टता है। वह शब्द-विभाजन है। इस तरह का पद-विभाजन अन्य भाषाओं में शायद ही पाया जाता है। अर्थात चरण के अंत में किसी शब्द को खंडित कर के दूसरे चरण के प्रारंभ में रखा जा सकता है। इससे भाव की तीव्र अनुभूति प्रकट की जा सकती है।

तेलुगु में संस्कृत वर्ण-वृत्त के अलावा देशी छंद भी काफ़ी प्रयुक्त किये जाते हैं। संस्कृत छंदों में से चंपकमाल, उत्पलमाल, मत्तेभ विक्रीडित, शार्दूलविक्रीडित आदि प्रचलित हैं। देशीय छंदों में से कंदमु, सीसमु, आट वेलदि, तेटगीति, द्विपद आदि मुख्य हैं। जैसे हिंदी में, दोहा-चौपाई में हिंदी का देशीपन झलकता है, वैसे ही इन छंदों में तेलुगु देशीपन प्रतिबिंबित होता है।

यहाँ एकाध का विवरण सोदाहरण देखिए जो हिंदी छंदों के निकट आ सकते हैं :

सीसमु में लगातार छह इंद्रगण और दो सूर्य गण के चार चरण होते हैं और उनके बाद आठ वेलदी या तेट गीति रखा जाता है। इसमें पहले चार चरणों में प्रत्येक चरण के प्रथम गण प्रथमाक्षर से तृतीय गण प्रथमाक्षर और पंचम गण प्रथमाक्षर से सप्तमी गण प्रथमाक्षर पर यति पड़ती है। सीस पद्य गति, वेग और चरण की दीर्घता की दृष्टि से घनाक्षरी के समान माना जा सकता है। उदाहरणार्थ :

हिंदी से :

नगर से दूर कुछ गाँव की सी बस्ती एक,
हरे-भरे खेतों के समीप अति अभिराम।
जहाँ पत्र-जाल, अंतराल से झलकते हैं,
लाल खपरैल श्वेत छज्जों के सँवारे धाम।।

और तेलुगु से :

कुप्पिचि थेगसिन कुंडलंबुल कांति
गगन भागंवेल्ल गप्पिगोनग।।

या

दीवारटंकाल तीर्थ माडिंचिते
दक्षिणाधीशु मुत्याल शाल।

इन्हीं देशी छंदों को ले कर आधुनिक कवि कई नूतन प्रयोग कर के उनमें नयापन ही नहीं, मधुरता भी ला पाये है।

उनमें से श्री श्री, कृष्ण शास्त्री, डॉ० नारायण रेड्डी, दाशरथी, नायनी आदि मुख्य हैं। इन कवियों ने हिंदी के नवीन, निराला, महादेवी वर्मा आदि के जैसे अपने-अपने मार्ग प्रशस्त किये हैं। श्री-श्री की कविता इस प्रकार है :

पोलाल नन्नी हलाल दुन्नी,
बलं धरित्रिकि बलिगाविये।
कर्षक बीरुल घर्म चलानिकि,
धर्म जलानिक खरीदु कट्टे षराबु लेदोय॥

और इसी लय में सुनिए नवीन जी की दो पंक्तियाँ :

पंख खोल, पंख खोल द्विज मनसिज पंख खोल।
सुन रे उड्डीयन के अभिमंत्रित गगन बोल॥

तेलुगु के देशी छंदों का मूल छंद द्विपद है।

नल्लवो रघुराय नयमाभिराम।
विल्लुविद्य गुरव वीरावतार॥

इस द्विपद छंद का डॉ० चावलि सूर्यनारायण जी ने इसके निकट संबंधी माने जाने वाली चौपाई में रूपांतर किया है :

साधु-साधु तेरा शर लाघव,
सच धनुर्वेद गुरु तू राघव।
तू अनुपम अवतार वीरता का
मेरु पर्वत तू धीरता का॥

आधुनिक कविता के प्रवर्तक गुरजाड अप्पाराबु ने ग़ज़ल का निकट संबंधी एक मात्रिक छंद तेलुगु में बनाया है जो 'मुनयाल सरमु' नाम से मशहूर है।

तेलुगु भाषा अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ और समास-बहुल होने के कारण वर्ण-वृत्त के अधिक अनुकूल पड़ती है।

आजकल के तेलुगुभाषी हिंदी लेखक हिंदी में तेलुगु के प्रभाव में कुछ नयापन लाने लगे हैं। जैसे कि डॉ० चावलि जी ने 'सार' छंद में यति-मैत्री लाने का प्रयास किया है :

सांसों का नव नीरज सौरभ चारो दिश फैलाते।
चंद्रमुखी की अतुलित आभा सारे बन छिटकाते।
पुष्पावचयन कर देर बड़ी, पुलक हर्ष में फूले।
लसित ललाटों से श्रम-कण लगी झूलने झूले॥

इस तरह पड़ोसी भाषाओं के प्रभाव से नयी विशेषताओं का प्रवेश कराना अभी तक होता आया है और आगे भी होता रहेगा।

अन्य भाषाओं का जितना भी प्रभाव पड़े, प्रत्येक भाषा अपनी विशिष्टता अलग ही रखती है।

—द्वारा आंध्र बैंक लि०,
मद्रास—१।

श्रीवात्सव

आज की तेलुगु कविता

समकालीन राजनीति के साथ लेखक के संपर्क के कारण स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात भारतीय साहित्य राजनीति से बहुत प्रभावित रहा है। जॉर्ज आरवेल ने उचित ही लिखा है: **आज राजनीति से रहित साहित्य नहीं लिखा जा सकता।** आज कवि में स्वात्माभिमान जाग्रत अवस्था में है, इसीलिए यह बात आश्चर्यजनक नहीं कि आज का भारतीय लेखक अपनी भाषा तथा अपनी भाषा के साहित्य से स्वाभाविक स्नेह करता है। तेलुगु कवि श्री श्री के समान प्रत्येक सच्चा कवि अतीत से शक्ति ग्रहण करता है और नयी विचारधारा में उसे व्यक्त करता है। वह वैज्ञानिक अनुसंधानों और सामाजिक नवजागरण के कारण परिवर्तमान संस्कृति से प्रेरणा लेता है और उसे अपनी रचनाओं में ढालता है।

स्वतंत्रता के पिछले बीस वर्षों में भारतीय भाषाओं की साहित्यिक गतिविधि वेग से बढ़ी है। कम से कम प्रकाशित पुस्तकों की संख्या और बढ़ते हुए पाठकों की दृष्टि से वर्तमान ने अतीत को पीछे छोड़ दिया है।

इन दिनों लेखक अपनी रचनाओं के कारण उपयुक्त आजीविका प्राप्त कर सकता है। सर्वसाधारण तक लेखक की पहुँच और मुद्रण की यांत्रिक व्यवस्था ने इस युग के लेखक के लिए अनेक मार्ग खोले हैं। आज तेलुगु के सभी लेखक, यहाँ तक कि साधारण प्रतिभा वाला लेखक भी सिनेमा, रेडियो और पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखता है और यथोचित पारिश्रमिक पाता है। चलचित्रों के लिए गीत लिखने वाले सफल व्यक्तियों में श्री श्री, आरुद्र, दाशरथी, नारायण रेड्डी तथा कुछ अन्य व्यक्ति हैं। आज की तेलुगु-कविता इस बात में विशिष्ट है कि सभी शैलियों और विचारधाराओं के कवि शांतिपूर्वक अविरोध भाव से साथ-साथ जीवन बिता रहे हैं। कुछ कवि शास्त्रीय ढंग की कविता लिखते हैं, कुछ भाववादी ढंग की। कोई प्रगतिशील कवि है तो कोई प्रयोगवादी, शास्त्रीय शैली अथवा रूढ़िबद्ध शैली में रामायण तथा महाभारत के किसी कथानक को ले कर ऐसी रचनाएँ रची गयी हैं, जिन पर वर्तमान विचार-धाराओं का रत्ती भर प्रभाव नहीं देखा जा सकता। परंपरावादियों की रचना ऐतिहासिक घटनाओं का आधार लेती है, जैसे गोलकुंडा नरेश और झाँसी की रानी के कार्यकलाप; महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा पोट्टि श्रीरामलु जैसे राष्ट्रीय नेताओं का जीवन-चरित्र। जाशुआ द्वारा लिखा गया ईसामसीह का जीवन-चरित्र पढ़िए, जिसे १९६४ में साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया था। इस प्रकार-की कुछ रचनाओं को लोकप्रियता प्राप्त हुई। कुछ की हजारों प्रतियाँ बिक गयीं। एक लोक

प्रिय कविता-संकलन की ५० हजार प्रतियाँ पिछले दस वर्षों में बिकी हैं। यह लोकप्रिय कविता-संकलन करुणाश्री की कविताओं का है। इस संकलन की कविताओं में देश-भक्ति, प्रेम और आध्यात्मिक साधना का वर्णन हुआ है।

आधुनिक तेलुगु कविता का सच्चा प्रतिनिधित्व श्री श्री करते हैं, जो अतीत की समृद्ध परंपरा के साथ-साथ वर्तमान के नये आदर्शों से भी समान रूप से परिचित हैं। श्री श्री ने अपने अतुकांत छंदों में पुराने काव्यों में प्रयुक्त रूढ़ रूपकों को नया अर्थ प्रदान किया। अनेक कवियों ने श्री श्री का अनुसरण किया, किंतु उन्हें बहुत कम सफलता मिली। दाशरथी और नारायण रेड्डी दो प्रमुख नवयुवक कवि हैं, जो प्रभावशाली ढंग से साहित्य-जगत में अवतीर्ण हुए। दोनों ने शक्तिशाली स्वर में अपने गीत गाये। दोनों ने सभी शैलियों से लाभ उठाया है। नारायण रेड्डी ने 'प्रकाश के नूपुर' शीर्षक कविता में दीपावली का सौंदर्य भाववादी (छायावादी) शैली में व्यक्त किया है।

अनेक युवक कवियों और उनके नये स्वरों के रहते हुए भी श्री श्री प्रगतिशील धारा के प्रमुख कवि हैं। सन १९२९ में श्री श्री ने अपनी महान कविता 'महाप्रस्थानम्' में नवयुवकों के उद्बोधन के साथ साहित्य में नया आंदोलन प्रारंभ किया था। तभी वे साहित्य में नये युग के नेता मान लिये गये थे। तब से ले कर आज तक उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं और शैलियों में लिखा है। श्री श्री ने अपनी कविता में युवकों को अशेष सामर्थ्य के साथ स्वतंत्रता, समानता, गौरव और ऐश्वर्य की ओर प्रयाण करने का संदेश दिया तो युवकों ने इन्हें युग-वाणी के रूप में स्वीकार कर लिया। पिछले तीस वर्षों में इन्होंने कविता की विविध शैलियों में बहुत कुछ लिखा है। इतने दीर्घ काल में विविध शैलियों में कवि की कल्पकता, कवि का आधारभूत दर्शन, कवि की सुरुचि का मूल रूप परिवर्तित नहीं हुआ। विज्ञान और उसके अनुसंधान के प्रभावों, अग्रगामी राजनीतिक विचारों और सामाजिक परिवर्तनों के प्रति श्री श्री ने अपना मस्तिष्क सदैव खुला रखा है। श्री श्री कभी शब्दों के साथ खिलवाड़ करते हैं तो कभी पुराने प्रचलित शब्द से नया अर्थ उत्पन्न करते हैं, कभी रूढ़िबद्ध कवित्व की खिल्ली उड़ाते हैं, कभी तमाशे के लिए अनियमित छंदों में अर्थरहित कविता लिखते हैं। इतना सब होते हुए भी श्री श्री अपनी शैली तथा चिंता के कारण आधुनिक कवियों में अग्रगण्य हैं। इनके नवीन कविता-संग्रह 'खड्ग-सृष्टि' पर इस वर्ष 'सोवियत लैंड' ने नेहरू पुरस्कार दिया है। 'नगर में साँड़' नामक कविता में श्री श्री की व्यंग्यात्मक शैली उत्कृष्ट रूप में देखी जा सकती है।

अनेक कवियों ने श्री श्री के प्रयोगों का अनुसरण किया, किंतु कोई उल्लेखनीय रचना सामने नहीं आयी। हाल ही में कुछ कवियों ने एक गुट बनाया है। इस गुट की ओर से 'नवता' नामक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। जिन सात कवियों की ओर से यह छोटी सी पत्रिका निकलती है, उनमें गोपाल चक्रवर्ती उल्लेखनीय हैं। कल्पना और नयी अभिव्यंजना के कारण चक्रवर्ती की कविता में मौलिकता है। इस दृष्टि से 'कल का मनुष्य' शीर्षक कविता द्रष्टव्य है।

'नवता' गुट के कवियों में बोयि भीमन्ना ने रूढ़िबद्ध शैली के साथ-साथ प्रयोगवादी ढंग की कविताएँ भी लिखी हैं। इनकी नयी पुस्तक 'रागवैसखी' मुक्त छंद में इस तरह लिखी गयी है कि वह 'अकविता' कही जा सकती है। साहित्यिक क्षेत्र में इस पुस्तक का बहुत विरोध हुआ है। 'रागवैसखी' में कवि ने अपनी प्रेमिका को लंबे-लंबे प्रेम-पत्र लिखते हुए नग्न व्यभिचार तथा यौन-संबंध के आनंद का वर्णन किया है। कुछ लोगों ने 'रागवैसखी' को बुढहवसी बताया है, कुछ लोगों ने इसमें वैष्णव दर्शन के आधार पर आत्मा-परमात्मा का संबंध ढूँढ़ा है। कुछ लोगों ने इसमें उसे देवी-भक्त की आस्था खोज निकाली जो देवी की भक्ति में स्त्री के शारीरिक सौंदर्य का वर्णन करता है।

बोपि भीमन्ना के विपरीत नवता गुट के एक अन्य कवि भीमन्ना ने मनुष्य और परमात्मा के संबंध का विश्लेषण करते हुए कुछ अच्छी कविताएँ लिखी हैं। दुर्भाग्यवश मत्यु इन्हें केवल ४३ वर्ष की आयु में ही उठा ले गयी। वे अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग नहीं कर सके। उन्होंने अपनी कविता में समकालीन मानव की पतनशीलता की आलोचना स्पष्ट किंतु चुभती हुई शैली में की है।

लघुकथा हो चाहे नया छंद, भीमन्ना ने जो कुछ लिखा, उसमें मनुष्य और ईश्वर के संबंध में नयी धारणा प्रस्तुत की है। ईश्वर को इस तरह चित्रित किया है कि वह अलौकिक न रह कर मनुष्य के रूप में अवतरित हो गया। वह मनुष्य की रोग-शय्या पर आ बैठता है, मनुष्य के आँसू पोंछता है। कवि ने अपना प्रेम तथा विश्वास ईश्वर पर आरोपित किया है। इस दृष्टि से भीमन्ना की 'दूरागत ध्वनि' उल्लेखनीय है।

तिलक ने गिनती की कविताएँ लिखी हैं, फिर भी नयी पीढ़ी पर उनका प्रभाव पड़ा है। इनके नेतृत्व में प्रयोगवाद नाम से एक नयी धारा प्रकट हुई। इस धारा के युवा कवि इंग्लैंड के 'क्रुद्ध युवा' और बंगाल की 'क्षुधित पीढ़ी' की तरह अपने आपको 'दिगंबर कवि' के नाम से संबोधित करते हैं। दिगंबर कवियों ने कुछ दिन हुए, हैदराबाद के बहुत व्यस्त बाज़ार आबिद रोड पर आधी रात की कृत्रिम शांति में सड़क की रोशनी में एक रिक्शा चलाने वाले से अपने कविता-संग्रह का अवतरण-समारोह संपन्न करा कर सनसनी पैदा की थी। दिगंबर कवियों के नाम के कारण नग्नतावादी कवि मानने की ग़लती नहीं होनी चाहिए। अब तक दिगंबर कवियों के दो कविता-संकलन छप चुके हैं। दोनों संकलन वर्तमान साहित्यिक मूल्यों और कविता की परंपरागत अभिव्यक्ति के विरोध के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। दिगंबर कवियों के दोनों संकलन पाठक के लिए नये विचार अथवा अभिनव शैली के कारण रचयिता की असाधारण योग्यता का प्रदर्शन नहीं करते। समाचार-पत्रों में शीर्षक प्राप्त करने के लिए दिगंबर कवि प्रयत्न करते रहे हैं।

आधुनिक कवि इस तरह के साधन चाहता है कि उसकी व्याकुलता आशीर्वाद में और पलायन विरोध तथा निर्मोहता में परिवर्तित हो जाय। मृत्यु-शय्या पर पड़ा रोगी भी अपनी अनुभूति को अभीप्सित मृत्यु के भावपूर्ण चित्र में प्रकट करता है। गोपाल चक्रवर्ती ने 'मियादी बुखार के गीत' शीर्षक कविता में अपने विषम ज्वर का चित्रण किया है।

दो युवा कवि शीलवीर राजु और रंवी सोमराजु किसी विशेष धारा से संबद्ध नहीं हैं। रंवी सोमराजु ने मुक्त छंद में मध्यम श्रेणी के ऐसे युवक-युवतियों की तीन छोटी कहानियाँ लिखी हैं, जो परिवर्तनशील संस्कृत मूल्यों वाले समाज में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ये कहानियाँ आज के स्त्री-पुरुष में व्याप्त निराशा का दारुण चित्र प्रस्तुत करती हैं।

रंवी सोमराजु किसी राजनीतिक गुटबंदी में विश्वास नहीं करते। वे समकालीन जीवन की आलोचना बिना किसी लाग-लपेट के अपने ढंग से करते हैं। उनके कविता-संकलनों के शीर्षक हैं—'संस्कृति के टूटे टुकड़े', 'कत्राँरी संस्कृति'। दोनों संकलनों की कविताएँ स्वतंत्रता-काल में प्रतिक्रियावादियों के पुनरुदय पर क्रोध व्यक्त करती हैं। इनमें समकालीन समाज के उन तथाकथित स्तंभों का विरोध है, जो प्रमादवश हमारी आध्यात्मिक थाती को अस्त-व्यस्त किये दे रहे हैं।

आज का तेलुगु कवि न तो वर्तमान मूल्यों के विनाश से संतुष्ट है और न काल्पनिक नये स्वर्ग में अनोखे कनकौए उड़ाने में रुचि रखता है। वह विश्वास करता है ऐसे भविष्य पर जहाँ मनुष्य की अनेक उपलब्धियाँ निहित हैं। वह विश्वास करता है वैज्ञानिक अनुसंधानों पर आधारित प्रगति पर, सामाजिक सहिष्णुता पर। मानव-मूल्यों के सदैव विस्तृत होने वाले विश्व के संबंध में आज का तेलुगु कवि अपनी आशाओं का चित्रण करता है। एक विस्तारशील क्षितिज का अंकन करता है। वह विश्वास करता है बौद्धिक तृप्ति की ओर अग्रसर प्रसन्न और स्वस्थ संसार पर। न.रायण रेड्डी की 'शब्दों के वातायन' शीर्षक कविता में हम उस स्वतंत्रता के प्रसन्न और संतुष्ट विश्व की झाँकी ले सकते हैं।

—अनु० : श्रीराम शर्मा।

मुड्पु कुलशेखर राव

तेलुगु का गद्य-साहित्य

आधुनिक भारतीय भाषाओं में तेलुगु ही एक ऐसी भाषा है, जिसके साहित्य में गद्य और पद्य का प्रादुर्भाव साथ-साथ हुआ है।

तेलुगु में गद्य के लिए 'वचन' शब्द व्यवहृत होता है। 'वचन' शब्द संस्कृत से संबंधित है, किंतु वहाँ इसका अर्थ गद्य नहीं है। तेलुगु में 'गद्य' और 'वचन पर्यायवाची माने जाते हैं।

तेलुगु के साहित्यशास्त्रियों और कवियों ने छंदरहित रचना को गद्य अथवा 'वचन कहा है। तेलुगु महाभारत के प्रारंभिक अंश के रचयिता नन्नय भट्ट ने अपनी अवतरणिका में राजराज नरेंद्र की सभा का वर्णन करते हुए **वचन-रचना-विशारदुलैन कहाकवलुनु** (वचन की रचना में प्रवीण महाकवियों) वाक्य का प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक सहस्र पूर्व आंध्र प्रदेश में गद्य-लेखक विद्यमान थे और पद्य की भाँति गद्य में लिखने वाला व्यक्ति भी महाकवि कहलाता था। तेलुगु महाभारत के मध्यमांश के रचयिता तिक्कना ने विराट पर्व में लिखा है: **पद्यमुलगद्यमुलन रचींचदनकुतुल्** (मैं पद्य और गद्य में रचना करता हूँ)। तिक्कना ने ही अपनी आरंभिक कृति 'निर्वचनोत्तर रामायण में लिखा है 'वचनमु लेकयु वर्णन-रचयिंपग कोन्तवच्चु प्रौढुलुकु (प्रौढ़ लोग गद्य के बिना भी रचना कर सकते हैं।)

इन उद्धरणों से प्रकट होता है कि नन्नय भट्ट (११ वीं शती) तथा तिक्कना (१३वीं शती) के समय में गद्य और 'वचन' शब्द पर्यायवाची माने जाते थे। १५ वीं शती में लिखित अनंतामात्य की कृति 'छंदोदर्पणमु' में गद्य के लिए 'वचन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। १७ वीं शती के अप्प कवि ने भी 'वचन' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। आधुनिक काल के जन्मदाता वीरेशलिंगम पंतुलु ने भी 'गद्य' और 'वचन', दोनों शब्दों का प्रयोग समानार्थ में किया है। यहाँ यह लिखना आवश्यक प्रतीत होता है कि तेलुगु में 'गद्य' के स्थान पर 'वचन' शब्द का प्रयोग अधिक हुआ।

तेलुगु से कन्नड़ की स्थिति भिन्न है। इस भाषा में बसव की कृतियाँ 'वचन' कहलाती हैं।

तेलुगु गद्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है: (१) नन्नय पूर्व का गद्य, (२) नन्नय तथा अन्य कवियों की कृतियों में उपलब्ध गद्य। इन कृतियों में पद्य भी विद्यमान है, (३) ऐसी कृतियाँ जो केवल गद्य में लिखी गयी हैं।

नन्नय पूर्व का गद्य

नन्नय पूर्व युग के गद्य के अनुशीलन के लिए ताम्रपत्र तथा शिलालेख ही महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। ये ताम्रपत्र तथा शिलालेख सातवीं शती से ले कर ११ वीं तक लिखे गये हैं। इनमें रेनाटि चोळ, बाण राजुलु, वैदुंबुलु के शासन उल्लेखनीय हैं। इन शासनों में तेलुगु गद्य का आरंभिक रूप मिलता है।

चालुक्य नरेशों के ताम्रपत्रों में तेलुगु गद्य का पर्याप्त विकसित और स्पष्ट रूप प्रयुक्त हुआ है। चालुक्य भीम (नवीं शती) के एक शिलालेख में वाक्य-रचना बहुत पुष्ट दिखायी देती है। नन्नयपूर्व के गद्य की विशेषताएँ इस प्रकार हैं : १. शब्द-रूपों पर प्राकृत का प्रभाव बहुत अधिक है। २. अधिकांश स्थलों पर वाक्य-रचना पूर्ण नहीं है। ३. कई स्थलों पर समापक क्रियाओं का प्रयोग नहीं मिलता। ४. ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो आधुनिक तेलुगु में प्रचलित नहीं रहे। ५. 'ऱ'[१] (शकट रेफ) 'ण' और 'ऋ' का प्रयोग अधिक हुआ है।

तेलुगु महाभारत का गद्य

पूर्वी चालुक्य-नरेश राजराज नरेंद्र (१०२२–१०६३ ई०) की राजधानी राजमहेंद्रावरम में थी। आंध्रभाषी भू-भाग पर इस नरेश का शासन था। राजराज नरेंद्र के आस्थान कवि नन्नय भट्ट ने तेलुगु महाभारत के लगभग ढाई पर्वों की रचना की। इस अंश में गद्य तथा पद्य, दोनों का प्रयोग हुआ है। इसलिए इसे चंपू कह सकते हैं। यदि पद्य और गद्य की पृथक-पृथक गिनती की जाय तो नन्नय द्वारा रचित अंश में गद्य तथा पद्य की मिली-जुली संख्या ४०१४ है। आश्वास के अंत में प्रयुक्त गद्य का समावेश भी इस संख्या में कर लिया जाय तो गद्य की संख्या १४३१ होगी। इस तरह गद्य का अनुपात ३५·५ प्रतिशत है। नन्नय भट्ट ने निम्नलिखित स्थलों पर गद्य का प्रयोग किया है : १. वंशावलियों के वर्णन में, २. लंबी कथाओं को संक्षिप्त करते समय, ३. पात्र के वार्तालाप में, ४. शैली-परिवर्तन के लिए, ५. वैदिक और लौकिक सूक्तियों को उद्धृत करते समय। संस्कृत के लक्षणकारों ने गद्य के अंतर्गत चूर्णिका, उत्कलिकाप्राय, वृत्तगंधी तथा मुक्तक का उल्लेख किया है। इन चारों के उदाहरण नन्नय के गद्य से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वृत्तगंधी का उदाहरण: **इट्ल पेक्कु मृगंबुल नेगचिचंचे**। यह गद्यांश गीति के चरण से मिलता-जुलता है। **इट्टि महोत्पातंबुल-पट्टिन सुरपति**। यह गद्यांश कंद[२] से मेल खाता है।

तेलुगु महाभारत के दो अन्य कवियों, तिक्कना सोमयाजी तथा एर्राप्रगटा ने गद्य में नन्नय भट्ट का अनुकरण किया है। तिक्कना ने तेलुगु महाभारत के जिस अंश की रचना की है,[३]

---

१. द्रविड़ कुल की भाषाओं में प्रयुक्त विशेष ध्वनि। तमिल में इस समय भी इस ध्वनि का प्रयोग होता है। तेलुगु वर्णमाला में इस ध्वनि के लिए विशेष चिह्न हैं, किंतु इसका प्रयोग कुछ ही शब्दों में रह गया है, जैसे 'गुऱ्ऱमु'। हिंदीभाषियों की सुविधा के लिए इस ध्वनि के लिए 'ऱ' का प्रयोग किया जा सकता है, वैसे यह संयुक्ताक्षर न हो कर स्वतंत्र ध्वनि है।

२. तेलुगु का एक देशी छंद। ३. आरंभ के तीन पर्वों को छोड़ कर शेष १५ पर्व।

उसमें पद्य की तुलना में गद्य का अनुपात एक चौथाई है। नन्नय भट्ट और तिक्कन्ना के गद्य में इतना ही अंतर है कि तिक्कना ने पद्य की भाँति गद्य में भी संस्कृत की अपेक्षा देशी शब्दों का प्रयोग अधिक किया है।

एर्राप्रगटा ने नन्नय के अधूरे पर्व की पूर्ति करते समय गद्य में तिक्कना का अनुसरण किया है किंतु उनकी अन्य रचना 'नरसिंह पुराण' में उत्कलिकाप्राय शैली का प्रयोग मिलता है। फलस्वरूप 'नरसिंह पुराण' का गद्य कुछ प्रौढ़ता लिये हुए है।

प्रबंध-काव्यों में प्रयुक्त गद्य

तेलुगु महाभारत की अपेक्षा तेलुगु महाकाव्यों में गद्य का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है। महाकाव्यों में गद्य का अनुपात दस प्रतिशत भी नहीं है। फिर सीधा-सादा सरल गद्य और भी कम है। वास्तविकता यह है कि प्रबंध-काव्यों का गद्य-पद्य भाग की तुलना में अधिक कठिन है। पेद्दना, तेन्नालि रामकृष्ण, भट्टमूर्ति, नंदितिमन्ना, चेमकूरि वेंकटकवि तथा अन्य प्रबंध-कवियों की कृतियों में इसी प्रकार का गद्य मिलता है। तेन्नालि रामकृष्ण का गद्यांश प्रगल्भता का परिचय देता है, जो अनुप्रास के अतिरिक्त शब्द-गुंफन का भी अच्छा उदाहरण है।

श्रीनाथ और पोतना शैली की दृष्टि से प्रबंध-कवियों से भिन्न हैं, किंतु यह बात पद्य पर ही लागू होती है। गद्य में अधिक भिन्नता नहीं दिखायी देती।

साहित्य-शास्त्रों ने गद्य की जो विभिन्न शैलियाँ गिनायी हैं, उन पर विचार किया जाय, तो श्रीनाथ का गद्यांश उत्कलिकाप्राय कहा जायगा। श्रीनाथ की रचनाओं में कहीं-कहीं प्रसादगुणयुक्त सरस गद्य भी मिलता है, किंतु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

गद्य-ग्रंथ––केवल गद्य में लिखे गये ग्रंथों का रचना-काल अपेक्षाकृत परवर्ती है। कृष्णमाचार्य का 'सिंहगिरिवचनमुलु' तेलुगु का प्रथम गद्यग्रंथ माना जाता है। कृष्णमाचार्य वरंगल के काकतीय नरेश प्रताप रुद्र (द्वितीय) के समय में जीवित थे। एकाम्रनाथ के 'प्रताप-चरित्र' में कृष्णमाचार्य का उल्लेख हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि कृष्णमाचार्य संभवतः १३ वीं शती के उत्तरार्द्ध और चौदहवीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। ताल्लपाक कवियों ने भी इनका उल्लेख किया है। आंध्र के प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ सिंहाचलम् में रहते समय कृष्णमाचार्य ने 'सिंहगिरिवचनमुलु' की रचना की थी। प्रत्येक वचन के अंत में 'अनाथपति, 'सिंहगिरि नरहरि', 'नमोनमो दयानिधि' का प्रयोग हुआ है। यह बात प्रसिद्ध है कि इस ग्रंथ में चार लाख वचन थे, किंतु अब तक इनमें से साठ से अधिक वचन उपलब्ध नहीं हुए। प्रत्येक वचन भक्ति से संबंधित हैं। सरलता के कारण ही ये वचन लोकप्रिय हैं।

वेंकटेश्वरवचनमुलु

ताल्लपाक पेदा तिरुमलाचार्य के वचनों का संकलन 'वेंकटश्वरवचनमुलु' में संकलित हैं। ये संकीर्तनाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे और तिरुपति में वेंकटेश्वर के सान्निध्य में निवास करते थे। पंद्रहवीं शती के चौथे चरण में इनका जन्म हुआ था, सोलहवीं शती के पूर्वार्ध में इनकी

प्रसिद्धि हुई। ये वचन 'तालगंध' कहलाते हैं। ये गाये जा सकते हैं। इन वचनों में वेंकटेश्वर के रूप में विष्णु भगवान की स्तुति की गयी है। सभी वचनों में विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन है। अनंतामात्य नामक साहित्यशास्त्री ने गद्य की जो परिभाषा दी है, वह 'वेंकटेश्वरवचनमुलु' पर पूरी तरह लागू होती है। इस ग्रंथ में न तो दुर्बोध अन्वय तथा समासावली है और न अनुप्रास-बहुलता तथा परुषता है। यथास्थान अर्थालंकार का उचित प्रयोग किया गया है। तिरुमलाचार्य कृष्णमाचार्य की गद्य-शैली से प्रभावित थे, यह बात 'वेंकटेश्वरवचनमुलु' की भाषा से स्पष्ट होती है। प्रत्येक वचन के अंत में 'वेंकटेश्वर' शब्द का प्रयोग हुआ है।

पंद्रहवीं शती के मध्य से ले कर सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध के अंत तक लिखी गयी गद्य रचनाओं में 'शठकोप विन्नयपमलु, 'भवानी मनोहर वचनमुलु' अर्थात 'शंकरवचनमुलु', 'काशिकाधीश्वरवचनमुलु, 'कालज्ञानवचनमुलु और 'गंगाधरैयवचनमुलु' प्रमुख हैं। शैली तथा धार्मिक आस्था की दृष्टि से विचार किया जाय तो इन समस्त रचनाओं पर 'सिंहगिरिवचनमुलु' और 'वेंकटेश्वर वचनमुलु' का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त इस काल में कुछ अन्य पुस्तकें भी लिखी गयीं, जिनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

वेदांत-व्यवहार-सार संग्रहमु

माहुरी तीर्थ के सुप्रसिद्ध योगी दत्तात्रेय ने इस ग्रंथ की रचना की थी। व्यास के ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य के शारीरक भाष्य का सार बोलचाल की तेलुगु में प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ प्रचार की दृष्टि से लिखा गया है। इसलिए भाषा सरल है।

भारतसावित्री

इस ग्रंथ की रचना तिरुमल लक्ष्मण मुनि के शिष्य वैष्णवाचार्य एल्लकर नृसिंह कवि (१५११-१५६८ के मध्य जीवित) ने की। भाषा व्याकरणसम्मत है। वाक्य अधिक लंबे नहीं हैं, अतः भाषा सरल है। महाभारत की कथाएँ हृदयग्राही ढंग से दी गयी हैं, इसलिए यह ग्रंथ लोकप्रिय हो सका।

राय वाचकमु

सोलहवीं शती में लिखी गयी 'रायवाचकमु' नामक पुस्तक ऐतिहासिक महत्व रखती है। मदुरा के शासक विश्वनाथ नायक के राजदूत (नाम अज्ञात) ने विजयनगर में रहते समय यह पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में विजयनगर के सम्राट राय कृष्णदेव की राजनीतिक गतिविधियों का उल्लेख है। इस पुस्तक की भाषा सरल और बोलचाल की है। कुमार धूर्जटि नामक कवि ने 'कृष्णराय विजयमु' नामक काव्य लिखा है, जिसमें 'रायवाचकमु' का अनुसरण मिलता है, 'रायवाचकमु' में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के चित्रण के लिए फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'विजयनगर' साम्राज्य के इतिहास -लेखकों ने 'रायवाचकमु' से लाभ उठाया है। १५ वीं -१६ वीं शती में लिखे गये गद्य-ग्रंथों में ताम्रपल्ली तम्मय मंत्री का 'सभापति

वचनमु' सिद्धराय कवि का 'प्रभु देवर वाक्यमु', काशी चन्ना बसवेश्वर का' विवेकसिंधु' और परमानंद यति का 'वेदांत वार्तिकमु' उल्लेखनीय है।

उत्तर प्रबंध काव्य-युग (सत्रहवीं शती) में भी कुछ गद्य-ग्रंथ लिखे गये। १६७० ई० में सिद्धेंद्र योगी की उड़िया भाषा में लिखित एवं पुस्तक का अनुवाद गोपीनाथ कवि ने 'वचन-विचित्र रामायण' नामक ग्रंथ में किया, गोपीनाथ कवि रामभक्त थे। इस रामायण में कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन भी मिलता है, जो वाल्मीकि रामायण में वर्णित नहीं है। भाषा व्याकरण-सम्मत तथा हृदयग्राही है।

भागवत सारमु

इस ग्रंथ का लेखक पुष्पगिरि तिम्मन्ना है। यह ग्रंथ बहुत लोकप्रिय रहा है। चिन्नयना नामक व्यक्ति ने इसका अनुवाद मूल तमिल से किया। भाषा सरल तथा व्याकरण सम्मत है।

सत्रहवीं शती के बीतने पर, अठारहवीं शती के आरंभ में माचनामात्य का 'ब्रह्मांडु-वचनमु', बुद्धिराज् पैरैया' का 'सात्विक ब्रह्मविद्या विलास निरासनमु', 'अज्ञान ध्वांत चंद्र भास्करमु' जैसे वेदांत संबंधी ग्रंथ लिखे गये जिनका पठन-पाठन विशेष वर्ग तक सीमित रहा।

आंध्र नायकों का युग

तेलुगु गद्य की दृष्टि से यह काल स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। नायक राजा मदुरा और तंजावूर में शासन करते थे। दोनों राजधानियाँ तमिल भाषा प्रदेश में अवस्थित थीं। राजा तथा प्रमुख अधिकारी तेलुगुभाषी थे। मदुरा तथा तंजावूर के शासक ही नहीं, सामंतों तथा संभ्रांत नागरिकों ने भी तेलुगु की उल्लेखनीय सेवा की। इस काल का साहित्य 'यक्षगान तथा वचनमु' के रूप में सुरक्षित है। कुछ गद्य-कृतियों का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

धेनुका माहात्म्यमु

इस ग्रंथ का लेखक लिंगनमखी कामेश्वर है, जो तंजावूर के राजा मुद्दलगिरि का आस्थान कवि था। कामेश्वर राव ने 'तिरुकाम कवि' के नाम से भी लिखा है। इस ग्रंथ में गाय के महत्व को कहानियों के द्वारा प्रकट किया गया है। इस कवि की अन्य रचनाएँ हैं: 'रुक्मिणी परिणयमु' और 'सत्यभामा सांत्वनमु'।

श्रीरंग माहात्म्यमु

तंजावूर के शासक विजयरंग चुक्कनाथडु (१७०४–१७३१ ई०) ने इस ग्रंथ की रचना की। इस पुस्तक में प्रसिद्ध वैष्णवतीर्थ श्रीरंग का माहात्म्य दस अध्यायों में वर्णित है। चुक्कनाथडु ने 'माघमाहात्म्यमु' नामक पुस्तक भी लिखी है।

जैमिनि भारतमु

विजयरंग चुक्कनाथ के समकालीन सम्मुखमु वेंकट कृष्णप्पा नायकुडु इस पुस्तक के लेखक हैं। पिल्लमर्रि पिनवीर भद्रन (१४ वीं शती) की कृति को 'जैमिनि भारतमु' में गद्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें पाँच आश्वास हैं। ग्रंथ विजयरंग चुक्कनाथ को समर्पित किया गया है। पिनवीर भद्रन कवि द्वारा प्रयुक्त कहावतों, मुहावरों, सूक्तियों तथा समासों का उपयोग इस ग्रंथ में किया गया है। समासों के साथ-साथ अलंकारों का प्रयोग खूब हुआ है। इसी लेखक ने 'सारंगधर चरित्र' नामक एक अन्य गद्य-ग्रंथ भी लिखा है, जिसकी शैली अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ है।

विजयरंग चुक्कनाथ के समय में ही श्यामराय कवि ने 'वचन रामायणमु', श्रीपतिरामभद्र ने 'हालास्य माहात्म्यम्', देवकी वेंकटसुब्ब कवि ने 'रामायण वचनमु' नामक ग्रंथ लिखे।

कलुवे वीरराजु

मैसूर के शासक चिक्क देवरायुलु (१७०४-१७३१ ई०) के समकालीन कवि कलुवे वीरराजु ने 'महाभारत वचन-काव्य' नामक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ के आदि, सभा तथा भीष्मपर्व ही उपलब्ध हुए हैं। अंत में जो पद हैं, उससे पता चलता है कि ग्रंथ १७३० ई० में समाप्त हुआ। हीरराजु के पुत्र कलुवे नंदराजु ने १७६० ई० में 'हालास्य माहात्म्यमु' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में 'दक्षिण मदुरा' का माहात्म्य सत्तर अध्यायों में वर्णित है। नंदराजु ने 'काशीखंड' का तेलुगु अनुवाद 'काशी महिमार्थ दर्पणमु' नाम से किया।

चन्द्रागिरि कृष्णराजु का पुत्र तुपाकुल अनंत भूपालुडु

कलुवे वीरराजु का समकालीन था। इसके चार गद्य-ग्रंथ मिलते हैं—विष्णु-पुराणमु, भगवद्गीतलु, रामायणरत्नमु (सुंदरकांड मात्र), भारतवचनमु (सभा और भीष्म पर्व)। तुपाकुल अनंत भूपालुडु ने अपने संबंध में लिखा है—'निखिल पुराणेतिहास कथा-संधान समेधमान चातुर्य-वचन-रचन वैचक्षण्य'। ग्रंथ की भाषा तथा शैली को देखते हुए यह विरुद उचित प्रतीत होती है।

आंग्ल युग : कुंपणी (कंपनी) काल

इस काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है—१. कॆंजी काल, २. ब्राउन काल।

मेकेंजी काल (१७२०–१८४० ई०) : इस काल की पुस्तकें ईसाई धर्म से संबंधित हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन पुस्तकों का महत्व नहीं है। सुगम शैली तथा बोलचाल की भाषा के कारण इन पुस्तकों की चर्चा गद्य-ग्रंथों के संदर्भ में की जाती है। ईसाई धर्म से संबंधित इस साहित्य के कारण तेलुगु का छापाखाना स्थापित हुआ। ईसाई धर्म की मुद्रित पुस्तकों के अनुकरण पर दूसरे ग्रंथ भी प्रकाशित होने लगे। इस काल में प्रकाशित कुछ पुस्तकों का परिचय दिया जा रहा है।

१. आर० सी० मिशन द्वारा प्रकाशित 'क्रैस्तव पुराण कथा संक्षेपमु' (१७२० ई०), २. बेंजुमन शूलजी का 'मोक्षानिकि कोंचु बोरयेत्रोबा' (१७४६ ई०) ३. ए० डी० ग्राजेस का अनूदित ग्रंथ 'मार्कुमतै, लूकासु वार्तलु' (१८१२ ई०), ४. एसु प्रभु, रक्षकुनि नूतन निब्रंधन। तीसरी और चौथी पुस्तक सीधे ग्रीक भाषा से एडवर्ड प्रिच्चेट नामक व्यक्ति ने तेलुगु में अनूदित किया (१८१८ ई०)। उपर्युक्त चारों ग्रंथों के लेखक या अनुवादक विदेशी थे।

ब्राउन काल (१८४०–१८६० ई०) : इस काल की उल्लेखनीय पुस्तक है 'ज्ञानबोधमु (१८४० ई० में प्रकाशित)। यह पुस्तक मूलतः तमिल में लिखी गयी थी। ब्राउन ने लिखा है : 'इस ग्रंथ में ईसाई धर्म के उपदेश संकलित हैं। पुस्तक बोलचाल की तेलुगु में अनूदित है।'

इस काल में तेलुगु में कहानियाँ लिखी जाने लगी थीं। आंध्रेतर लोगों, विशेष रूप से अंग्रेज़ों को तेलुगु सिखाने के लिए कहानियाँ सहायक सिद्ध हुईं। 'विक्रमार्कुनि कथलु' और 'पंचतंत्र कथलु' नामक दो पुस्तकें फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज कॉलेज (मद्रास) में तेलुगु के अध्यापक रावि पाटि गुरुमूर्ति शास्त्री ने लिखीं। ईसाई धर्म से संबंधित पुस्तकों की गणना न की जाय तो सर्वप्रथम छपने वाली तेलुगु पुस्तक 'विक्रमार्कुनि कथलु' है। यह पुस्तक पहली बार १८१९ ई० में छपी और १८२८, १८५० तथा १८५८ ई० में इसके अन्य संस्करण प्रकाशित हुए। पुस्तक में विक्रमार्क की साहित्यिक कथाएँ हैं। 'पंचतंत्र कथलु' १८३४ ई० में प्रकाशित हुई। संस्कृत 'पंचतंत्र की कहानियाँ तेलुगु में अनूदित हैं। इस प्रसंग में पाटुरि रामस्वामीजी की 'शुक सप्तति कथलु' (१८४० ई०), धूर्जटि लक्ष्मीपति की 'हंस विंशति' (१८४२), वाड्रेवु वेंकटय्या की 'बत्तीस पुत्री कथलु' (१८४७) उल्लेखनीय हैं।

इस काल में पुराणों तथा रामायण और महाभारत के आधार पर कुछ ग्रंथ लिखे गये। सिंहराजु दत्तात्रेयलु तथा वेंकट सुब्बैया का 'रामायण वचनमु' (१८४० ई०), पौडिपाटि पापैया का 'रंगनाथ रामायण वचनमु' (१८४० ई०), पाटूरि रंग शास्त्रलु का 'विजय विलासमु' (१८४१ ई०), वैयाकरणमु रामानुजाचार्य का 'आदिपर्व वचनमु' (१८४७ ई०), मुदिगुंडा नागलिंगाराध्यलु का 'शिवरहस्य खंडनमु' (१८५२ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यात्रा-वर्णन

इस काल में कई यात्रा-वर्णन प्रकाशित हुए, जिनमें सर्वप्रथम एनुगुल वीरस्वामी के 'काशी-यात्रा-चरित्र का नाम लिया जा सकता है। वीरस्वामी ने बोलचाल की भाषाओं में अपनी दैनंदिनी लिखी, जिसे उनके मित्र कोमलेश्वरपु श्रीनिवास पिल्ले ने १८३० ई० में प्रकाशित किया। कोला शेषाचल कवि की 'नीलगिरि यात्रा' नामक पुस्तक भी उल्लेखनीय है। शेषाचल कवि ने थामस सिप्सन नामक अंग्रेज के साथ 'नीलगिरि (उदकमंडल) की यात्रा की थी। इसी यात्रा का वर्णन 'नीलगिरि यात्रा' में है। १८४६ -४७ ई० में यह पुस्तक लिखी गयी। भाषा परिमार्जित है।

पत्र-पत्रिकाओं के कारण भी गद्य के विकास में बहुत सहायता मिली। १९ वीं शती की प्रमुख पत्रिका 'वर्तमान तरंगिणी' है। इस पत्र में कविता, कहानी, यात्रा-वर्णन तथा विविध विषयों पर लेख छपा करते थे। पत्रिका ने अनेक 'चिट्ठियाँ' छापी हैं। तेलुगु में पत्र-लेखन के आरंभकर्ता हैं--चार्ल्स ब्राउन। ब्राउन ने समय-समय पर जो पत्र तेलुगु में लिखे, वे दस खंडों में प्रकाशित हो चुके हैं। ये पत्र तत्कालीन समाज तथा साहित्य का दर्पण हैं। इसी काल में कुछ शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक ग्रंथ भी लिखे गये। कर्नल मेकेंज़ी का साहित्यिक पथप्रदर्शक कावलि वेंकट बुर्रैया ने 'कांचीपुर माहात्म्यमु' (१८०२ ई०) लिखा। सरस्वती बाई की रचना 'पाकशास्त्र' का अनुवाद वेंकट स्वामी ने १८३६ में किया। वैद्यनाथ सिद्धांती की भूगोल-दीपिका (१८४३ ई०) नामक पुस्तक इस काल की रचनाओं में प्रमुख मानी जाती है।

चिन्नय सूरि का युग

१८५७ ई० में मद्रास विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। स्थापना-काल से ही यहाँ तेलुगु की पढ़ाई होने लगी। तब तक व्याकरणसम्मत तथा परिमार्जित गद्य बहुत कम प्रकाशित हुआ था। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में परिमार्जित गद्य में लिखी हुई पुस्तकों की माँग होने लगी। इस दिशा में चिन्नय सूरि ने बहुत प्रयत्न किया। चिन्नय सूरि व्याकरणसम्मत भाषा लिखने के आग्रही थे। शिक्षा विभाग में उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। उन्होंने जो कुछ लिखा, उसे पाठ्यक्रम में उचित स्थान मिला। व्याकरणसम्मत भाषा में सबसे पहले 'नीति चंद्रिका' लेखक चिन्नय सूरि नामक पुस्तक छपी। इस पुस्तक में 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' की कहानियाँ मित्रलाभमु, मित्रभेदमु, सन्धि और विग्रहमु नामक चार अध्यायों में लिखी जाने वाली थी, किंतु मित्रलाभमु और मित्रभेदमु नामक दो अध्याय ही लिखे गये। 'नीति-चंद्रिका ने उस समय तेलुगु गद्य का पथप्रदर्शन किया। पाठ्य-पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, व्याख्या, पत्र-लेखन तथा भाषण आदि में व्याकरणसम्मत भाषा का प्रयोग होने लगा। चिन्नय सूरि के पश्चात कोक्कोंडा वेंकट-रत्नम् पंतुलु ने १८६६ में सूरि की अधूरी पुस्तक 'नीति-चंद्रिका' के संधि तथा विग्रह नामक अध्याय लिखे। १८७२ ई० में यह पुस्तक छपी और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के लिए स्वीकृत हुई। वेंकट रत्न द्वारा प्रकाशित तथा संपादित पत्रिका 'आंध्र भाषा संजीवनी' में व्याकरणानुमोदित भाषा का प्रचार किया। १८७७ ई० में वेंकटरत्नम पंतुलु ने 'प्रिंस ऑफ़ वेल्स हिंदुस्तान दर्शनमु' नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक भी छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई।

एक ओर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के लिए व्याकरणसम्मत परिमार्जित गद्य लिखा जा रहा था, दूसरी ओर सामान्य जनता के लिए कहानियाँ प्रकाशित हो रही थीं। कहानियों की भाषा बोलचाल की भाषा के निकट थी। इस काल के कथा-संग्रहों में 'परमानंद गुरुवुल कथलु' (१८६१ ई०), तडकमळ्ळ वेंकट कृष्णराव का 'अरेबियन नाइट्स कथलु' (१८६२ ई०), येर्रमिल्ली मल्लिकार्जुनुडु का 'चार दरवेश कथलु' (१८८१ ई०), चदलुवाड सीताराम शास्त्री का 'दक्कन पूर्वकथलु' नामक संग्रह उल्लेखनीय हैं।

पुराणों के आधार पर लिखी गयी पुस्तकें भी छपती रहीं। कार्मचि सुब्बारायलु नायडू का 'दशावतार चरित्र संग्रहमु' (१८६१), तिम्मराजु लक्ष्मणराय कवि का 'मार्कंडेय पुराण संग्रहमु' (१८७६ ई०), कूर्मपुराण संग्रहमु (१८७७ ई०) आदि ग्रंथों में व्याकरणसम्मत किंतु सरल भाषा का प्रयोग हुआ है।

वीरेशलिंगम का युग

यह युग १८९० ई० से प्रारंभ होता है। १९०० ई० से तेलुगु-साहित्य पर वीरेशलिंगम पंतुलु का प्रभाव परिलक्षित होने लगा, वैसे उन्होंने १८९० ई० से ही लिखना प्रारंभ किया था। १८९९ ई० में पंतुलु की रचनाएँ संकलित रूप में प्रकाशित हुईं। इन संकलनों में प्रयुक्त भाषा का अनुकरण पठित समाज ने किया। पंतुलु की भाषा व्याकरणसम्मत होते हुए भी दुर्बोध नहीं है। पंतुलु के समय में तेलुगु गद्य ने बहुमुखी विकास किया। यहाँ साहित्य के मुख्य-मुख्य अंगों का उल्लेख किया जाता है।

उपन्यास

अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव से तेलुगु में जिन नयी साहित्यिक विधाओं का समावेश हुआ है, उनमें उपन्यास लिखने की विधा सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। १८६७ ई० में कोक्कोंडा वेंकटरत्नम पंतुलु ने 'महाश्वेता' और नरहरि गोपालकृष्णम्म शेट्टी ने १८७२ ई० में 'रंगराय चरित्र' नामक ग्रंथ लिखे। दोनों लेखकों ने अपने ग्रंथों को 'उपन्यास' की संज्ञा नहीं दी। वीरेश-लिंगम पंतुलु ने गोल्डस्मिथ के 'विकार ऑफ़ वेकफ़ील्ड' के आधार पर 'राजशेखर चरित्र' नामक उपन्यास लिखा। तेलुगु के प्रथम उपन्यास होने का गौरव इसी ग्रंथ को प्राप्त है। वीरेशलिंगम पंतुलु ने अपने पत्र 'चिंतामणि' के द्वारा उपन्यास-लेखन को प्रोत्साहित किया। खंडवल्ली रामचंद्रुडु का 'धर्मवती विलासमु', तल्लाप्रगट सूर्यनारायण राव का 'संजीवराय चरित्रमु', चिल्लकमर्ति लक्ष्मी नरसिंहमु का 'रामचंद्र विजयमु' नामक उपन्यास धारावाहिक रूप से 'चिंतामणि' में छपे।

कुछ ऐतिहासिक ग्रंथ भी प्रकाशित हुए। बुक्कपट्टणमु राघवाचार्यलु का 'तेनुगु राजुल चरित्रमु' १८८१ में लिखा गया, किंतु मुद्रित नहीं हो सका। वीरनागय्या का 'चाणक्य चरित्र' प्रकाशित हुआ। गुरुजाड राममूर्ति पंतुलु ने इन्हीं दिनों तेलुगु भाषा का प्रथम साहित्यिक इतिहास 'आंध्र कवि जीवितमुलु' लिखा। राममूर्ति पंतुलु के दो अन्य ग्रंथ भी प्रकाशित हुए: १. 'वेंड-पूडि अन्नमंत्री चरित्र' (१८९७ ई०), २. 'तिम्मुरुसु चरित्र' (१८९८ ई०)।

अंग्रेज़ी के प्रभाव से ही तेलुगु में निबंध तथा भाषण लिखे गये। १८८१ में वावेलाला वासुदेव शास्त्री का 'आंध्र भाषनु गूर्चिन उपन्यासमु' नामक भाषण-संग्रह उल्लेखनीय है। गोपाल राव नायडु का 'आंध्र भाषा चरित्र संग्रहमु' १८९६ ई० में प्रकाशित हुआ। १८८५ और १८९० के मध्य अनेक अच्छे निबंध 'चिंतामणि' तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। आलोचनात्मक निबंध इसी युग में लिखे जाने लगे। दक्षिणामूर्ति ने पिंगलि सूरन्ना के बारे में कई निबंध लिखे।

काशीभट्ट ब्रह्मैया शास्त्री, विन्नेटि रामचंद्र राव तथा अन्य लेखकों ने अनेक आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित किये।

वीरेशलिंगम पंतुल की रचनाएँ

चिन्नय सूरि द्वारा प्रवर्तित गद्य-शैली का विकास वीरेशलिंगम पंतुलु ने किया। सूरि का गद्य प्रौढ़ तथा विद्वानों द्वारा अनुकरणीय था। वीरेशलिंगम पंतुलु का गद्य सरल होते हुए भी साहित्यिक और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति कर सका। पंतुलु मुख्यतया गद्य-लेखक थे। वे गद्य-तिक्कना कहलाये। इनकी भाषा सरल, परिमार्जित और सजीव थी। पंतुलु ने उपन्यास, कहानी, जीवन-चरित्र, निबंध, प्रहसन, आलोचना, ऐतिहासिक ग्रंथ, ज्ञान संबंधी पुस्तकें तथा भाषण लिख कर साहित्य की सर्वांगीण उन्नति की। अच्छे पत्रकार थे। पंतुलु की मुख्य रचनाएँ हैं—सत्यराज पूर्वदेशयात्रलु, विक्टोरिया महाराज्ञी चरित्र, समाज-सुधार संबंधी लेख, विग्रह-तंत्र विमर्श, देशी रियासतों का इतिहास, स्वीय चरित्र (आत्मकथा), आंध्र कवुल चरित्र (११वीं शती से १९०० तक के तेलुगु कवियों का विवरण)।

तेलुगु में स्वीय चरित्र (आत्मकथा) लिखने वाले सर्वप्रथम लेखक वीरेशलिंगम पंतुलु ही थे। 'हास्य संजीवनी में प्रकाशित निबंध और सार्वजनिक सभाओं में दिये गये अनेक भाषण वीरेशलिंगम की बहुज्ञता के परिचायक हैं।

आधुनिक युग (१९१०-१९६५ई०)

वीरेशलिंगम् ने तेलुगु की जिस गद्य-शैली का परिष्कार किया था, वह इस युग में बहुत विकसित हुई। इसका बहुत कुछ श्रेय गिडगु राममूर्ति जी के उस आंदोलन को है, जो उन्होंने बोलचाल की भाषा के प्रचार के लिए प्रारंभ किया था। इस आंदोलन के कारण गद्य में बोलचाल की तेलुगु को स्थान मिला। १९१० से १९६५ ई० तक उपन्यास, कहानी, आलोचनात्मक निबंध और विचारात्मक निबंधों ने पर्याप्त विकास किया है। यहाँ इस विकास की संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करके मैं इस निबंध को समाप्त करता हूँ।

आधुनिक तेलुगु उपन्यास की चर्चा करते समय सबसे पहले विश्वनाथ सत्यनारायण का नाम लिया जा सकता है। 'एकवीरा' इनका पहला उपन्यास है। 'एकवीरा उपन्यास शैली, कथा तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अन्यतम है। 'चलियलि कट्टा', 'स्वर्गानिकि नित्यनलु', 'तिरचि राजु' विश्वनाथ सत्यनारायण के अन्य उपन्यास हैं। 'वेइ पडगलु' परिमाण तथा गुण, दोनों दृष्टियों से विशाल है। यह उपन्यास समकालीन राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का दर्पण है। कीर्तिशेष अडविबापि राजू अच्छे उपन्यासकार थे। नारायण राव, कोनंगि, हिमबिंदु राजू के उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में सामाजिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों का अच्छा समावेश हुआ है। बुच्चि बाबू का 'चिवर कुमिगि लेदि', जी० वी० कृष्णराव का 'कीलि-कंबुलु', बलिवाड कांताराव का 'गोडमीदि बम्मा' श्रेष्ठ कोटि के सामाजिक उपन्यास हैं। नोरि नर्सिह शास्त्री का 'रुद्रमदेवी', नारायण भट्टु तथा मल्ला रेड्डी नामक उपन्यास बहुत लोकप्रिय

हैं। इन उपन्यासों की भाषा ग्रांथिक तेलुगु है। श्रीमती मालती चंदूर, मुप्पाल रंगनायकम्मा, कौडूरि कौसल्यादेवी प्रतिष्ठित उपन्यास-लेखिकाएँ हैं।

कहानियों का लिखना इसी युग में प्रारंभ हुआ। थोड़े ही समय में यह अंग बहुत समृद्ध हो गया। सर्वप्रथम गुरजाड अप्पाराव ने नये ढंग की कहानियाँ लिखीं। चिलकमर्ति की कहानियाँ ग्रांथिक तेलुगु में हैं। कुछ कहानियाँ बोलचाल की तेलुगु और कुछ आंचलिक तेलुगु में लिखी गयीं। 'तरंगिणी', 'रागमालिका' तथा 'अंजलि' अडवि बापुराजू के लोकप्रिय कहानी-संग्रह हैं। सुब्रह्मण्य शास्त्री के कथा-संग्रहों में भी कई अच्छी कहानियाँ हैं। गुडिपाटि वेंकटचलम् ने यौन-कथाएँ लिखी हैं। कुडवटिगंटि कुटुंबराव सामाजिक परिवेश की कहानियाँ लिखते हैं। चरित्र-चित्रण, व्यंग्य और कुतूहल, ये तीनों कुटुंबराव की कहानियों में देखे जा सकते हैं। इन कहानियों में बोलचाल की भाषा प्रयुक्त हुई है। इनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं : 'पक्षिकोसम् वेलिऊन पंजरम्', 'लेचिपोइन मनिषि', 'आडजन्म'। चिंता दीक्षितलु की 'एकादशी', पालगुम्मि पद्मराजु की 'गालि वाना', बुच्चि बाबू की 'निरंतर त्रयम्' तेलुगु की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। भरद्वाज, धनिकुंडा, मदुरांतकम राजाराम, भास्कर भट्ल कृष्णराव, पोट्लापल्लि रामाराव, सांबशिव राव, मंजुश्री भानुमती रामकृष्ण, रामलक्ष्मी, जानकी राणी आदि तेलुगु कहानियों के विकास में योग दे रहे हैं।

निबंधकारों में अग्रगण्य हैं—पानुगंटि लक्ष्मीनरसिंह राव। इनके साक्षि निबंध विषय विविधता, शैली, सरलता तथा चमत्कार के कारण बहुत लोकप्रिय हैं। मुटनूरि कृष्णाराव का 'समीक्षा' नामक निबंध-संग्रह उल्लेखनीय है। कोमरराजु लक्ष्मणराव, मल्लमपल्ली सोमशेखर शर्मा तथा कोराड रामकृष्ण राव के ऐतिहासिक और आलोचनात्मक निबंध तेलुगु-साहित्य की अमूल्य निधि है। पाश्चात्य ढंग के आलोचना-शास्त्र का अनुकरण करते हुए कुछ लेखकों ने तेलुगु साहित्य का मूल्यांकन किया है। कट्टमंचि रामलिंगा रेड्डी का 'कवित्व तत्व विचारमु' महत्वपूर्ण आलोचना-ग्रंथ है। 'तेलुगु महाभारत' के संबंध में विश्वनाथ सत्यनारायण की 'नन्नयगारि प्रसन्न-कथा कलितार्थ युक्ति' प्रकाशित हुई। 'प्रबंध पात्रलु', 'प्रबंध नायिकलु' और 'आंध्र भारत कविता विमर्शनमु' नामक आलोचना-ग्रंथ विशेष स्थान रखते हैं।

इस काल में साहित्येतिहास और शोध संबंधी कुछ उच्च कोटि की पुस्तकें प्रकाशित हुईं। खंडवल्ली लक्ष्मीरंजनम् का 'आंध्र साहित्य चरित्र संग्रहमु', दिवाकर्ल वेंकटावधानी का 'आंध्र वाङमय चरित्र', कुरुगंटि सीतारामैया का 'नूत्यांध्र साहित्य वीथिलु' नामक ग्रंथ तेलुगु-साहित्य के विकास से परिचित कराते हैं। कीर्तिशेष वेटूरि प्रभाकर शास्त्री शोध संबंधी साहित्य के प्रवर्तक हैं। कीर्तिशेष सुरवरम् प्रताप रेड्डी ने साहित्य संबंधी शोध के आधार पर 'आंध्रलु सांघिक चरित्रमु' नामक ग्रंथ लिखा। गंटिजोगि सोमयाजि का 'आंध्रभाषा विकासमु', मीडदवोलु वेंकटराव का 'दक्षिणांध्र साहित्यमु' उच्च कोटि के अनुसंधान कार्य को प्रकट करते हैं।

—अनु० : श्रीराम शर्मा, ई० कृष्णमूर्ति।

भंडारम भीमसेन जोस्युलु

(भीमसेन 'निर्मल')

तेलुगु का कथा-साहित्य

प्राचीन भारतीय साहित्य कहानी के अनेक रूपों से भरा पड़ा है। किंतु आधुनिक कहानी 'बृहत्कथा', 'कथासरित्सागर', 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' आदि की कहानियों से एकदम भिन्न है। आज की भारतीय कहानी उक्त प्राचीन भारतीय परंपरा को छोड़ पश्चिमी साहित्यिक प्रवृत्तियों की अनुगामिनी बनी हुई है। आधुनिक आंध्र गद्य-साहित्य में कहानी ने अपनी क्रमिक और समुचित परिणति के कारण अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है और वह समस्त भारतीय साहित्य में गौरवप्रद स्थान का अधिकारी बन चुकी है। यद्यपि तेलुगु-साहित्य की अन्योन्य विधाएँ भी सुसंपन्न हैं, तथापि यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आंध्र अपनी 'कहानी' पर गर्व का अनुभव कर सकता है। संक्षिप्तता, विषय की एकोन्मुखता, चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता, प्रभाव की एकाग्रता आदि विशिष्ट गुणों से युक्त हो तेलुगु के कथा-साहित्य ने समस्त भारतीय साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

आधुनिक तेलुगु-साहित्य के युगपुरुष वीरेशलिंगम पंतुलु ने यदि किसी साहित्य-विधा को स्पर्श नहीं किया, तो वह कहानी है। यह सौभाग्य गुरुजाड अप्पाराव का रहा है। सन १९१० में अप्पाराव जी ने अपनी पहली कहानी अंग्रेजी में प्रकाशित की। तदनंतर उन्होंने तेलुगु में कई कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'आप का नाम ?', 'सुधार' आदि उल्लेखनीय हैं। हाल ही में अप्पाराव जी की कहानियों का संग्रह 'आणिमुत्यालु' (चोखे मोती) के नाम से प्रकाशित हुआ है। अप्पाराव जी समाज-सुधार के प्रेमी थे। भाषा के क्षेत्र में भी 'ग्रांथिक भाषा' को छोड़ 'व्यावहारिक भाषा' को ही आपने प्रश्रय दिया। अप्पाराव जी ने लघुकथा-रचना की जो परंपरा चलायी, वह आज तक अबाध रूप से चली आ रही है और प्रत्येक वर्ष हजारों की संख्या में कहानियाँ प्रकाशित हो रही हैं।

वेदमु वेंकटराय शास्त्री और चिलकमर्ति लक्ष्मी नरसिंहम ने प्राचीन ढर्रे की बहुत सी कहानियाँ लिखी थीं। शास्त्री जी ने संस्कृत के कथा-साहित्य के सुंदर अनुवाद भी प्रस्तुत किये हैं।

शतावधानी और महापंडित वेलूरि शिवराम शास्त्री जी ने प्राचीन और नवीन का सामंजस्य करते हुए विभिन्न विषयों की पृष्ठभूमि पर सुधारवादी दृष्टिकोण से कई कहानियाँ लिखी हैं। 'आनंदभवनमु' नाम की कहानी आदर्शवादी परंपरा की सर्वश्रेष्ठ रचना है। सभापति

तल्लावज्झल शिवशंकर शास्त्री (अब स्वामी) की 'नीलकंठम की कहानियाँ' सरस और लोकप्रिय हुई हैं।

श्रीपाद सुब्रह्मण्य शास्त्री प्रथम श्रेणी के कहानीकार थे। पश्चिमी प्रभाव से असंपृक्त तेलुगु कथा-साहित्य का ठेठ रूप सुब्रह्मण्य शास्त्री की कहानियों में परिलक्षित होता है। इनकी रचनाएँ प्राचीनतावादी परिवारों के वातावरण की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। सहज-सुंदर वार्तालाप और यथार्थ घटनाओं से युक्त ये कहानियाँ अमृत की बूंदें मानी गयी हैं। शास्त्री जी की कहानियों के आठ संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपने केवल वार्तालापमय कुछ कहानियाँ भी लिखी थीं।

तेलुगु कहानी के क्षेत्र में कथा-वस्तु, भावाभिव्यक्ति, शैली और भाषा में क्रांति उपस्थित करने वाले हैं गुडिपाटि वेंकटचलम्। परंपरा का विरोध और स्वेच्छाराज आपको प्रिय रहे हैं। कथा-साहित्य के इतिहास में आप 'विपथगा' और 'विप्लवकारी' के नाम से प्रख्यात हैं। विरोधी वर्ग की कटु आलोचनाओं का सामना करते हुए भी अचंचल रहे हैं 'चलम्'। जिन्हें इनकी रचनाएँ पसंद आयीं, उन्होंने तो इन्हें उपदेष्टा और द्रष्टा कहा है, दूसरों ने बाढ़ और उपद्रव। जो भी हो, ये अत्यंत प्रज्ञाशील लेखक थे और एक तरह से आधुनिक कहानी में शक्ति और जीवन का प्रसार करने का श्रेय आप ही को है। 'हंपी कन्याएँ', 'सिनेमा-ज्वर' आदि प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

कवि-सम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण कहानी-रचना में भी सिद्धहस्त हैं। कविता के समान ही आपकी कहानी में शिल्प अद्वितीय है। 'तीन भिखारी', 'माक्ली दुर्ग का कुत्ता', 'ज़मींदार का लड़का', रिसर्च स्कॉलर' आदि आपकी सुंदर कहानियाँ हैं। आधुनिक सभ्यता पर कटु व्यंग्य आपकी कुछ कहानियों में परिलक्षित होता है।

अडिवि बापिराजु की रचनाओं में समस्त ललित कलाओं का समन्वित रूप परिलक्षित होता है। वाणी-वर्णन से परे रूप को चित्र में और चित्र के अतीत भाव को वाणी के द्वारा अभिव्यक्त कर सकने वाले आप सहज कलाकार थे। कल्पना-वीथियों में विहार करते हुए आपने कई सुंदर कहानियाँ लिखी हैं।

कहानी की रचना और आलोचना में भी कुशल हैं कोडवटिगंटि कुटुंब राव। प्रगतिशील दृष्टिकोण ले कर मध्यम वर्ग का यथार्थ चित्रण करने में आप सिद्धहस्त हैं। विभिन्न विषयों को ले कर विभिन्न प्रकार की कहानियों को लिखने वालों में आप उल्लेखनीय हैं। तेलुगु कथा-साहित्य में 'गल्पिका' नामक कथा-भेद की रूप-कल्पना करने वाले हैं आप।

क्लांत और श्रांत दैनिक जीवन में माधुर्य भरने वाली मृदु मधुर हास्य-रचना करने वालों में मुनिमाणिक्यम नरसिंह राव सर्वप्रथम हैं। आपकी कहानियों की नायिका 'कांतम' तेलुगु-साहित्य में अमर बन गयी है। दुखपूर्ण और निराशामय पारिवारिक जीवन को रसपूर्ण सिद्ध किया है मुनिमाणिक्यम ने। आंध्र देश में कथा-साहित्य के अत्यधिक प्रचार का कारण 'कांतम' की कथाएँ हैं, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी।

'बैरिस्टर पार्वतीशम' नामक हास्य-व्यंग्यप्रधान प्रसिद्ध उपन्यास लिखने वाले मोक्कपाटि नरसिंह शास्त्री जी ने पारिवारिक जीवन का चित्रण करते हुए हास्यपूर्ण तथा गंभीर कहानियाँ लिखी हैं।

कथा-चक्रवर्ती के नाम से प्रसिद्ध चिंता दीक्षितुलु ने कहानी की रूपरेखाओं का निर्माण कर, छोटी-बड़ी सभी अवस्थाओं वाले पाठकों की रुचि के अनुकूल कई कहानियाँ रची थीं। प्राचीन परंपरा के समर्थक होते हुए आपने आधुनिक सभ्यता पर मीठी चोटें की हैं। आपकी कहानियों में मधुर व्यंग्य पाठक को गुदगुदा देता है।

अच्छे पंडित होते हुए भी भावुक हृदय के साथ रचना करने वालों में इंद्रगंटि हनुमच्छास्त्री प्रसिद्ध हैं। स्केच और कल्पना-चित्र कहलाने वाली आपकी रचनाओं में कहानी-शिल्प के उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

करुण कुमार की कहानियाँ अपने लेखक के उपनाम को सार्थक करती हैं। ग्रामीण जनता के पीड़ित जीवन के करुण चित्रों से ये कहानियाँ भरी पड़ी हैं। ग्रामीण जीवन की गहराइयों तथा मानव-मनोविज्ञान की प्रवृत्तियों का चित्रण आपकी कहानियों को पठनीय बनाता है।

मनोविश्लेषण को महत्व देते हुए कहानी-रचना करने वालों में पालगुम्मि पद्मराजु, गोपीचंद, बुच्चि बाबू आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पद्मराजु ने संख्या में कम कहानियाँ लिखी हैं, किंतु इतनी ही कहानियाँ आपकी अपार कीर्ति के कारण बनी हुई हैं। 'तूफ़ान' नामक कहानी ने विश्व-लघुकथा-प्रतियोगिता में द्वितीय पुरस्कार प्राप्त कर तेलुगु भाषा को अनन्य गौरव समलंकृत किया है। कहानी का निर्माण, संयोजना-क्रम, संवादों की सहज सुंदरता आदि इन कहानियों की विशेषताएँ हैं। ग्रामीण तथा नागरिक जीवन के कई मनोवैज्ञानिक चित्र आपने प्रस्तुत किये हैं।

गोपीचंद इस युग के अत्यंत प्रतिभाशाली तथा सबल कहानीकार हैं। उपन्यासकार, कहानीकार होने के साथ-साथ आप अच्छे आलोचक हैं। आपकी रचनाएँ पाठक के मस्तिष्क को उद्वेलित कर चिंतन के लिए बाध्य कर देती हैं। ऐतिहासिक घटना-क्रमों, सामाजिक परिस्थितियों, व्यक्तियों की मानसिक गतिविधियों और उनके कारणभूत भिन्न-भिन्न वातावरण को समझ कर रचना करने वाले बौद्धिक लेखक हैं गोपीचंद। वे हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक प्रभावित करते हैं।

इस धारा के लेखकों में बुच्चि बाबू का स्थान विलक्षण है। आप पहले अंग्रेज़ी के प्राध्यापक रह चुके थे, अतः आपकी रचना-शैली पर अंग्रेज़ी का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आपकी कहानियों की विशिष्टता है। रचना-शिल्प पर संपूर्ण अधिकार होने से बुच्चि बाबू अपनी कहानियों में विविधता ला सके हैं। रचनाओं में दृष्टिगत होने वाले उपमान, लेखक की व्युत्पत्ति को बतलाते हैं तो व्याख्याएँ प्रतिभा को। फ़ायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को पचा कर उनके आधार पर भारतीय जीवन का विश्लेषण कर उसका चित्रण करने वालों में बुच्चि बाबू अद्वितीय हैं।

भरद्वाज, धनिकोंडा, अनिसेट्टि आदि अपनी रचनाओं में मनोविश्लेषण को प्राधान्य देते हैं तो शंडिला, मधुरांतकम राजाराव, बलिवाडा कांताराव, भास्कर भट्ला कृष्णाराव, के० विवेकानंद मूर्ति, इसुकपल्लि लक्ष्मी नरसिंह शास्त्री, अवसराल रामकृष्ण राव आदि पारिवारिक जीवन की समस्याओं के चित्रण को। अन्य उदीयमान लेखक भी अपनी रचनाओं से तेलुगु कथा-साहित्य को सुसंपन्न बना रहे हैं। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओं में कुल मिला कर वर्ष भर में लगभग ४-५ हज़ार कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं।

तेलुगु कथा-साहित्य को संपन्न बनाने वालों में श्रीमतियों की संख्या भी कम नहीं है। इस दशक में तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने ही संभवतः अधिक कहानियाँ लिखी हैं। लेखिकाओं की रचनाओं में पारिवारिक जीवन के सुंदर, सरस तथा मार्मिक चित्र दृष्टिगत होते हैं। श्रीमती इल्लिंदल सरस्वती देवी, मालती चंदूर, वसुंधरा, अद्देपल्लि विवेकानंद देवी, नंदगिरि इंदिरा देवी, वासिरेड्डी सीतादेवी, ए० रमादेवी, छाया देवी, डॉ० श्री देवी, तुरगा जानकी राणी, द्विवेदुल विशालाक्षी, बी० एस० अच्युतवल्ली, मुप्पाल रंगनायकम्मा, बीना देवी, यद्दनपूडि सुलोचना राणी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

तेलुगु में अन्य भाषाओं की श्रेष्ठ कहानियों के सुंदर अनुवाद प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। प्राच्य और पाश्चात्य कहानी-साहित्य के द्वारा नूतन चैतन्य और शक्ति का अनुभव कर आंध्र के लेखक कई सुंदर तथा मौलिक रचनाएँ कर रहे हैं।

—१-१-४०५/७, गांधी नगर,
मशीराबाद, हैदराबाद–२०।

उस प्रकार विदेशी शब्दों का आयात नहीं रोका जा सकता, जिस प्रकार विदेश-निर्मित वस्तुओं का। शायद अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा तेलुगु बाहर से आये शब्दों को अधिक सहजता से स्वीकारती है। यह उदार प्रवृत्ति निश्चय ही आधुनिक विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र और अभियांत्रिकी के शिक्षण के माध्यम के रूप में तेलुगु को हिंदी के समान क्षमता दिलाने में सहायक होगी।

—जे० बी० एस० हाल्डेन।
('हिंदू', २७ अप्रैल, १९५८)
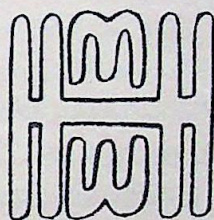
तेलुगु को दक्षिण की भाषाओं में सबसे उत्तर वाली या उत्तर की भाषाओं में सबसे दक्षिण वाली कह सकते हैं और इसमें दोनों भाषा-वर्गों की श्रेष्ठताएँ हैं पर कमियाँ नहीं। तेलुगु नमनीय, गतिशील, स्वांगीकारी, सरल और श्रुतिमधुर भाषा, है। यह कभी संकीर्ण प्रांतीयता की भावना से आक्रांत नहीं हुई।

—डॉ० जी० होमफ़ील्ड मैक्लाउड।
('हिंदू', १६ जुलाई, १९५८)

भीमसेन 'निर्मल'
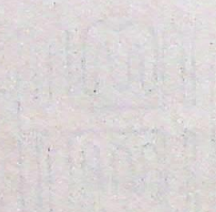
आंध्र में हिंदी

भौगोलिक तथा राजनीतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत की सांस्कृतिक एकता को बनाये रखने में 'मध्यदेश' की भाषा का प्रमुख स्थान रहा है। धर्मप्राण भारतीय जनता को एक सूत्र में बाँध रखने का कार्य, शतियों से संस्कृत भाषा द्वारा संपन्न होता आ रहा है। बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रचार तथा प्रसार के साथ-साथ पालि-प्राकृत की भी देश भर में विशेष परिव्याप्ति रही होगी। धर्म के अतिरिक्त राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक-संबंधों के निर्वाह के लिए भी 'मध्यदेश' की भाषाएँ अपने-अपने समय में अंतःप्रांतीय व्यवहार का माध्यम रही हैं। 'मध्यदेश' की जनता के देश के चारों ओर फैलने के साथ-साथ उनकी भाषाएँ भी देश भर में फैलती गयीं, भले ही उनका रूप प्रादेशिक भाषाओं के प्रभाव से अलिप्त न रहा हो। 'मध्यदेश' की भाषाओं तथा आर्यावर्त की अन्य भाषाओं में संस्कृत की उतराधिकारिणी तथा शौरसेनी की आत्मजा हिंदी को देश की सामान्य भाषा 'कामन लैंग्वेज' अथवा सार्वदेशिक भाषा—'लिंग्वा-फ्रैंका' बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस तथ्य के कई प्रमाण मिलते हैं कि मध्य युग में हिंदी-हिंदुस्तानी देश भर में समझी अवश्य जाती थी। अर्थात अंग्रेज़ों के आगमन से पूर्व प्रादेशिक भाषाओं के साथ हिंदी-हिंदुस्तानी का अस्तित्व प्रत्येक प्रांत में रहा होगा। परंतु अंग्रेज़ों के शासन-काल में प्रादेशिक भाषाओं के साथ अंग्रेज़ी को जोड़ कर सार्वदेशिक व्यवहारसंपन्न हिंदी भाषा को बरबस उस स्थान से हटाया गया।

आजकल प्रायः सुना जाता है कि दक्षिण में हिंदी का विरोध हो रहा है और यह बात आज बहुत हद तक सत्य भी है। किंतु विरोध की इस भावना के पीछे केवल राजनीतिक पचड़े ही हैं। यदि हम अपने देश के सांस्कृतिक इतिहास पर ध्यान देंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि विरोध की इस भावना को साहित्यिक तथा धार्मिक क्षेत्र में कभी स्थान नहीं मिला है। प्रस्तुत लेख में ऐतिहासिक क्रम से आंध्र में हिंदी के अस्तित्व तथा प्रचार का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायगा।

आंध्र में हिंदी रचना का सर्वप्रथम प्रमाण शाह जी महाराज (१६८४-१७१२) के लिखे यक्षगान हैं। भोसलवंशीय शाह जी ने १७वीं शती में तंजावूर पर शासन किया था। संगीत और साहित्य के प्रकांड विद्वान, उत्कृष्ट कवि और अनन्य आश्रयदाता के रूप में शाह जी महाराज तेलुगु साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय स्थान के अधिकारी बने हुए हैं। उन्होंने तेलुगु भाषा में २१ यक्षगानों की रचना की थी। शाह जी के लिखे हिंदी यक्षगानों में 'राधा

बनसीधर विलास नाटक' राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग के वर्णन से संबद्ध है तो 'विश्वातीत विलास नाटक' शिव की महिमा का वर्णन करता है। इन नाटकों की भाषा के हिंदी होने पर भी इनमें प्रयुक्त गीतों के राग-ताल कर्नाटक संप्रदाय के अनुरूप हैं। दक्षिण भारत के संगीत के साँचे में हिंदी भाषा को ढालने का यह प्रथम एवं सफल प्रयास है, जो राष्ट्रीय भाव समैक्य का सुंदर उदाहरण उपस्थित करता है।

सन १८८४-८६ के मध्य मछलीपट्टणम के निवासी तेलुगु और संस्कृत के विद्वान नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि ने 'हिंदुस्थानी' में एकाध नहीं, बत्तीस नाटकों की रचना की थी। पुरुषोत्तम जी की हिंदी रचनाओं की लिपि तेलुगु है। पुरुषोत्तम जी के अतिरिक्त उस समय हिंदी नाटकों की रचना करने वाले और उन्हें अभिनीत करने वालों के बारे में उल्लेख मिलते हैं। अतः स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में आंध्र देश में पर्याप्त मात्रा में हिंदी में रचनाएँ लिखी गयी थीं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये सभी रचनाएँ स्वच्छंद रूप से लिखी गयी हैं और उस समय जब 'हिंदी' जीविका का साधन नहीं बनी थी। उन लेखकों पर न किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभाव था, न उनके सामने कोई राजकीय आदर्श ही था। ये रचनाएँ इस तथ्य को सिद्ध करती हैं कि इस रचनात्मक कार्य के पीछे 'मध्यदेश' की भाषा की सार्वदेशिकता की ही भावना थी, कोई राजनीतिक अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना नहीं थी।

२०वीं शती के प्रारंभ में पूज्य महात्मा जी की सत्प्रेरणा से दक्षिण भारत में नियत रूप से हिंदी का पठन-पाठन प्रारंभ हुआ। महात्मा जी का सदुद्देश्य था कि इस प्रकार के प्रयत्न से भाषा की विभिन्नताओं के कारण तथा अंग्रेजी शासन की कूटनीति के कारण खंडित भारत की आत्मा के एकत्व का परिचय कराया जा सकता है एवं समस्त राष्ट्र को 'भारतीयता' के एकसूत्र में निबद्ध किया जा सकता है।

सन १९१८ में इंदौर में हिंदी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक सम्मेलन हुआ, जिसके अध्यक्ष महात्मा जी थे। इस अधिवेशन में दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार का कार्य प्रारंभ कर देने का प्रस्ताव पास किया गया और तदनुसार १९१८ में मद्रास में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय' की स्थापना हुई। यही संस्था आगे चल कर 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' बनी और आज अपने विस्तृत तथा प्रशंसनीय कार्य के कारण राष्ट्रीय महत्व की संस्था बन सकी है। बापू जी ने प्रथम हिंदी प्रचारक के रूप में अपने पुत्र देवदास गांधी को और उनके साथ स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को मद्रास भेजा। सन १९१८ में सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में स्व० एनीबेसेंट ने मद्रास के जॉर्ज टाउन नामक मुहल्ले के गोखले हॉल में हिंदी वर्ग का उद्घाटन किया। तदुपरांत उत्तर से अवधनंदन, रामानंद शर्मा, हृषीकेश शर्मा, रामगोपाल शर्मा, रामभरोसे, रघुबरदयाल मिश्र, प्रतापनारायण वाजपेयी, पं० देवदूत विद्यार्थी, पं० नागेश्वर मिश्र आदि सज्जन दक्षिण में हिंदी प्रचार के लिए भेजे गये। इसके साथ-साथ दक्षिण में कुछ उत्साही नवयुवकों को उत्तर भारत भेजा गया। इन लोगों ने उत्तर जा कर हिंदी सीख ली तथा दक्षिण के हिंदी प्रचार-कार्य को सँभाला। इनमें पं० हरिहर शर्मा, क०

म० शिवराम शर्मा, जंध्याल शिवन्न शास्त्री, पीसपाटि वेंकट सुब्बाराव, मुडुंबि नरसिंहाचार्य, मल्लादि वेंकट सीतारामा जनेयुलु, एस० वी० शिवराम शर्मा, दम्मलपाटि रामकृष्ण शास्त्री, मेडिचर्ल वेंकटेश्वर राव, राजा मिट्टदोड्डि नरसिंहराव उल्लेखनीय हैं। प्रयाग, बनारस आदि नगरों में वर्ष भर रह कर हिंदी की शिक्षा प्राप्त कर ये युवक आंध्र के भिन्न-भिन्न केंद्रों में हिंदी का प्रचार करने लगे। इस कार्य को व्यवस्थित रूप देने के लिए आंध्र का प्रादेशिक कार्यालय नेल्लूर में सन १९२० में खोला गया। इसके संचालक रामभरोसे जी थे।

प्रारंभ से ही आंध्र की जनता ने गांधी जी के स्वराज्य-आंदोलन का हृदय से स्वागत किया। हिंदी प्रचार-कार्य तो गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम में एक है। अतः आंध्र के राजनीतिक नेताओं ने भी हिंदी प्रचार का समर्थन किया और इस कार्य में सक्रिय सहयोग दिया।

सन १९२१-२२ में राजमहेंद्रवरम में हिंदी प्रचारक विद्यालय ट्रेनिंग कॉलेज खोला गया। पं० हृषीकेश शर्मा तथा पं० रामानंद शर्मा उस विद्यालय के अध्यापक नियुक्त किये गये। इस विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वालों में उन्नव राजगोपालकृष्णय्या एस० वी० शिवराम शर्मा, भट्टारम वेंकट सुब्बय्य, उन्नव वेंकटप्पय्य, जंध्याल राममूर्ति, इरगवरपु रामसोमयाजुलु आदि प्रमुख हैं। ये सभी महानुभाव विगत ४०-४५ वर्षों से हिंदी प्रचार के कार्य में सक्रिय भाग ले रहे हैं।

दक्षिण के प्रचारकों को संगठित करने के उद्देश्य से १९२२ के दिसंबर मास में आंध्र प्रदेश के हिंदी प्रचारकों की एक बैठक बुलायी गयी। इस बैठक के फलस्वरूप मार्च १९२३ में दक्षिण भारत के सभी हिंदी प्रचारकों का प्रथम सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे भाई कोतवाल।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में सन १९२०, २१, २२ महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन दिनों असहयोग आंदोलन जोरों पर था। इसी समय अर्थात सन १९२३ के दिसंबर महीने में आंध्र प्रदेश के काकिनाडा नगर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। आंध्र के सैकड़ों हिंदी प्रचारकों ने इस अधिवेशन में स्वयंसेवक बन कर काम किया। स्वागत-समिति के अध्यक्ष स्व० देशभक्त कोंडा वेंकटप्पय्या जी ने हिंदी में ही अध्यक्षीय भाषण दे कर दर्शकों को मुग्ध कर दिया। इस अधिवेशन के कारण आंध्र प्रांत के हिंदी प्रचार-कार्य को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला।

हिंदी सीखने वाले विद्यार्थियों का उत्साह बढ़ाने के लिए परीक्षाएँ चलाने का कार्यक्रम सन १९२२ से शुरू किया गया। 'प्राथमिक', 'प्रवेशिका' और 'राष्ट्रभाषा' के नाम से तीन परीक्षाएँ चलायी जाने लगीं। इन परीक्षाओं के प्रमाण-पत्रों पर सन १९२७ तक हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के अधिकारी तथा मद्रास शाखा के संचालक और परीक्षामंत्री के हस्ताक्षर होते थे। इस प्रकार हिंदी प्रचार का कार्य प्रगति करता गया। फलतः हिंदी प्रचारकों की माँग बढ़ने लगी। इस माँग की पूर्ति के लिए सन १९२४-२५ में मद्रास में एक विद्यालय खोला गया। इस विद्यालय में एक वर्ष तक पढ़ कर और हिंदी प्रचारक सनद प्राप्त कर उत्साही नवयुवक अपने-अपने जिलों में हिंदी प्रचार-कार्य करने लगे।

सन १९२४ में कांग्रेस के नेता नगरपालिकाओं के अध्यक्ष चुने गये थे। उनके प्रयत्नों से काकिनाडा, राजमहेंद्री, विजयवाड़ा, गुंटूर, नेल्लूर आदि नगरों के म्युनिसिपल स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई की व्यवस्था की गयी। इसके बाद धीरे-धीरे ज़िलाबोर्डों के स्कूलों में भी हिंदी को स्थान मिला।

विभिन्न प्रांतों में कार्य-भार के बढ़ जाने से केवल मद्रास के कार्यालय से सारा काम चलाना असंभव सा हो गया। इसलिए आंध्र तथा तमिलनाडु में शाखा-कार्यालय खोले गये।

सन १९२७ में बापू जी की सलाह के अनुसार मद्रास के कार्यालय का नाम बदल कर 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार-सभा' रखा गया। सभा का अपना अलग संविधान बना और पूज्य बापू जी सभा के आजीवन अध्यक्ष चुने गये।

सन १९३० में मद्रास में दूसरी बार 'प्रचारक विद्यालय' चलाया गया। इस विद्यालय में 'राष्ट्रभाषा विशारद' नामक-उपाधि परीक्षा तथा 'प्रचारक' दोनों की पढ़ाई होती थी। साहित्यिक रुचि रखने वाले विद्यार्थियों के लिए 'विशेष योग्यता नाम की परीक्षा चलायी जाती थी, जो कालांतर में 'राष्ट्रभाषा प्रवीण' नामक उपाधि-परीक्षा में बदल दी गयी। विद्यालय, परीक्षा तथा साहित्य-निर्माण में सभा को परामर्श देने के लिए विभिन्न समितियों तथा उपसमितियों का निर्माण किया गया। इस प्रकार सन १९३२ से सभा का सारा कार्य व्यवस्थित और सुचारु रूप से चल रहा है।

साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा उत्तर और दक्षिण के मध्य सौजन्यपूर्ण सांस्कृतिक संपर्क स्थापित करने के लिए दक्षिण भारत हिंदी प्रचार-सभा की ओर से एक हिंदी प्रेमीयात्री-दल सन १९३४ में उत्तर भारत की यात्रा करने निकल पड़ा। इस यात्री-दल का नेतृत्व पद्मश्री मोटूरि सत्यनारायण जी ने किया और आंध्र की तरफ़ से उन्नव राजगोपालकृष्णय्य और स्व० डॉ० गुल्लपल्लि नारायण मूर्ति ने भाग लिया।

सन १९३६ के बाद आंध्र के हिंदी प्रचार के इतिहास में नया अध्याय शुरू होता है। प्रचार-कार्य को सुसंगठित करने के लिए दक्षिण के चार प्रांतों में चार प्रांतीय सभाओं की स्थापना की गयी। प्रांतीय सभाओं को अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचार-कार्य के आवश्यक सभी काम करने के अधिकार दिये गये। आंध्र राष्ट्र[1] हिंदी प्रचार संघ का कार्यालय बेजवाड़ा (अब विजयवाड़ा) में खोला गया। इस शाखा सभा के प्रथम अध्यक्ष स्व० देशभक्त कोंडा वेंकटप्पय्य जी थे, जो आजीवन इस पद को समलंकृत करते रहे। स्व० पीसपाटि वेंकट सुब्बाराव जी मंत्री के पद पर नियुक्त हुए। सन १९४८ से १९५४ तक स्व० टंगुटूरि प्रकाशम पंतुलु जी शाखा-सभा के अध्यक्ष रहे। आजकल डॉ० बी० गोपाल रेड्डी जी अध्यक्ष हैं। पी० वी० सुब्बाराव जी के निधन के पश्चात सन १९४१-१९५८ तक उन्नव राजगोपालकृष्णय्या और १९५९ में वेमूरि आंजनेय शर्मा और १९६० में चिट्टूरि लक्ष्मीनारायण शर्मा तथा जी० सुब्रह्मण्यम शाखा-भास के मंत्री रह चुके हैं। अब चंद्राभट्ला अप्पन्न शास्त्री इस पद पर हैं। शाखा-सभाओं

---

१. तेलुगु में 'राष्ट्र' का अर्थ 'प्रदेश' होता है।

के बनने के बाद विद्यार्थियों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई है। सन १९३६ में ही मद्रास प्रांत की सरकारी परीक्षा-एस० एस० एल० सी० (सेकेंड्री स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट) में भी (राजगोपालाचार्य के मंत्रिमंडल के शासन-काल में) हिंदी को स्थान मिला। स्व० डॉ० सी० आर० रेड्डी (जो तेलुगु-साहित्य में आधुनिक आलोचना के जन्मदाता माने जाते हैं) ने आंध्र विश्वविद्यालय में बी० काम० तथा बी० काम० आनर्स में हिंदी को परीक्षा के लिए अनिवार्य विषय बना दिया। यह भारतीय विश्वविद्यालयों के इतिहास में एक अविस्मरणीय घटना है। आंध्र में सर्वप्रथम बेल्लूर के वी० आर० कॉलेज में हिंदी की पढ़ाई होने लगी। भाट्टम वेंकटसुब्बय्या जी वहाँ के प्रथम हिंदी प्राध्यापक थे।

सन १९३८ में राजा जी ने मद्रास प्रदेश भर में (जिसमें आंध्र प्रदेश भी शामिल था) मिडिल स्कूल की कक्षाओं में हिंदी की शिक्षा को अनिवार्य बना दिया। तीन वर्ष के बाद जब कांग्रेसी मंत्रिमंडलियों ने त्यागपत्र दे दिया तो स्कूल में हिंदी शिक्षा के कार्य को थोड़ा धक्का लगा। किंतु सार्वजनिक रूप से जनता हिंदी सीखती रही।

सन १९४२ के आंदोलन के समय में जेलों में हिंदी प्रचार का जोर रहा। आंध्र के कई नेताओं ने इस समय हिंदी सीखी थी। स्व० अल्लूरि सत्यनारायण राजु ने (जो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री रह चुके हैं।) जेल में रहते समय हिंदी सीख कर महापंडित राहुल के 'वोल्गा से गंगा तक' का तेलुगु में अनुवाद किया है।

हैदराबाद में हिंदी प्रचार-कार्य के लिए सन १९३५ में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा के तत्वावधान में 'हैदराबाद राज्य हिंदी प्रचार-सभा' की स्थापना हुई। यह सभा हैदराबाद रियासत में सफलतापूर्वक हिंदी प्रचार का कार्य करती आ रही है और इसने संप्रति समस्त दक्षिण भारत को अपना कार्य-क्षेत्र बना लिया है। जिस समय हैदराबाद में हिंदी प्रचार-सभा की स्थापना हुई थी, उस समय हैदराबाद रियासत में हिंदी का नाम लेना भी महान अपराध माना जाता था। हिंदी को उस समय 'ग़ैर मुल्क़ी ज़बान' कहा जाता था। इन परिस्थितियों में भी हिंदी प्रचार-सभा के कार्यकर्ताओं ने एकांत निष्ठा, कर्तव्य-परायणता और अथक परिश्रम का समुज्वल प्रमाण प्रस्तुत किया था। सभा के प्रमुख कार्यकर्ताओं में लक्ष्मीनारायण गुप्त, रामगोपाल संघी, जितेंद्रनाथ वाघ्रे, विनायकराव विद्यालंकार, राजा पन्नालाल पित्ती, बदरीविशाल पित्ती, डॉ० मधुसूदन राव, डॉ० श्रीराम शर्मा, (स्व०) डॉ० वंशीधर विद्यालंकार, स्व० गोपाल राव अपसंगीकर के नाम उल्लेखनीय हैं। सभा के तत्वावधान में सन १९४९ में हिंदी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन बड़ी सफलता के साथ संपन्न हुआ। इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे स्व० चंद्रबली पांडेय।

सभा की तीन, आंध्र, महाराष्ट्र एवं कर्नाटक प्रादेशिक उपसमितियाँ हैं।

इन दो सभाओं के अतिरिक्त हिंदी-हिंदुस्तानी प्रचार सभा भी हैदराबाद राज्य में हिंदी का प्रचार कर रही है। इसके मंत्री वेंकटराव ने संतोषजनक कार्य किया है।

विभिन्न परीक्षाओं का संचालन कर के उपर्युक्त हिंदी प्रचार सभाएँ हिंदी प्रचार का कार्य कर रही हैं। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास निम्नलिखित परीक्षाएँ चलाती हैं।

(१) प्राथमिक, (२) मध्यमा, (३) राष्ट्रभाषा, (४) प्रवेशिका, (५) राष्ट्रभाषा विशारद, (पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध), (६) राष्ट्रभाषा प्रवीण तथा (७) हिंदी प्रचारक। इनके अतिरिक्त स्नातकोत्तर विद्यालय में 'राष्ट्रभाषा पारंगत (एम० ए०) तथा राष्ट्रभाषा साहित्याचार्य (पी एच० डी०) की शिक्षा दी जा रही है।

हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद निम्नलिखित परीक्षाएँ चलाती है। (१) प्रवेश, (२) प्रथमा, (३) मध्यमा, (४) उत्तमा, (५) हिंदी विशारद, (६) हिंदी भूषण, (७) हिंदी विद्वान, (८) हिंदी वाचस्पति तथा (९) हिंदी शिक्षक।

इस प्रकार हिंदी प्रचार-सभाओं के सतत प्रयत्नों से दक्षिण भारत में हिंदी शिक्षितों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

सभाओं के कार्य के अतिरिक्त तेलुगु की कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने हिंदी पाठ प्रकाशित कर हिंदी के प्रचार-कार्य में सहयोग प्रदान किया है।

आंध्र प्रदेश में हिंदी के चलचित्र भी पर्याप्त संख्या में प्रदर्शित होते हैं और उन चलचित्रों को देखने वालों की संख्या भी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। यह कहना अनुचित न होगा कि चलचित्रों ने हिंदी-प्रचार-कार्य में काफ़ी सहयोग दिया है।

हिंदी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त कई आंध्रों ने हिंदी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर हिंदी में मौलिक रचनाएँ की हैं और कर रहे हैं। हिंदी में लिखने वाले आंध्रों की संख्या पर्याप्त है। इन लेखकों के तीन वर्ग माने जा सकते हैं। (१) हिंदी में मौलिक रचनाएँ करने वाले, (२) तेलुगु रचनाओं का हिंदी अनुवाद करने वाले और (३) हिंदी से तेलुगु में अनुवाद करने वाले।

हिंदी में सफलता के साथ लिख सकने वालों में मोटूरि सत्यनारायण, ए० रमेश चौधरी, बालशौरि रेड्डी, राममूर्ति 'रेणु' जी० सुंदर रेड्डी, डॉ० चावलि सूर्यनारायण मूर्ति, हनुमच्छास्त्री अयाचित, कर्ण राजशेषगिरिराव, डॉ० ए० पांडुरंगा राव, ए० सी० कामाक्षिराव, वेमूरि आंजनेय शर्मा, वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति, डॉ० आदेश्वरराव, पी० सूर्यनारायण 'भानु', दंड-मूडि महीधर आदि के नाम आदर के साथ लिये जा सकते हैं। अनुवाद करने वाले तो बीसियों लेखक हैं, जिनकी रचनाएँ समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। इस प्रकार आंध्र प्रांत में हिंदी में साहित्य-सर्जन का पक्ष भी सबल रूप धारण करता जा रहा है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में आंध्र के हिंदी लेखक अपनी रचनाओं के कारण हिंदी साहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट और स्पृहणीय स्थान के अधिकारी बनेंगे।

आंध्र में हिंदी प्रचार तथा प्रसार के उपर्युक्त विवरण के बाद अब हम कुछ समस्याओं पर भी दृष्टिपात करेंगे, जो आंध्र में हिंदी प्रचार के संदर्भ में उठ खड़ी होती हैं। सबसे पहले और मुख्य रूप से जो समस्या हमारे सामने आती है, वह है सरकार की उदासीनता। आंध्र प्रदेश के हाई स्कूलों में, तेलंगाने को छोड़ कर तथा एस० एस० एल० सी० परीक्षा में हिंदी सन १९५० से अनिवार्य रूप से पढ़ाई जा रही है। ठीक है, किंतु इस विषय को पढ़ाने के लिए सप्ताह में केवल

दो ही पीरियड नियत किये गये हैं। दो पीरियड में आप कल्पना कर सकते हैं कि अध्यापक क्या पढ़ा पायगा और उससे विद्यार्थियों में कहाँ तक भाषा-ज्ञान बढ़ेगा। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए १५ अंक प्राप्त कर लेना पर्याप्त समझा जाता है। तेलंगाने में सप्ताह में चार पीरियड थे। समीकृत पाठ्यक्रम (इंटेग्रेटेड सिलेबस) के अनुसार प्रदेश भर में हिंदी शिक्षण के लिए सप्ताह में तीन पीरियड दिये जायँगे! शिक्षाशास्त्री इस पर विचार करें। अस्तु,

आंध्र प्रदेश में धीरे-धीरे हिंदी का प्रचार बढ़ता जा रहा है और आशा है निकट भविष्य में अधिक से अधिक लोग हिंदी में बोलने तथा लिखने-पढ़ने में योग्यता प्राप्त करेंगे। यदि राज्य-सरकार हिंदी के प्रति अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण अपनाये और हिंदी भाषी विद्वान सहानुभूति-पूर्वक व्यवहार करें तो हिंदी के विकास की योजनाओं में चार चाँद लग जायँगे।

हनुमच्छास्त्री अयाचित

आंध्रों का हिंदी को योगदान

प्राचीन काल से ही आंध्र अपने अन्य भाषा-प्रेम के लिए प्रसिद्ध है। न केवल संस्कृत भाषा के वे धुरंधर विद्वान रहे अपितु प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं के भी वे पारंगत विद्वान रहे। उसी गौरवमयी परंपरा के अनुकूल वे आधुनिक काल में भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के गहरे अध्ययन में रुचि लेते आये तथा अपनी बहुमूल्य रचनाओं से तेलुगु तथा अन्य भाषाओं की श्रीसमृद्धि करते आये। संस्कृत की गौरव-गाथा में चार चाँद लगाने वाले आंध्रों में वेदों के अनुपम भाष्यकार आचार्य सायण, शांकर अद्वैत की विचारधारा को नयी दिशा में मोड़ने वाले स्वामी विद्यारण्य, महाकवि कालिदास के निरुपम काव्यों को अपने व्याख्या-सौरभ से आसेतुहिमाचल परिमलित करने वाले अद्वितीय व्याख्याकार कोलाचलम मल्लिनाथ सूरि, 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्' के व्याख्याकार आंध्रनरेश वेमभूपाल प्रसिद्ध अलंकार-ग्रंथ 'रसार्णवसुधाकर' के प्रणेता सर्वज्ञ सिंगभूपाल, संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतिम दीपस्तंभ पंडितराज जगन्नाथ, न्यायदर्शन के कुशल संग्रहकार अन्नंभट्ट, काव्यशास्त्र में चमत्कारवाद के प्रतिष्ठाता आचार्य विश्वेश्वर आदि अनेकानेक शीर्षस्थानीय गीर्वाण-पंडित, आंध्रजननी के गर्भशुक्ति-मुक्ताफल ही थे।

खिलीभूत प्राकृत काव्य 'बृहत्कथा' के रचयिता गुणाढ्य, 'गाहासत्तसई' के संकलनकर्ता आंध्र शातवाहननरेश शालिवाहन अथवा हाल आंध्र ही थे। प्रत्याख्यान के भय के बिना यह कहा जा सकता है कि हिंदी के मुक्तक काव्य की, विशेषकर सतसई काव्य की परंपरा का मूल प्रेरणा-स्रोत हाल की 'गाथासप्तशती' ही है।

इसी प्रकार आंध्र प्रदेश प्राचीन काल से ही अनेकानेक पंडित हुए, जिन्होंने अपने को अष्टभाषा विशारद अथवा अष्टादश भाषा-विशारद आदि घोषित किया था।[1]

तेलुगु साहित्य के सर्वप्रथम कवि नन्नय्य भट्टु के सहपाठी एवं सहकवि नारायण भट्टु अपने युग के बहुभाषाविद थे।

---

१. उदाहरण के रूप में हम तेलुगु के पिंगलशास्त्रज्ञ काकुनूरि अप्पकवि (२७, ई० शती) की अष्टभाषा-गणना से ले सकते हैं। इसके अनुसार अष्ट भाषाएँ इस प्रकार है १. संस्कृत, २. प्राकृत, ३. शौरसेनी, ४. मागधी, ५. पैशाची, ६. चूलिका, ७. अपभ्रंश तथा ८. आंध्र भाषा।

तेलुगु के सभी नामवर कवि तेलुगु और संस्कृत के धुरंधर विद्वान हुआ करते थे और आधुनिक काल में भी यह बात सत्य है। अथवा हम यों कह सकते हैं कि जब तक संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान नहीं होता, तब तक तेलुगु में निरे भाषा कवि को कोई उल्लेखनीय मान्यता नहीं मिलती। अतः तेलुगु के पंडित अथवा कवि सहज ही 'उभयभाषा' पंडित होते हैं। तेलुगु में 'उभयभाषा' शब्द प्राचीन काल से ही संस्कृत और तेलुगु, दोनों भाषाओं के लिए प्रयुक्त होता आ रहा है। तेलुगु के आदिकवि नन्नय्य ने अपनेको 'उभयभाषा-काव्य-रचनाभिशोभित' बताया है। कवित्रय के तिक्कन्न तो 'उभयकविमित्र' थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि आंध्रों की प्रकृति में यह बात निहित है कि वे अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का भी अध्ययन बड़े चाव से करते आये हैं। कुछ विस्तार के साथ यह बात समझायी गयी है कि आंध्र के विद्वान सहज भाव से ही अन्य भाषाओं के प्रेमी रहे और हैं। आजकल भारत के कुछ विद्वानों के मस्तिष्क में दुर्भाग्यवश यह धारणा जम गयी है कि आंध्र लोग भाषा-हठधर्मी हैं। उनसे प्रस्तुत किया जाने वाला तर्क यह है कि भाषावार प्रांतों के लिए आंदोलन चला कर पृथक प्रदेश को प्रथमतः प्राप्त करने वाले आंध्र ही तो हैं। वास्तव में यह धारणा निर्मूल तथा तथ्यों के विपरीत है। यह तो सत्य ही है कि आंध्र प्रदेश की स्थापना भाषा-सिद्धांत के आधार पर प्रथम हुई। परंतु तावन्मात्र से यह निष्कर्ष निकालना कि आंध्र जन भाषा-हठधर्मी हैं, इतिहास एवं सत्य के विपरीत है। वास्तव में अलग आंध्र प्रदेश के लिए आंध्रों ने जो आंदोलन चलाया था, उसके पीछे अन्योऽन्य कारण काम कर रहे थे, भाषा-हठधर्मिता कदापि नहीं। तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक कारण काम कर रहे थे। आंध्र संयुक्त मद्रास प्रदेश में उपेक्षित से रह गये। इस पर विस्तार के साथ प्रकाश डालना इस निबंध का मंतव्य नहीं है। अतः हम इस बात को यहीं छोड़ते हैं। हमारे कथन की पुष्टि इस तथ्य से भी अवश्य होगी कि हिंदी के विरुद्ध जो आज नारे उठा रहे हैं, उनमें आंध्र सम्मिलित नहीं हैं। यदि भाषा-हठधर्मिता ही आंध्रों का मूल मंत्र हो तो, हिंदी का आह्वान आंध्र नहीं कर सकते। अतः निष्कर्ष यह है कि आंध्र और भाषा-हठधर्मिता, दोनों एक दूसरे से कई मील दूर पर हैं।

आधुनिक काल में भी आंध्रों के अन्य भाषा-प्रेम के अनुकूल ही हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकास में अपना योगदान पहुँचा रहे हैं। हिंदी को आंध्रों का योगदान मुख्यतः दो प्रकार का है। १. परोक्ष योगदान तथा २. प्रत्यक्ष योगदान। परोक्ष योगदाताओं में सर्वप्रथम गण्य हैं आचार्य वल्लभ, पुष्टिमार्गीय संप्रदाय के प्रवर्तक वल्लभाचार्य जो वेलनाटि ब्राह्मण लक्ष्मण भट्ट तथा उनकी पत्नी एल्लम्मा के सुपुत्र थे। इनका मूल स्थान आंध्र प्रदेश के गोदावरी ज़िले के काकरवाडा अथवा काकरपर्रु नामक ग्राम था। यदि पूज्य आचार्य जी का मधुर आदेश सूरदास आदि को समय नहीं मिलता, तो न जाने हिंदी साहित्य कितना अधूरा रह जाता तथा भक्ति के उस मधुमय अंश से कितना वंचित रह जाता, जिसके लिए वह विश्व-साहित्य में न्यायपूर्ण गर्व करता है। यह सर्वविदित है कि वल्लभाचार्य के अन्य वंशधरों ने भी हिंदी साहित्य की श्रीसमृद्धि में पर्याप्त योगदान पहुँचाया था।

आंध्रों के द्वारा बहुत प्राचीन काल से ही हिंदी साहित्य को प्रत्यक्ष योगदान मिलता आ रहा है। प्रत्यक्ष योगदान का अवांतर विभाजन पुनः दो प्रकार से किया जा सकता है। १. प्रवासी आंध्रों का योगदान तथा २. प्रदेशीय आंध्रों का योगदान। प्रवासी आंध्र वे हैं, जिन्होंने आंध्र प्रदेश को छोड़ कर उत्तर भारत को ही अपना घर बना लिया है। 'मिश्रबंधु-विनोद' आदि हिंदी के इतिहास-ग्रंथ के सम्यक अवलोकन से कई तैलंग कवियों के नाम अनायास ही मिल जाते हैं, जिन्होंने हिंदी साहित्य की सेवा विविध प्रकार से की थी। इस लघु निबंध में सभी योगदाताओं का नामोल्लेखन तक करना कठिन है। अतः हमें प्रधान रचयिताओं के नाम-स्मरण से ही संतुष्ट होना पड़ता है।

हिंदी के वीरकाव्य के उन्नायक राजा छत्रसाल के आस्थानकवि लाल कवि आंध्रवंशीय थे। इनका पूरा नाम गोरेलाल पुरोहित था। ये मऊ के रहने वाले थे। इनके द्वारा प्रणीत 'छत्रप्रकाश' को, जिसमें तत्कालीन परम देशभक्त महाराजा छत्रसाल की वीरता आदि का वर्णन मिलता है, हिंदी साहित्य के इतिहास में एक गौरवपूर्ण स्थान है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, 'काव्य और इतिहास, दोनों की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी में अपने ढंग का अनूठा है।'

'जगद्विनोद', 'पद्माभरण' आदि रीतिकाव्यों के यशस्वी कवि, पद्माकर भट्ट (संवत १८१० से संवत १८९० तक) तैलंग ब्राह्मण थे। समालोचकों की दृष्टि में रीतिकाल के ये अंतिम महाकवि थे। आचार्यप्रवर रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ—जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं, उसी प्रकार प्रसिद्धि में अंतिम भी। देश में जैसा इनका नाम गूँजा है, वैसा फिर आगे चल कर किसी और कवि का नहीं।' इनका भाषा पर अप्रश्नेय अधिकार था। 'भाषा की ऐसी अनेक-रूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में दिखायी पड़ती है।' यहाँ पर हमारा ध्यान एक मार्मिक सत्य पर जाता है। लगता है, प्रवासी आंध्रों का प्रगाढ़ प्रेम गंगा माता से होता है। संस्कृत के प्रसिद्ध लाक्षणिक, पंडित एवं कवि पंडितराज जगन्नाथ ने गीर्वाणवाणी में 'गंगालहरी' की रचना की तो उन्हीं के समकक्ष हिंदी कवि पद्माकर भट्ट ने भी 'गंगालहरी' से अपनी हिंदी वाणी को आप्लावित कर लिया।

मध्य प्रदेश के निवासी पं० हृषीकेश शर्मा हिंदी-सेवी, प्रवासी आंध्रों में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास के तत्वावधान में कुछ समय तक इन्होंने दक्षिण भारत में हिंदी का प्रचार-कार्य किया। इनके द्वारा प्रणीत 'आंध्र हिंदी स्वबोधिनी' के द्वारा आरंभ में आंध्र के हिंदी जिज्ञासुओं ने लाभ उठाया। ये 'भारती', 'राष्ट्रभारती' आदि हिंदी मासिक पत्रिकाओं के संपादक भी रहे। शर्मा जी की अन्य प्रचारात्मक कृति 'तेलुगु स्वयं शिक्षक' भी उल्लेखनीय है। इसी अवसर पर प्रयागवासी गुर्ति सुब्रह्मण्यम भी स्मरणीय हैं, जिन्होंने हिंदी में कतिपय पाठ्य-पुस्तकों का संकलन किया था।

प्रदेशीय आंध्रों की हिंदी सेवा अत्यंत महत्वपूर्ण है। दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार से बहुत पहले ही, शायद जब आंध्र की आम जनता में हिंदी शब्द की अपेक्षा हिंदुस्तानी शब्द अधिक

प्रचलित था और उन दिनों जब स्वयं हिंदी क्षेत्र में भी नाटक-प्रणयन शैशवावस्था में था, सुदूर दक्षिण में आंध्र प्रदेश में साहित्यिक मंच पर एक ऐसी अतुलनीय साहित्यिक विभूति का आगमन हुआ, जिनकी लेखनी से एक या दो नहीं, परंतु बत्तीस हिंदी नाटक प्रसूत हो कर अभिनीत हुए। इस महत्वपूर्ण योगदान का सही मूल्यांकन कौन कर सकता है। नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि न केवल अपनी मातृभाषा तेलुगु तथा संस्कृत के वरेण्य पंडित थे, अपितु फ़ारसी, उर्दू तथा हिंदी के भी अच्छे परिज्ञाता थे। तेलुगु में इनकी रचनाओं का अपना विलक्षण महत्व है। वे तेलुगु की गर्भकविता, बंधकविता, श्लेष कविता के अपने युग के सर्वोत्तम कुशल कलाकार थे। वे तेलुगु के एक उत्तम कोशकार भी थे। इतना बहुमुखीन प्रतिभा-संपन्न व्यक्तित्व उन दिनों अन्यत्र मिलना कठिन ही है। खेद का विषय है कि पुरुषोत्तम कविरचित हिंदी के बत्तीस नाटकों में से आज केवल चौदह नाटक उपलभ्यमान हैं। इन नाटकों में पुराणों से ले कर इतिहास तक का इतिवृत्त समाहित है। इनकी रचना-प्रक्रिया भी विशेषतापूर्ण है। ये सभी नाटक तेलुगु लिपि में निबद्ध हैं। इनमें प्रयुक्त गीत और पद कर्णाटक राग-पद्धतियों में निबद्ध हैं। भाषा हिंदी तथा राग-पद्धति कर्णाटक की। इनमें 'रामदास' नामक नाटक सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ था। स्वयं कवि ने इसको सन १९१६ ई० में प्रकाशित कराया। इसमें आंध्र के महान भक्त तथा संकीर्तनकार कवि कंचर्ल गोपराजु का जीवन-वृत्त अभिवर्णित है।

इस युग में कई अन्य उत्साही नाटककारों ने भी हिंदी में नाटक लिखे और वे सब अभिनीत भी हुए। इस तथ्य का प्रमाण हमें पसुमति यज्ञनारायण शास्त्रीकृत 'आंध्रनटप्रकाशिका' में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। इस काल के एवंविध नाटककारों में वेदुरुमूडि शेषगिरि राव, बुद्धिराजु ब्रह्मानंदम, बोम्मकंटि कृष्णमूर्ति आदि उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन हिंदी नाटकों के कुशल अभिनेताओं में मिदि रामचंद्र राव, गोविंद राव, शंकरम आदि स्मरणीय हैं। आंध्र के नाटकांदोलन के उन्नायक इंमनि लक्ष्मणस्वामी के द्वारा भी हिंदी नाटकों को इस युग में बड़ा प्रोत्साहन मिला। यहाँ इस तथ्य को अनुभव करते समय हर्षोत्फुल्ल हुए बिना नहीं रह सकते कि हिंदी नाटकों का अभिनय सुदूर आंध्र प्रदेश में उस आरंभिक युग में एक आंदोलन की भाँति चला, जब कि स्वयं हिंदी प्रांत में हिंदी नाटकीय रंगमंच का अभाव आज तक हिंदी जनता महसूस करती है। इस अभिनय-अभियान के फलस्वरूप आंध्र प्रदेश के विशाखपत्तनम, काकिनाडा, एलूरु, नरसापुर आदि नगरों में विभिन्न नाटक-मंडलियों द्वारा ये नाटक अभिनीत होने लगे। ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारतीय साहित्य के नाटकों के उस आदि युग में आंध्र प्रदेश में इन विभिन्न नाटक-मंडलियों के द्वारा तेलुगु एवं हिंदी के नाटक बारी-बारी से बिना प्रादेशिक भेद-भाव के आंध्र जनता के समक्ष आंध्र अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हुआ करते थे। स्वयं पुरुषोत्तम कवि ने इंमनि लक्ष्मण स्वामी के साथ मिल कर 'नेशनल थियेटर' नाम से एक नाटक-मंडली की स्थापना की। आश्चर्य की बात यह है कि 'नेशनल' शब्द का प्रयोग इस महान राष्ट्रीय विभूति ने 'नेशनल कांग्रेस' की स्थापना से भी एक वर्ष पूर्व ही किया था। भावात्मक एकता का क्या ही सुखद आवरणात्मक उदाहरण है।

सन १९१८ ई० में महात्मा गांधी के आशीर्वादों के साथ राष्ट्रीय एकता की भावना से दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास की स्थापना हुई। हिंदी प्रचार सभा की प्रचारात्मक हिंदी सेवा से समग्र हिंदी संसार भली भाँति परिचित है। सभा से हाल ही में प्रधान सचिव पद से विरत कर्मठ हिंदी-सेवी मोटूरि सत्यनारायण से भला कौन अपरिचित होगा। सभा के सभी कार्य-कलापों को सुव्यवस्थित रूप से चलाने तथा पूरे दक्षिण भारत में हिंदी का सम्यक प्रचार कराने का श्रेय सत्यनारायण जी ही को है। इन पर आंध्र समुचित गर्व का अनुभव करते हैं। सत्यनारायण तथा अवधनंदनके द्वारा संपादित पाठ्य-पुस्तक 'हिंदी-अंग्रेजी स्वबोधिनी' तथा इसी के दक्षिण भाषाओं के संस्करणों ने न जाने कितने दाक्षिणात्यों को हिंदी की ज्ञान-भिक्षा दी है। इन पुस्तकों की माँगें आज भी बनी रही हैं। आंध्र के वरिष्ठ विद्वान स्व० जंध्याल शिवन्न शास्त्री संस्कृत, बंगला, हिंदी तथा तेलुगु के पारंगत विद्वान थे। उनकी कृतियों में 'हिंदी-तेलुगु कोश', 'तेलुगु-हिंदी कोश', 'आंध्र हिंदी व्याकरण' तथा 'दुर्गादास' आदि नाटकों का तेलुगु अनुवाद यहाँ पर स्मर्तव्य हैं। इन्हीं दिनों नंडूरि शिवराव ने 'मेवाड़-पतन' नाटक का तेलुगु अनुवाद प्रस्तुत किया था। द्विजेंद्र लाल राय की नाट्य-कृतियाँ हिंदी के माध्यम से ही अधिकतर तेलुगु में आयीं। आंध्र विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिंदी प्राध्यापक स्व० ओरुगंटि वेंकटेश्वर शर्मा लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे, जिनकी गवेषणात्मक कृति 'अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन' उनके मरणोपरांत बि० रा० भा० परिषद बिहार की ओर से प्रकाशित हुई।

राममूर्ति 'रेणु' ने 'आदान-प्रदान', 'आंध्र कवीर वेमना', 'चमगादड़' आदि कृतियों के द्वारा हिंदी और तेलुगु में आदान-प्रदान का द्वारोद्घाटन किया। स्मरण रहे कि रेणु जी समग्र दक्षिण भारत में हिंदी एम० ए० के सर्वप्रथम प्रथम श्रेणी के उपाधिधारी हैं। 'भागवत परिमल' नाम से तेलुगु महाभागवत के कतिपय खंडों का अनुवाद इन्होंने छंदों में किया, जिसका प्रकाशन आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी की ओर से हुआ है।

आरिगपूडि रमेश चौधरी की अपनी विशेषताएँ हैं। ये अद्यतन काल के आंध्र प्रदेश के हिंदी के मौलिक लेखक हैं। इन्होंने हिंदी साहित्य-मंदिर को कई उपन्यासों से सजाया, जिनमें 'उधार के पंख', 'दूर के ढोल', 'भगवान भला करे', 'भूले-भटके' आदि उल्लेखनीय हैं। चौधरी जी 'दक्षिण भारत' के संपादक भी रहे। एक कुशल पत्रकार के रूप में भी ये प्रसिद्ध हैं। बालशौरि रेड्डी ने अपने मौलिक एवं अनुवाद की कृतियों से हिंदी की श्रीसमृद्धि में योगदान पहुँचाया। इनकी कृतियों में 'ज़िंदगी की राह', 'भग्न सीमा', 'शबरी' आदि स्मरणीय हैं। डॉ० भीमसेन 'निर्मल' का योगदान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इनकी अनूदित कृति 'तेलुगु उपन्यास साहित्य' हाल ही में आ० प्र० साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त इन्होंने पि० वि० राजमन्नारु की नाटिकाओं का और अनेकानेक तेलुगु कहानियों का अनुवाद हिंदी में प्रस्तुत किया है। चावलि की मौलिक कृतियाँ 'उर्मिला की नींद', 'समझौता', 'महानाश की ओर' भी स्मरणीय हैं।

आंध्र हिंदी लेखकों की अनुवाद-प्रक्रिया वास्तव में द्विमुखी रही। १. तेलुगु से हिंदी में तथा २. हिंदी से तेलुगु में। तेलुगु से हिंदी में अनुवाद करने वाले गणनीय लेखकों में ए० सि०

कामाक्षि राव, चावलि सूर्यनारायण मूर्ति, सुंदर रेड्डी, दंडमूडि महीधर, हनुमच्छास्त्री अयाचित, वेमूरि राधाकृष्ण मूर्ति, पीसपाटि सूर्यनारायण भानु आदि हैं।

ए० सि० कामाक्षि राव ने 'रंगनाथरामायणमु' का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसका प्रकाशन कार्य बि० रा० भा० परिषद ने सँभाला। वेमुरि राधाकृष्णमूर्ति नवीनतम तेलुगु काव्यों का अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें आरुद्र की 'सिनीवाली' का अनुवाद उल्लेखनीय है। सुंदर रेड्डी का 'दक्षिण भारतीय भाषाएँ और साहित्य' भी इसी अवसर पर स्मरणीय हैं। भीमसेन 'निर्मल' द्वारा प्रस्तुत तथा रा० भा० प्र० समिति, वर्धा से प्रकाशित 'कविश्रीमाला-तेलुगु' के दो संपुट संग्राह्य हैं। दंडमूडि महीधर ने भी कई कविताओं तथा कहानियों का अनुवाद प्रकाशित कराया। बालशौरि रेड्डी ने 'रुद्रमा देवी' का अनुवाद साहित्य अकादमी की ओर से किया। नार्ल वेंकटेश्वर राव की 'कोत्तगड्डा' का अनुवाद इनका 'नयी धरती' नाम से भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हुआ है। रमेश चौधरी के 'नारायण राव' उपन्यास का अनुवाद अकादमी की ओर से प्रकाशित हो चुका है। चावलि सूर्यनारायण मूर्ति ने कई नाटिकाओं तथा कहानियों का अनुवाद 'राष्ट्रभारती' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया।

आजकल हिंदी से तेलुगु में भी अनुवाद-कार्य बड़ी शीघ्रता के साथ सपन्न हो रहा है। इस प्रक्रिया के द्वारा तेलुगु भाषा-भाषियों में हिंदी के प्रति प्रेम-भाव बना रहता है जो राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से बहुत ही आवश्यक है। हनुमच्छास्त्री अयाचित, वाविलाल सोमयाजुलु ने हिंदी के शीर्ष-स्थानीय महाकाव्य 'कामायनी' का तेलुगु में सफल काव्यानुवाद प्रस्तुत किया। 'अयाचित' ने सर्वप्रथम जैनेंद्र के 'परख' का तेलुगु अनुवाद प्रस्तुत किया। आजकल कई हिंदी उपन्यासों का अनुवाद तेलुगु में उपलब्ध है। प्रेमचंद के सभी उपन्यास तेलुगु में आ चुके हैं। अन्य अनूदित उपन्यासकारों में जैनेंद्र, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, इलाचद्र जोशी आदि सम्मिलित हैं। साहित्य अकादमी की ओर से भी कुछ हिंदी कृतियों का अनुवाद कराया गया, जिनमें रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी के 'मिट्टी के पुतले' उपन्यास को 'मट्टि बोम्मलु' नाम से कोट सुंदर राम शर्मा ने अनुवाद प्रस्तुत किया। पुट्टपर्ति नारायणचार्युलु ने 'कबीर-वचनावली' का तेलुगु अनुवाद प्रस्तुत किया। हिंदी से तेलुगु में अनुवाद-कार्य वास्तव में आज का नहीं है। बहुत पहले ही अर्थात पिछली सदी के अंत में ही शिष्टु कृष्णमूर्ति शास्त्री और मंडपाक नरहरि नामक कविद्वय ने तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' का तेलुगु छंदोऽनुवाद प्रस्तुत किया है। इस अनुवाद की विशेषता यह है कि इसमें तेलुगु में भी दोहा-चौपाई वाली पद्धति ही अपनायी गयी है। स्मरण रहे कि दोहा-चौपाई पद्धति तेलुगु की अपनी नहीं है। इस प्रकार अन्य भाषा-छंद पद्धति में सफल अनुवाद प्रस्तुत करना एक कुशल कलाकार का ही काम हो सकता है। उस सुदूर अतीत में इस प्रकार के महत्वपूर्ण साहित्यिक अनुष्ठान कर के इन कवियों ने भावात्मक एकता का बहुत ही अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया था। अद्यतन काल में भी 'रामचरितमानस' के अनुवाद गद्य में तथा पद्य में निकले और निकल रहे हैं। वाविल्ल रामस्वामी शास्त्री ने अपनी संस्था की ओर से तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का गद्यानुवाद प्रकाशित किया था। अनुवादक सुब्बा राव थे। गद्यानुवादकों में लक्ष्मी सरस्वती का नाम भी उल्लेखनीय है। मैलवरपु सूर्यनारायण मूर्ति ने

तुलसी रामायण के कतिपय कांडों का छंदोऽनुवाद प्रकाशित किया। इसी प्रकार स्वामी केशवतीर्थ ने तुलसी रामायण का अनुवाद द्विपदा छंद में प्रस्तुत किया। स्वामी जी का यह अनुवाद वास्तव में बहुत ही सफल हुआ है। आचार्य रामचंद्रय्य ने 'तेनुगु मीरा' नाम से कतिपय चुने हुए मीरा-पदों का अत्यंत सफल पदानुवाद तेलुगु में किया। इस अनुवाद की विशेषता यह है कि सभी पद कर्णाटक राग-रागिनियों में निवद्ध हुए हैं। हाल ही में डॉ० पांडुरंगा राव ने प्रसाद की 'आँसू' का मात्रा छंद में अनुवाद किया। दुर्गानंद ने सूरदास के पदों का सरस अनुवाद किया है।

तेलुगु साहित्य, भाषा तथा विविध विधाओं पर लिखने वालों में हनुमच्छास्त्री अयाचित, बालशौरि रेड्डी, सुंदर रेड्डी आदि उल्लेखनीय हैं। हनुमच्छास्त्री अयाचित ने सर्वप्रथम तेलुगु साहित्य पर हिंदी में तथा हिंदी साहित्य पर तेलुगु में दो पुस्तकें प्रकाशित कीं। इनके अतिरिक्त इनके कई लेख तेलुगु साहित्य की विविध विधाओं पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। बालशौरि रेड्डी ने तेलुगु इतिहास तथा विविध विधा संबंधी दो पुस्तकें लिखीं। इनकी 'आंध्र भारती' तथा 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हो चुके हैं। इन्हीं का 'पंचामृत' नामक तेलुगु कविता का प्रातिनिधिक संकलन भी स्मर्तव्य है। आकेल्ल सीताराम ने भी तेलुगु साहित्य पर धारावाही रूप में 'दक्षिण भारत' में कई लेख प्रकाशित किया। इसी अवसर पर पि० विजयराघव रेड्डी के लेख स्मरणीय हैं, जिनमें तेलुगु के भाषा पक्ष पर प्रकाश डाला गया है।

कतिपय विद्वान लेखकों ने कोश-साहित्य की सर्जना करके हिंदी तथा तेलुगु के अध्ययन-अध्यापन-कार्य को सुगम बनाया। इनमें ए० सि० कामाक्षि राव, चावलि सूर्यनारायण मूर्ति तथा हनुमच्छास्त्री अयाचित उल्लेखनीय हैं। ए० सि० कामाक्षि राव ने 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की ओर से प्रकाशित 'हिंदी तेलुगु-कोश' 'तेलुगु हिंदी-कोश' के परिवर्धन तथा परिशोधन में सहयोग पहुँचाया। मूर्ति जी का 'हिंदी तेलुगु-कोश' ओरियंटल पब्लिशर्स, सेनालि ने प्रकाशित किया। हनुमच्छास्त्री अयाचित के द्वारा संकलित बृहदाकार 'तेलुगु हिंदी शब्द-कोश' हिंदी साहित्य सम्मेलन के तत्वावधान में छप रहा है। श्रीयलमंचिलि वेंकटप्पय्य चौधरी का 'हिंदी तेलुगु मुहावरा कोश' भी इसी अवसर पर स्मरणीय है।

आंध्र के उत्साही नवयुवकों के द्वारा हिंदी में शोध-कार्य भी सपन्न हो रहा है। यह शोध-कार्य मुख्यतः तुलनात्मक क्षेत्र में संपन्न हो रहा है। विवरण इस प्रकार है:

१. डॉ० पांडुरग राव[१] : आंध्र हिंदी रूपक (नागपुर), २. डॉ० चावलि सूर्यनारायण मूर्ति : हिंदी और तेलुगु के राम-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (सागर) ३. डॉ० एन० सी० दक्षिणामूर्ति : सूरदास और पोतन्ना का तु० अध्ययन (आगरा), ४. डॉ० कर्णराज शेषगिरि राव : आंध्र का लोक-साहित्य (आगरा), ५. डॉ० भीमसेन 'निर्मल' : पुरुषोत्तम कवि के हिंदी नाटकों का संपादन तथा अध्ययन (उस्मानिया), ६. डॉ० वेंकट रमण : हिंदी के कवित्रय (वही), ७. डॉ० एस० टी० नरसिहाचारी : साहित्य-दर्शन (काशी), ८. डॉ०

---

१. डॉ० पांडुरंग राव दक्षिण भारत के हिंदी के सर्वप्रथम शोध-उपाधि-प्राप्तकर्ता।

वसंत चक्रवर्ती : कामायनी का दर्शन (उस्मानिया), ९. डॉ० के० रामनाथम् : हिंदी और तेलुगु के वैष्णव-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (तिरुपति), १०. वम्मि रामस्वामी : हिंदी-तेलुगु का तुलनात्मक अध्ययन (साहित्य-महोपाध्याय) (हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग), ११. डॉ० एन० सी० दक्षिणामूर्ति : हिंदी और तेलुगु कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन। (सा० म०) (हि० सा० स०, प्रयाग), १२. डॉ० श्रीराम शर्मा : दक्खिनी हिंदी का उद्भव और विकास (पी० एच० डी०) (आगरा)।

उपर्युक्त महानुभावों के अतिरिक्त डॉ० रेड्डी तथा डॉ० सी० माधव राव ने अपने शोध-प्रबंधों पर क्रमशः लखनऊ तथा नागपुर से डॉक्टरेट की उपाधियाँ प्राप्त कीं। अभी कई उत्साही नवयुवक अधिक संख्या में शोध-कार्य में प्रवृत्त होते जा रहे हैं, जिनके सफल अनुष्ठान से आदान-प्रदान तथा भावात्मक एकता का महत्वपूर्ण कार्य संपन्न होता रहेगा।

आंध्र प्रदेश में हिंदी के प्रति सद्भाव और प्रेम का संवर्धन करने के लिए अनेक प्रचारक संस्थाएँ तथा प्रेमी मंडलियाँ काम कर रही हैं। इनमें 'आंध्र हिंदी प्रचार संघ', 'हैदराबाद हिंदी प्रचार सभा' तथा 'हिंदी प्रेमी मंडली तेनालि' गणनीय हैं।

इन संस्थाओं में काम करने वाले प्रचारक बंधुओं में साहित्यिक अभिरुचि रखने वाले बहुत से हैं। इनमें बोयपाटि नागेश्वर राव, दोनेपूडि राजा राव चित्तूरि लक्ष्मीनारायण शर्मा मुख्य हैं।

आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी हैदराबाद, आंध्र प्रदेशीय सरकार के तत्वावधान में काम करने वाली साहित्यिक संस्था है। इस संस्था के सुयोग्य आदरणीय अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल डॉ० बी० गोपाल रेड्डी ने आंध्र प्रदेश के उत्साही हिंदी लेखकों की संस्था 'हिंदी लेखक संघ' नाम से स्थापित की। इस संस्था की ओर से निकट भविष्य में ठोस काम होने की संभावनाएँ हैं। अभी इसकी ओर से 'पद्माकर' नामक दो वार्षिक पुस्तकाकार संचिकाएँ निकलीं, जिनमें तेलुगु साहित्य और भाषा संबंधी कई प्रामाणिक लेख प्रकाशित हुए। दूसरी संचिका तो केवल तेलुगु के उपन्यास साहित्य पर ही रची गयी। अपनी विविध हिंदी सेवाओं के लिए केंद्रीय प्रशासन तथा आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि प्रदेशीय प्रशासनों से पुरस्कृत सज्जन हैं श्री राममूर्ति 'रेणु', बालशौरि रेड्डी, श्री आरिगेपूडि तथा श्री कर्णराज शेषगिरि राव आदि।

यह निश्चित है कि आंध्र प्रदेश में हिंदी का भविष्य समुज्वल है और प्रवास में रहने वाले आंध्र भी हिंदी भारती की समर्चना में संलग्न हैं।

रामसूर्ति 'रेणु'

त्यागराज और तुलसीदास

नादयोगी त्यागराज का कर्नाटक संगीत-गायन के एक उज्वल ज्योतिपुंज के रूप में अद्वितीय स्थान है। किंतु एक पहुँचे हुए रामभक्त एवं लोकाराधक की हैसियत से उन्हें वह प्रशस्ति नहीं मिली है, जिसके वे सर्वथा अधिकारी हैं। संभवतः इसका कारण उनकी कृतियों का अपेक्षाकृत संगीत-जगत में अधिक प्रसार है। यह निर्विवाद तथ्य है कि वे मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचंद्र जी के लोकरंजक एवं लोकरक्षक रूप के आराधक थे। यह विषय उनकी कृतियों के अंतरंग परीक्षण से विदित होता है। उनकी कई एक रचनाओं को पढ़ते समय हिंदी साहित्य के गहन अध्येता को गोस्वामी तुलसीदास जी का स्मरण हो जाता है। तुलसीदास जी के विचारों तथा मानस के कतिपय रोचक प्रसंगों, की स्पष्ट छाप उनके मुक्तक गीतों में लक्षित होती है। किन्हीं भी दो भक्तों की रचनाओं में भाव-साम्य देख कर सहसा यह निर्णय कर डालना कि अमुक कवि अमुक की विचारधारा से प्रभावित हुआ है, साहस ही होगा। क्योंकि भावों और उनकी अभिव्यंजना में एकरूपता कभी-कभी संयोग से भी पायी जा सकती है। और विशेषकर एक ही भक्ति-मार्ग के दो लेखकों के विचारों में समानता देखी जाय तो कोई बड़ी बात नहीं। ऐसे प्रसंगों को 'प्रभाव' या अनुकरण कहना ठीक नहीं होगा। किंतु दो कवियों के जीवन-काल में, निवास-स्थान, भाषा, साहित्यिक विधा, इतिवृत्त तथा प्रसंग वग़ैरह अनेक विषयों में भारी अंतर होने पर यदि भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति में स्पष्ट एकरूपता लक्षित होती है तो उसे 'संयोग अथवा आकस्मिक प्रभाव कहना भी संगत न होगा। इस तथ्य को तो दो निःस्पृह और निर्द्वंद भक्त कवियों के विषय में अधिक संगत और न्याय्य ठहरा सकते हैं। कारण, प्रकृत्या नम्र और राग-द्वेषरहित होने के कारण सच्चे भक्त कवि अपने पूर्ववर्ती साधु-संतों की वाणी का आदर से पाठ एवं मनन करने में आनंद उठायँगे और उनके विचारों से प्रभावित होने में कोई न्यूनता अनुभव न करेंगे। बल्कि व्यास, कालिदास आदि संतों तथा महाकवियों की वाणी उनके परवर्ती सैकड़ों सत्कवियों के लिए भव्य पाथेय बनी है और आज भी कितने ही भारतीय लेखक उनसे आलोक पा रहे हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि समय का अंतर दो समानधर्मा कवियों की रचनाओं में आश्चर्य-जनक समानताएँ ला खड़ा कर सकता है जिन्हें हम आकस्मिक नहीं, किंतु स्पष्ट और स्फुट 'प्रभाव' कह सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास और उनके २५० वर्ष परवर्ती त्यागराज की कृतियों में मुझे कतिपय आश्चर्यजनक समानताएँ गोचर हुई हैं, जिन्हें आकस्मिक अथवा 'संयोग' कह कर टाला

नहीं जा सकता। तुलसी की मृत्यु के क़रीब डेढ़ सौ साल बाद त्यागराज पैदा हुए। एक ने 'सुरसरि सम' अपनी 'भनिति' से गंगातट को पुनीत बनाया था तो दूसरे ने कावेरी-जलों में अपना 'स्वररागसुधारस' घोल कर उन्हें संजीवन बना डाला। देश और काल की इस खाई के अलावा दोनों कवियों की भाषाएँ अलग-अलग रहीं, एक की अवधी और दूसरे का तेलुगु। इतनी सारी अड़चनों के बावजूद भी त्यागराज तुलसीदास से और उनकी भक्तिमयी वाणी से भली भाँति परिचित थे और उनके मन में गोस्वामी जी के प्रति असीम श्रद्धा थी।

अपने प्रसिद्ध प्रबंध अथवा संगीत नाटक 'प्रह्लाद भक्तविजयमु' की अवतारिका में त्यागराज क्रमशः भगवान रामचंद्र, विष्णु के सेनापति विष्वक्सेन, वाणी और नारद की स्तुति करने के बाद लौकिक गुरुओं तथा संतों की परंपरा में तुलसीदास जी ही का प्रथमतः स्मरण कर बैठे। तुलसीदास के बाद क्रमशः कर्नाटक के संत पुरंदरदास, तेलुगु के भक्त कवि भद्राचल रामदास, नामदेव, ज्ञानदेव, सहदेव, जयदेव, तुकाराम, नारायणतीर्थ स्वामी वग़ैरह का स्तवन किया और फिर तुलसीदास जी का स्मरण करते हुए उन्होंने जो छंद लिखा वह विशेष रूप से अवलोकनीय है :

तुलसी कानन मंदुन-विलसितमुग
हरिनिजूचि विस्मययुतुडे-पुलकीकृततनुडगुना
तुलसीदासवरु सन्नुतुल सेतुमदिन्।

अर्थात तुलसी-कानन यानी वृंदावन में हरि की झाँकी देख पहले चकित हो कर फिर हर्ष से रोमांचित होने वाले तुलसीदासवर का मैं मन से स्तवन करता हूँ।

इस अद्भुत छंद का प्रत्येक शब्द मनन करने योग्य है। इसमें छिपा हुआ अर्थ तुलसी के जीवन के एक रोचक प्रसंग पर प्रकाश डालता है, जिससे संभवतः सभी लोग परिचित नहीं होंगे। भक्त-समाज में प्रचलित एक दंतकथा के अनुसार, वृंदावन के भक्त-वृंद के साग्रह निमंत्रण पर गोस्वामी जी कृष्णचंद्र की लीलाभूमि देखने गये थे। वहाँ बिहारी जी के मंदिर में ठाकुर जी के आगे जा खड़े हुए। मोर-मुकुटालंकृत मुरलीमनोहर की बाँकी मोहिनी छवि देख कर चकित रह गये। न उनका शीश झुका था और न ही हाथ उठे थे आनंदकंदन के आगे प्रणाम की मुद्रा में ! साथ लगी भक्त-मंडली भौंचक देखती रही। इतने बड़े भारी भक्त और ठाकुर जी के प्रति ऐसी अवज्ञा कि हाथ तक न जोड़े ! लोग आपस में कानाफूसी करने लगे—आख़िर इन्हें क्या हो गया ! कुछ मन ही मन क्षुब्ध थे तो दूसरे क्रुद्ध हुए कि इन्हें रामायण लिखने का घमंड है। यह तो वृंदावन धाम ही का अपमान है ! सारा वातावरण स्तंभित रहा कुछ क्षणों के लिए। सहसा भक्तवर की वाणी खुली :

कहा कहौं छबि आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष-बान लेहु हाथ॥

ललकार कान कर जैसे प्रभु का आसन डोल गया था। देखते-देखते छैल-छबीले मुरलीमनोहर की मूर्ति बदल गयी, कोदंडधारी मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र की लोक-मंगलविधायिनी शील-सौंदर्य-मंडित मूर्ति में। अपने उस घनश्याम को देखते ही भक्त-चातक का रोम-रोम प्रफुल्ल हो उठा! मन-मयूर मत्त नृत्य कर बैठा। प्रभु के चरणों में दंडवत लोट गये।

प्रकृत्या रामचंद्र जी की लोक-कल्याणकारिणी जीवनी के उपासक त्यागराज इस घटना से लगता है बहुत ही प्रभावित हुए थे। इससे असंदिग्ध रूप से हम कह सकते हैं कि त्यागराज तुलसी की जीवनी की बारीकियों तक से अभिज्ञ थे।

यह कैसे संभव हुआ? क्या त्यागराज ने उत्तर भारत का पर्यटन किया था? हिंदी के 'रामचरितमानस' का अध्ययन किया था? नहीं, इनमें कोई भी बात उनके जीवन-चरित से प्रमाणित नहीं होती। फिर तुलसीदास संबंधी उनके इस ज्ञान के लिए उत्तरदायी तथ्य क्या है? इसका हमें परिशीलन करना होगा।

तंजावूर सौराष्ट्र सभा के जानकार बुजुर्गों का कहना है कि त्यागराज के समसामयिक एक हिंदुस्तानी गायक गणेश भावे ने सुदूर दक्षिण की यात्रा की। उनका नाम कुछ लोग गोपीनाथ भट्टाचार्य भी बताते हैं। वे भक्त थे। काशी में रहते समय उन तक त्यागराज की कीर्ति पहुँच गयी थी। भगवान राम ने उन्हें स्वप्न में आदेश दिया था कि वे तिरुवय्यार जा कर त्यागराज से सत्संग करें। वे चल पड़े सेतुबंध रामेश्वरं यात्रा का बहाना ले कर और रास्ते में तिरुवय्यार जा कर त्यागराज स्वामी से मिले। दोनों संत गायक एक दूसरे के दर्शनों से बहुत खुश हुए और कहते हैं कि वे हिंदुस्तानी गायक छह महीने तक त्यागराज के साथ सत्संग करते रहे थे। अपने जैसे तुच्छ प्राणी का नाम सुदूर गंगातट तक पहुँचाने वाले, करुणाघन भक्तवत्सल रामचंद्र जी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उस समय त्यागराज ने 'तोडि' राग में एक सुंदर कृति गायी थी:

दाशरथी! नीऋणमु दीर्पना
तरमा? पतितपावन नाम॥
आशदीर दूर देशमुल प्र-
काशिप जेसिन रसिक शिरोमणि॥
भक्तिलेनि कवि जाल वरेण्युलु
भाव मेरुग लेरनि कललोन जनि
भुक्ति मुक्ति गल्गुननि कीर्तनमुल
बोधिंचिन त्यागराज कराचित॥

'हे दाशरथि! पतितपावन नाम! तुमसे मैं किस तरह उऋण हो सकूँगा? कारण, बड़ी तत्परता से तुमने ही इस प्रकार मेरा नाम सुदूर देशों में फैलाया है जिससे प्रभावित हो कर बड़े-बड़े संत गायक मुझे देखने के लिए आ रहे हैं!

'हे रसिक-शिरोमणि ! त्यागराज के आराध्य ! कलि के कविगण भक्तिरहित रचनाएँ करने लगे हैं ! (उनके चक्कर में सारा समाज पड़ गया है) उस दलदल से उठ कर भक्ति और मुक्ति दोनों प्रदान करने वाले त्यागराज के गीत सीख लेने का आदेश स्वप्न में तुमने दिया है। ऐसे तुम भक्त-वत्सल प्रभु का ऋण मैं किस तरह चुका सकता हूँ ?'

जब दो संत आपस में मिलते हैं, अपना अधिकांश समय भगवल्लीला-गायन और भागवत संतों के गुणानुकीर्तन ही में बिताते हैं। छह महीने यदि वह संत गायक मावे तिरुवय्यार में रहे तो अवश्य महाभक्त तुलसीदास और उनके मानस की चर्चा त्यागराज से की होगी। रामचंद्र जी ही के भक्त होने के नाते त्यागराज का मन-मधुप मानस-मकरंद पाने में अधिक तत्पर रहा होगा। इस प्रकार मानस-रचना की बारीकियों का ज्ञान उन्होंने पाया होगा। हमें यह देख कर आश्चर्यमय हर्ष होता है कि अपने आराध्य राम के जिन तीन प्रधान तत्वों पर तुलसीदास रीझ गये थे उन 'शील, सौंदर्य और शक्ति' पर त्यागराज भी लट्टू थे। एक बान, एक बात और एक पत्नी वाले प्रभु के व्रत ने दोनों को मोह लिया था। **ओक माट, ओक बाणमु, ओक पत्नी व्रतुडे मनसा ! रावबागत्राणशौर्य मेमनि देलुवुपुरा ! एमनि माटाडितिओ ! राम !**

अतिलावण्य रामु कनुलार जूडरे इत्यादि बीसों गीतों में त्यागराज ने प्रभु के उक्त तीनों अनन्य तत्वों का दिल खोल कर गायन किया है। यही नहीं, तुलसीदास ही की तरह दलित एवं पथभ्रांत मानव-समाज का प्रतिनिधि बन कर प्रभु के दरबार में त्यागराज विनय-पत्रिका भी भेजते हैं। अपने एक गीत में प्रभु से याचना करते हैं: 'हे प्रभु ! सूर्यवंशतिलक ! कलि का मद कुचलने वाले गजगामी ! अपना दिया हुआ वचन पूरा करने का अवसर आया है ! हे त्यागराजनुत ! धूर्त कलिपुरुष एक भयंकर नाटक खेल रहा है ! उसमें दुष्ट मत-मतांतर (संप्रदाय) रूपी बलि-वेदियों पर मनुष्यों को बकरों की भाँति चढ़ा रहा है। उस धूर्त के पंजे से दीन मानवता को छुड़ाने का, अपनी कृपा-दृष्टि इधर फेरने का यही अवसर है प्रभु !'

तुलसी की भाँति त्यागराज प्राकृत-जन-गुण-गान के कट्टर विरोधी थे। अपने समय के राजा-महाराजाओं के कितने ही निमंत्रणों को ठुकरा कर उन्होंने दरिद्रता ही का वरण कर लिया था।

तुलसीदास के स्वभाव तथा भक्ति-पद्धति के अलावा लगता है, त्यागराज उनकी अमर रचना मानस से भी काफ़ी प्रभावित थे। मानस के कई मार्मिक प्रसंगों ने उन्हें विशेष रूप से मुग्ध बना लिया है। हम यहाँ केवल एक उदाहरण दे कर संतोष करेंगे। प्रसंग सीता-स्वयंवर के पूर्व धनुष-यज्ञ का है। प्रचंड पिनाक यानी शिवधनुष के पास खड़े रहने वाले कुसुम-कोमल किशोर प्रभु को देखने पर सीता जी के मन में जो तूफ़ान उठा था, जो आशंकाएँ उठी थीं, वह किस प्रकार किन-किन देवों को मनाती रही थीं कि प्रभु में धनुष उठाने की शक्ति भर दें,—उस मूक वेदना का गोस्वामी जी ने बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा था :

अहह, तात दारुन हठ ठानी, समुझत नहिं कछु लाभु न हानी।
सचिव सभय सिख देइ न कोई, बुध समाज बड़ अनुचित होई।।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा, कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा।।

× × ×

अति परिताप सीय मन माहीं, लव निमेष जुग सय समजाहीं।

× × ×

प्रभु तन चितइ प्रेम पन ठाना, कृपानिधान राम सबु जाना।
सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसें, चितव गरुड़ लघु व्यालहि जैसे।।

सीता जी की प्रारंभिक व्याकुलता और बाद के प्राप्त सुख के चित्रण ने त्यागराज के अंतर को जैसे झिझोड़ दिया था। सीता जी को प्राप्त उस दिव्य सांत्वनापूर्ण सुख का लवलेश ही सही, पाने के लिए उनकी आत्मा छटपटा उठी। मानस के उस प्रसंग को अपनी कृतियों में उतार लेने की उनकी आकांक्षा बलवती हुई। यदि वे रामायण लिखते तो संभवतः उस प्रसंग को ज्यों का त्यों उसमें उतार लेते। उनकी सारी रचनाएँ तो फुटकर गीत ही रहीं। हाँ, दो नाटक (गेय) उन्होंने रचे थे। 'प्रह्लाद-भक्त-विजयमु' और 'नौका-चरित्रमु'। कहीं न कहीं सीता जी की उस व्याकुल हर्ष-विह्वल दशा का प्रसंग ठीक बैठे या न बैठे वर्णन करने की ललक ने उन्हें प्रह्लाद-भक्त-विजय की ओर जैसे संकेत किया। उसमें भगवान विष्णु, भक्त प्रह्लाद से साग्रह अनुरोध करते हैं कि वह कोई वर माँग ले। तब प्रह्लाद के श्रीमुख से 'सीता-सुख' की याचना कराते हैं भक्त त्यागराज! प्रह्लाद हुए भगवान के चतुर्थ अवतार नृसिंह देव के काल में और सीता जी हुई थीं दो अवतार बाद रामावतार के समय। ऐसी स्थिति में प्रह्लाद के मुँह से 'सीता-सुख' की माँग कराना बहुत बड़ी ऐतिहासिक असंगति, भारी अनौचित्य है।

किंतु भाव के भूखे भक्त को जैसे इस असंगति की तनिक भी चिंता न थी। प्रह्लाद हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं: "हे प्रभु रामचंद्र! (ध्यान दीजिए, प्रह्लाद, भगवान का संबोधन कर रहे हैं, 'रामचंद्र!' यह भी ऐतिहासिक असंगति है) दया-निधान! उस दिन सीताजी को प्राप्त सुख का लवलेश ही सही, मुझे प्रदान करो स्वामिन्! धनुष यज्ञ में आये हुए नरेशों की चर्चा सुनने पर उनके मन में शंका हुई कि शायद साकेतपति न आयें। तुरंत दासी ने आश्वासन दिया कि वे (साकेतपति) अवश्य आयँगे। इस अवसर पर उन साध्वी को जो सुख हुआ, उसका एक लघुअंश मुझे प्रदान करो! फिर सीता जी को शंका हुई कि कहीं प्रभु का मन किसी उन जैसी अन्य रमणी पर आसक्त हुआ हो! इससे व्याकुल हो गौरी को मनाने पुष्प-वाटिका में गयीं तो वहाँ प्रभु से अचानक ही भेंट हुई। इस अवसर पर जानकी जी को प्राप्त सुख का लवांश ही सही, प्रदान करो! धनुष-मंडप में सीता जी ने सोचा कि ऐसा लघु किशोर

रूप उस धनुष को झुका न पायगा और अत्यंत खिन्न हुई। तब प्रभु ने उन्हें अपना विराट रूप दिखाया। उस घड़ी माता जी को जो सुख हुआ, उसका लवलेश मुझे प्रदान करो दयानिधान।"

मानस के मर्मज्ञ पाठक समझ गये होंगे कि तुलसी की भावाभिव्यंजना ने त्यागराज को कितना प्रभावित किया था ! इस गीत में पुष्पवाटिका में जनकनंदिनी और दशरथ-नंदन की भेंट वाला प्रसंग भी आ गया है। स्मरण रहे, ये दोनों प्रसंग पुष्प-वाटिका वाला और सीता जी की मनोदशा-विश्लेषण वाला, दोनों वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं। उनका ज्ञान तो तुलसी रामायण ही के परिशीलन का परिणाम है। इसे हम आकस्मिक प्रभाव कथमपि नहीं कह सकेंगे।

नानापुराण, निगम, आगम तथा अन्य कई प्रसूनों से रामकथा-मकरंद का संचय कर मानस में भरने वाले गोस्वामी जी की ही भाँति भक्तवर त्यागराज ने अपनी विविध कृतियों में अनेक ग्रंथ-सुमनों से चुने हुए भाव-मधु को संगीत के भव्य चषक में भर कर प्रस्तुत किया है, चिर तृषित मानवता के आगे। उन सुमनों में एक, अवश्य पावन तुलसी-मंजरी रही है।

—आकाशवाणी, हैदराबाद।

भीमसेन 'निर्मल'

आंध्र के हिंदी नाटककार : नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि

आर्य और द्रविड़ के संगम-स्थान पर स्थित हो आंध्रों ने भारतीय संस्कृति को अपना कर सदा ही 'मध्यदेश' की भाषाओं की बहुमूल्य सेवाएँ की हैं। क्या संस्कृत, क्या प्राकृत, क्या अपभ्रंश और क्या हिंदी, सभी भाषाओं के साहित्य-भंडार की श्रीवृद्धि में आंध्रों ने अपना अविस्मरणीय सहयोग प्रदान किया है। ऐतिहासिक तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यदेश की भाषाओं की साहित्य-संपन्नता में सहयोग प्रदान करना आंध्रों की प्रारंभ से ही परंपरा रही है। आंध्रों ने मध्यदेश की भाषाओं का दिल खोल कर स्वागत किया है और किसी प्रकार के स्वार्थ के बिना उनकी सेवा की है और इन भाषाओं के साहित्यों की श्रीवृद्धि में अपनी शक्ति लगायी है। पुरुषोत्तम कवि के हिंदी नाटक भी इसी परंपरा की एक कड़ी मात्र हैं। ये रचनाएँ बिना मेघ की वर्षा अथवा अदृष्ट पुण्य के फल के समान नहीं हैं। ये रचनाएँ अपनी अंतःप्रेरणा से स्वांतःसुखाय ही लिखी गयी हैं। लेखक पर न किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभाव था और न उनके सामने कोई अन्य राजकीय कारण ही था। इससे यह सिद्ध होता है कि इस रचनात्मक कार्य के पीछे 'मध्यदेश' की भाषा हिंदी की सार्वदेशिकता की ही भावना थी, कोई राजनीतिक या व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना नहीं थी। इस दृष्टि से हिंदी के इतिहास में पुरुषोत्तम कवि के हिंदी नाटकों का महत्वपूर्ण स्थान है।

सन १८८० तक आंध्र देश की जनता लोक-नाटकों से ही अपना मनोरंजन करती थी। उस समय धारवाड़ से महाराष्ट्र की कई नाटक-मंडलियाँ आंध्रदेश में आयीं। अपनी विशेषताओं के कारण इन नाटकों ने आंध्र जनता को मुग्ध कर दिया और आंध्र के युवकों में इस प्रकार के नाटकों को अभिनीत करने की आकांक्षा को जाग्रत किया। आंध्र के कई लेखकों ने धारवाड़ के इन नाटकों की रचना-शैली को आदर्श मान कर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं और उत्साही युवकों ने उन नाटकों को सफलता के साथ प्रदर्शित किया। इस प्रकार महाराष्ट्र की नाटक-कंपनियों ने आंध्र के आधुनिक नाटक-साहित्य का श्रीगणेश कर दिया था।

धारवाड़ की नाटक-कंपनियों के प्रभाव से प्रेरित हो कर जिन-जिन नाटक-कंपनियों की स्थापना हुई थी, उनमें कुछ नाटक-मंडलियों ने तेलुगु के अतिरिक्त हिंदी में भी नाटक लिखवा कर अभिनीत किये थे। परंतु उन लेखकों की हिंदी-रचनाएँ दुर्भाग्यवश कालकवलित हो गयी हैं और नाम मात्र को रह गयी हैं। पसुमर्ति यज्ञनारायण शास्त्री ने 'आंध्र-नट-प्रकाशिका'

(सन १९२० में प्रकाशित) नामक ग्रंथ के पंचम अध्याय में इन नाटक-मंडलियों का विस्तार से वर्णन किया है और यह बताया है कि १. विशाखापट्टणम के 'जगन्मित्र समाज' ने (जिसका प्रारंभ सन १८८५ में हुआ था) १८८९-९० में हिंदी नाटक अभिनीत किये थे। २. 'प्रियसंल्लाप-नाटक-कंपनी' ने हिंदी में कई नाटकों का अभिनय किया था। इसके प्रमुख अभिनेताओं में गोविंद राव, शंकरम आदि थे। ये आस-पास के गाँवों में भी नाटकों का प्रदर्शन करते थे। ३. काकिनाडा के वेदुरुमूडि शेषगिरि राव ने 'शिवाजी चरित्र', 'पेशवा नारायणराव वध' आदि हिंदी नाटकों की रचना की थी। ४. वामन भट्ट जोशी एलूरु में सन १८८५ से ले कर १८९० तक हिंदी नाटकों का प्रदर्शन करते रहे। ५. सन १९०२ में नरसापुर में बुद्दिराजु ब्रह्मानंदम, बोम्मकंटि कृष्णमूर्ति और मामिल्लपल्लि केशवाचार्य ने 'आर्यानंद-हिंदू नाटक-समाज' की स्थापना कर हिंदी में नाटकों का अभिनय कराया। ६. केवल हिंदी नाटकों के अभिनय करने के लिए ही श्रीमुनिपट्टणम में 'भक्त-विलासिनी समाज' की स्थापना हुई। इस संस्था के संस्थापक मिंदी रामचंद्र राव हैं जो स्वयं अच्छे अभिनेता थे।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आंध्र के आधुनिक नाटक-साहित्य के प्रारंभिक काल में हिंदी के नाटक पर्याप्त संख्या में लिखे गये थे और उनका सफल प्रदर्शन भी हुआ था। इससे स्पष्ट है कि इस दिशा में पुरुषोत्तम कवि का रचना-प्रयास अकेला नहीं है। उस युग के कई आंध्र लेखकों ने हिंदी में रचनाएँ प्रस्तुत की होंगी, पर वे आज हमें दुर्भाग्यवश उपलब्ध नहीं होतीं। यह एक सौभाग्य की बात है कि पुरुषोत्तम कवि के सुपुत्र मेधा-दक्षिणामूर्ति शास्त्री जी के सत्प्रयत्नों द्वारा उनके पिता के ३२ नाटकों में से १४ नाटक उपलब्ध हैं। पुरुषोत्तम जी की इस देन को हिंदी नाटक-साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

पुरुषोत्तम कवि का जन्म २३-४-१८६३ को कृष्णा जिले के 'सीतारामपुरी' नामक ग्राम में हुआ था। नादेल्ल वंश वाले वैदिकी ब्राह्मण, आपस्तंब सूत्र तथा हरितसगोत्रज हैं। कामय्य और सुब्बांबा की आप पाँचवीं अर्थात अंतिम संतान थे। जब आप केवल डेढ़ वर्ष के थे, तब बंगाल की खाड़ी में सन १८६४ के नवंबर की पहली तारीख को एक भीषण तूफ़ान आया, जिसके कारण सीतारामपुरी जलमग्न हो कर नामावशिष्ट हो गयी। इस घटना के बाद कामय्य का परिवार अर्धनग्न अवस्था में पाँच कोस की दूरी पर स्थित 'कोत्तपेट' पहुँचा और बड़ी निर्धनता में दिन बिताने लगा। एक दिन कामय्य को स्मरण हो आया कि ताता पद्मनाभम नाम के एक वैश्य ने उनके पास से कुछ रुपया क़र्ज़ ले कर हैदराबाद में व्यापार शुरू किया था और काफ़ी संपत्ति कमायी थी। पद्मनाभम से मिलने के लिए वे हैदराबाद पहुँचे। इस प्रकार अपने दूसरे ही वर्ष में पुरुषोत्तम जी हैदराबाद आ गये, जहाँ उस समय 'दक्खिनी' बोलचाल की भाषा के रूप में प्रचलित थी। उस समय के निज़ाम के कोषाध्यक्ष पेलप्रव हनुमंतराव के घर, उनके बच्चों को पढ़ाने के लिए एक मौलवी साहब आते थे। उनके पास बैठ कर पुरुषोत्तम जी उर्दू और फ़ारसी अच्छी तरह सीख गये। घर में पिता के चरणों के पास बैठ कर तेलुगु, संस्कृत तथा वेद-वेदांगों की शिक्षा प्राप्त की। शाम के समय वे महाराष्ट्र के कथावाचकों के मुख से हरिकथाएँ सुनते थे। इन हरिकथाओं की गायन-शैली का प्रभाव पुरुषोत्तम के हिंदी नाटकों पर

स्पष्ट अभिलक्षित होता है। इस प्रकार प्रतिभावान बालक ने अपने बचपन में ही एक ओर उर्दू और फ़ारसी और दूसरी ओर तेलुगु और संस्कृत की शिक्षा प्राप्त कर ली। मराठी हरिकथाओं का भी उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

पिता की मृत्यु के बाद सन १८७३ में वे अपनी माता और बड़े भाई के साथ रामनगर लौट आये और वहाँ के सरकारी स्कूल में प्रविष्ट हुए। अंग्रेज़ी सीख कर मिडिल की परीक्षा में पास हुए। कुछ दिनों तक वे सारे आंध्र देश की ख़ाक छानते रहे। इसी समय उन्हें कविता करने का भी शौक हो गया। बाद में वे ट्रेनिंग प्राप्त कर सन १८८१ में गुंटूर ज़िले के रेपल्ले के बोर्ड स्कूल में अध्यापक बने।

अपने सोलहवें वर्ष में ही पुरुषोत्तम जी ने 'अहल्या संक्रंदनीयमु' नामक तेलुगु यक्षगान की रचना की और उसे स्वयं प्रकाशित करवाया।

सन १८८० में धारवाड़ से महाराष्ट्र की नाटक-मंडलियाँ आंध्र देश में आयीं। इन नाटकों के प्रभाव से पुरुषोत्तम जी हिंदी नाटक-रचना की ओर प्रवृत्त हुए। इस घटना ने आंध्र को एक ऐसा सौभाग्य प्रदान किया जिससे हिंदी नाटक-साहित्य की अपूर्व श्रीवृद्धि हुई। दुर्भाग्य की बात है कि हिंदी के विद्वान इस अमूल्य निधि से आज तक वंचित है, केवल इसलिए कि ये नाटक अहिंदी प्रांत में लिखे गये थे और इनकी लिपि तेलुगु रही थी। अतः केवल हिंदी या केवल तेलुगु जानने वाले विद्वान पाठकों के लिए ये रचनाएँ बोधगम्य नहीं थीं।[१] अस्तु,

धारवाड़ की नाटक-कंपनियों की ही शैली में हिंदी में नाटकों की रचना करवा कर अभिनीत करने के उद्देश्य से मछलीपट्टणम में 'नेशनल थियेट्रिकल सोसाइटी' की स्थापना की गयी थी। उसके मैनेजर दासानि वेंकटस्वामी नायुडु ने रेपल्ले में अध्यापन-कार्य करने वाले पुरुषोत्तम कवि से आग्रह किया कि वे हिंदी में कुछ नाटक लिखें। पुरुषोत्तम जी नायुडु जी के आग्रह को टाल न सके और उन्होंने **पुरविरोधि कृपार्जन से, पुण्य चारित्रां विरचन कर के, दक्षिणामूर्ति देव कु समर्पण मैं किया हूँ** कह कर ३२ नाटक, वह भी दो वर्ष की अवधि (१८८४-८६) में, लिख कर नायुडु जी को दिये। इन हिंदी नाटकों के निर्देशन, उच्चारण की शिक्षा आदि के लिए वे प्रति शुक्रवार सायंकाल रेपल्ले से निकल कर मछलीपट्टणम आते और सोमवार प्रातःकाल तक रेपल्ले वापस चले जाते। मछलीपट्टणम में धारवाड़ के लोगों के सामने उन्होंने सन १८८४ की ईस्टर की छुट्टियों में 'कलावती परिणयम्' का प्रदर्शन स्वयं सूत्रधार बन कर किया। इस नाटक को देख कर धारवाड़ कंपनी के एक प्रमुख अधिकारी ने कहा था कि अब हम लोगों को आंध्र देश में नाटक-प्रदर्शन के लिए आने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम प्रदर्शन की इस सफलता ने कवि के उत्साह को द्विगुणित कर दिया और उन्होंने 'रामायण' के आधार पर चार, इतिहास के आधार पर दो और विभिन्न पुराणों के आधार पर उन्नीस, कुल मिला कर ३२ नाटकों की रचना की। ये नाटक मछलीपट्टणम के अतिरिक्त अन्य कई नगरों में दस-पंद्रह वर्ष तक

---

१. इन पंक्तियों के लेखक ने उपलब्ध हिंदी रचनाओं का देवनागरी लिप्यंतर किया है एवं पुरुषोत्तम कवि के हिंदी नाटकों पर अपना शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है।

अभिनीत होते रहे, जिसका स्पष्ट उल्लेख 'बुध विधेयी' तथा अन्य समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं में मिलता है।

हिंदी के ३२ नाटकों के अतिरिक्त आपने विभिन्न विषयों पर ८० पुस्तकें लिखी हैं। वे आशु, चित्र, गर्भ, बंध आदि चतुर्विध कविता-रचना में सफल प्रयोग प्रस्तुत कर 'सरस चतुर्विध कविता-साम्राज्य-धुरंधर' की उपाधि से विभूषित हुए। सन १९३८ में पुरुषोत्तम जी पूर्णायु का उपयोग कर शिवसायुज्य को प्राप्त हुए।

अनेक भारतीय भाषाओं में नाटक-साहित्य का प्रणयन अधिकतर पौराणिक गाथाओं के आधार पर हुआ है। इसका कारण यह है कि आधुनिक नाटक-साहित्य के प्रारंभिक युग में नाटककारों का प्रधान लक्ष्य जनता के सामने उच्चतम आदर्शों को प्रस्तुत करना था तथा इसके लिए पौराणिक गाथाओं को छोड़ कर और दूसरा कोई माध्यम नहीं हो सकता था। इस परंपरा का निर्वाह करने वालों में हमारे आलोच्य नाटककार का स्थान आंध्र के नाटक-साहित्य में सर्वोपरि है।

पुरुषोत्तम कवि के ३२ हिंदी नाटकों को कथानक के आधार पर निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

रामायण संबंधी नाटक : १. पुत्र कामेष्टि, २. सीता कल्याणमु, ३. दशरथ निर्वाणमु, ४. रामारण्यवासमु, ५. सीताहरणमु ६. सुग्रीव पट्टाभिषेकमु, ७. हनुमत्प्रतापमु, ८. रावण-संहारमु।

महाभारत संबंधी नाटक : ९. सुभद्रा परिणयमु, १०. मनोजवालक्ष्मी निवारणमु, ११. मित्रसहोपाख्यानमु, १२. सुकन्या परिणयमु।

अन्य पुराण संबंधी नाटक : १३. कालासुर वध, १४. पंचाक्षरी महिमा, १५. भस्मासुर वध, १६. कलावती परिणयमु, १७. शारदोपाख्यानमु, १८. सीमंतिनी चरित्रमु, १९. भद्रायुरभ्युदयमु, २०. कीर्तिमालिनी प्रदानमु २१. अपूर्व दांपत्यमु, २२. गोकर्ण माहात्म्यमु, २३. अहल्यासंक्रंदनीयुमु, २४. श्रीयाल चरित्रमु, २५. सत्यहरिश्चन्द्रीयमु, २६. बिल्हणीयमु, २७. शुकरंभा संवादमु, २८. शंबूक वध, २९. लवणासुर संहारमु, ३०. इल महाराज चरित्रमु।

ऐतिहासिक नाटक : ३१. पीशवा (पेशवा) नारायण राव वध, ३२. रामदास चरित्रमु।

दुर्भाग्य से उपर्युक्त नाटकों में १ से ८ तक के गीत मात्र प्राप्त हैं और १८, १९, २०, २१, २३ तथा ३२ संख्या वाले नाटकों के गद्य-पद्य भाग प्राप्त हैं। 'रामदास चरित्रमु' स्वयं कवि द्वारा सन १९१६ में तेलुगु लिपि में प्रकाशित किया गया था। शेष उपलब्ध नाटक कवि के सुपुत्र मेधा दक्षिणामूर्ति शास्त्री द्वारा कवि की मृत्यु के दो वर्ष बाद अर्थात सन १९४० में प्रकाशित किये गये हैं।

हिंदीभाषी प्रदेश के उस युग के रंगमंचीय पौराणिक नाटकों के जो सामान्य लक्षण हैं, लगभग वे सभी लक्षण पुरुषोत्तम जी के नाटकों में परिलक्षित हो सकते हैं। क्योंकि ये नाटक मूलतः किसी नाटक-मंडली या थियेटर-कंपनी में अभिनीत होने के लिए ही लिखे गये थे। इस

तथ्य का प्रभाव रचनाओं की भाषा-शैली, अभिनेयता, भाव आदि पर स्पष्ट परिलक्षित है। (हिंदी के पौराणिक नाटक—डॉ० देवर्षि सनाढ्य)।

पुरुषोत्तम जी ने अपनी युगीन परंपराओं के अनुकूल एवं अपनी वैयक्तिक रुचि के अनुसार पौराणिक कथाओं को चुन कर उनका यथावत नाटकीकरण किया है। मूल कथाओं में यत्र-तत्र जो छोटे-मोटे परिवर्तन किये गये हैं, वे नगण्य हैं। ये नाटक रचना तथा प्रदर्शन की प्रारंभिक अवस्था में केवल व्यावसायिक नाटक-मंडलियों के रंगमंच को दृष्टि में रख कर लिखे गये थे। इस कारण इन नाटकों में नाटक के अंग-प्रत्यंग, चरित्रों के विकास का सूक्ष्म विश्लेषण, रस-निष्पत्ति, देश-काल के सम्यक चित्रण आदि पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में पुरुषोत्तम कवि के नाटकों का स्थान रचना-कौशल के दृष्टिकोण से न हो कर आधुनिक खड़ी बोली के प्रारंभिक युग में एक अहिंदी प्रदेश में हिंदी भाषा के प्रयोग के दृष्टिकोण से है। ऐसे समय में जब कि राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी के प्रचार-प्रसार की कोई कल्पना नहीं की गयी थी, उस समय एक अहिंदी प्रांत के निवासी होते हुए और अहिंदी भाषा-भाषी होते हुए भी पुरुषोत्तम जी ने राष्ट्रभाषा की जो सेवा की है, वह अत्यंत प्रशंसनीय है। पुरुषोत्तम जी की हिंदी रचनाएँ हिंदी की सार्वदेशिकता के अकाट्य प्रमाण हैं।

भाषा-शैली में प्रयोगगत दोषों के होते हुए, आधुनिक हिंदी व्याकरण की दृष्टि से त्रुटियों के होते हुए तथा कहीं-कहीं शब्द-विन्यास के आज की हिंदी भाषा की प्रकृति के प्रतिकूल होते हुए भी पुरुषोत्तम जी ने हिंदी अथवा 'हिंदुस्थानी' में, एकाध नहीं, बत्तीस नाटक लिखने का जो प्रयास किया है, वह स्तुत्य तो है ही, साथ ही अहिंदी हिंदी लेखकों के गौरव को बढ़ाने वाली भी है। पुरुषोत्तम जी की रचनाओं को हिंदी साहित्य में समुचित स्थान मिलना चाहिए।

देशमंटे मट्टि कादोय,
देशमंटे मनुषुलोय।

—गुरजाड अप्पाराव।

मिट्टी नहीं है अर्थ देश का,
देश का अर्थ एक जन-समुदाय है।
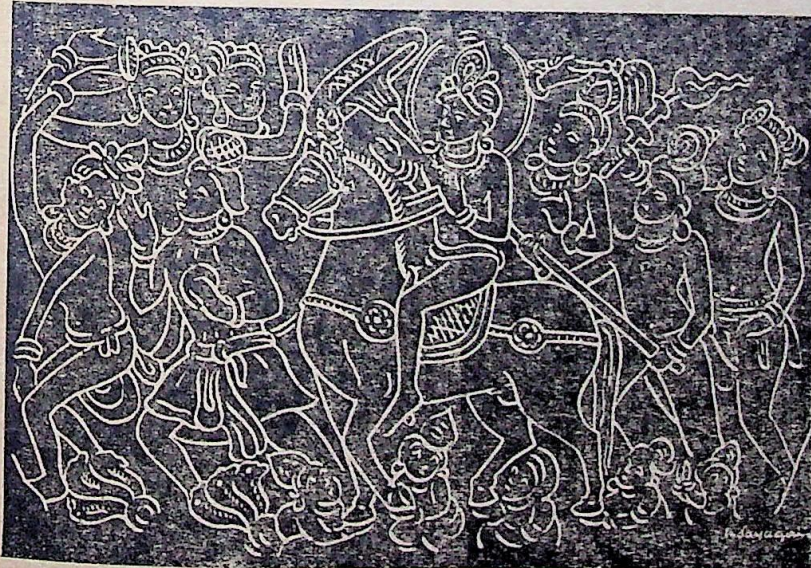
श्री श्री

विदूषक की आत्महत्या

मोम-बत्तियाँ बुझीं,
अंधकार की गहराई
'क्लोरोफ़ार्म' की भाँति फैल गयी।
संसार ने अपनी मृत्यु का घोषणा-पत्र स्वयं रच डाला।
और विदूषक ने आत्महत्या कर ली।

मशीनों के मंत्र-गान
विषैले घने धुएँ का तूफ़ान
स्टीमर पर चिंपैंज़ी
नांदी में ही भरत-वाक्य
मृत्यु में ही सर्जन
विदूषक की आत्महत्या।

विदूषक के विकट हास के ही साथ
कंकाल की खोपड़ी हठात हँस पड़ी;
भूख ने खाना पका लिया है।
और हंस गगन पहुँच गया है।

विदूषक का विषाद
समुंदर का बड़वानल
भूचाल में 'फ्रूट-सॉलआॅड'
किंतु,
मोमबत्तियाँ पुनः जल गयी हैं
और मृत्यु का घोषणा-पत्र जल कर
राख हो गया है।

●

स्व० देवरकोंड बालगंगाधर तिलक

वह जो मैं नहीं हूँ

नहीं जानता मैं, आपके साहित्य के वितंडावादों को।
नहीं जानता कि चार आदमियों में 'अच्छा' कैसे कहलाया जाय।
ढलती रातों का तारकमंडित गगन
जब भूमि पर झुक कर फुसफुसाहटें किया करता है,
अक्सरहाँ मैं अपने कमरे में बैठा लिखा करता हूँ।
मात्र अपने हृदय का स्पंदन ही तब मुझे सुनायी पड़ता है।
सामने की दीवाल पर चिपकी छिपकली एकाग्रता से मेरी तरफ़ देखा करती है।
खिड़की के उस बाजू 'फ़र्न' का पौधा मुझे कनखियों से घूरता है।
रह-रह कर झींगुरों के प्रेमालाप गूँजते हैं।
और ईंट के पुराने ढेरों में उलझा हुआ साँप सचेत हो, सुस्ती से आगे सरक आता है।

ठीक उसी समय वह, जो मैं नहीं हूँ, हल्का सुर्ख़ आवेश (हाँ?) मेरा सारा बदन ओढ़ कर,
विचारों की गर्मी से पेट में ठिठुरती सर्दी को लपेट,
नीलाभ विस्तीर्णता को नयनों के छोरों में समेटे,
गुनगुनाता हुआ, गाता हुआ, कुछ न कुछ लिखा करता है।
सहसा मेरे अंदर से कोई आर-पार निकलता हुआ
निशानी की लकीर छोड़ जाता है--बीसियों वर्षों की स्मृतियाँ;
मेरे कमरे के बाहर किसी की फूटती हँसी को जबरन दबा देने की आहट,
मानो स्थिर पानी को किसी ने उँगलियों से कुरेद दिया हो।
जैसे रोदसी के अँधरे में अंतर्हित संगीत की अदृश्य श्रुति अटक गयी हो;
ओस और धुंधली चंद्रिमा की प्रसूत जाड़े की रात के वक्ष पर—
मेरा दीर्घ निःश्वास एक धब्बे की तरह छिपक जाता है—
एकांत पर यही मेरा फ़ैसला है।

आपका प्रश्न कि मैं क्यों लिखता हूँ,
अब उत्तर की अपेक्षा नहीं रखता।
किसी के लिए भी।
दीवार पर ठहरी हुई छिपकली अब आगे बढ़ गयी है।

'फ़ेर्न' का पौधा अब सो गया है।
आसमान एक-एक कर तारों को छोड़ ऊपर उठ चुका है।
मेरे चारों ओर से पर्दे एक-एक कर सरकते गये हैं।
सचमुच अभी-अभी ही मेरी नींद टूटी है।
और मुझे लगा है कि खिड़की की सलाखों से
शिशिर चाँदनी की क्षीण रेखा तड़प उठी है।

•

कालोजी नारायण राव

बापू के प्रति

राजकोट में, तेरे जन्म की स्मृति में
अक्तूबर दो।
और राजघाट में निर्मम मृत्यु की याद में
तीस जनवरी।
मात्र यही दो दिन रह गये शेष हमारे यहाँ।
तेरे उनहत्तर सालों की लंबी जीवन-यात्रा—
सफलताओं-उपलब्धियों को
हमने निगल लिया है
और आराम से बैठ गये हैं—
बीज तक न बचा कर,
बड़ी धूम-धाम से
तेरे स्मृति-दिवसों को
मनाते हुए, सहेजते हुए।

•

दाशरथी

राजहंस

स्वीकार करते हुए भी
कि मैंने राजहंसों को कभी नहीं देखा,
उनके खान-पान का, होने का
अनुमान लगा (तो) सकता हूँ।

कवि कालिदास ने कभी कहा भी था
कि राजहंस बरसाती मौसम में
मानसरोवर में घूमने जायँगे—
भोलानाथ के आवास
कैलास पर्वत पर बिहरेंगे।

मेरा अनुमान है कि चाँदनी को
घनीभूत कर, राजहंसों को
तैयार किया गया होगा।
नहीं तो भला, इतनी धवलता क्यों?

कहते हैं, ये कमल-नाल खाया करते हैं।
बात सही हो भी सकती है।
साथ में मानसरोवर के स्वर्ण-नाल भी।
संभव यह भी है
कि ये कैलास की गली-गली घूमते-फिरते होंगे।

पंख फड़फड़ा कर नील गगन में उड़ाने भरते राजहंस
लगते हैं, जैसे भूदेवी द्वारा प्रेषित श्वेत वसन हों।
देवताओं के सिर पर बँधे साफ़े हों।
उनके आकार का सही रूप निर्धारित न भी कर सकूँ,
फिर भी मैं यह कहूँगा
कि ये बड़े बतख से हो सकते हैं।

बड़ा बतख दूसरे जन्म में हंस का रूप धर सकता है।
जैसे पुण्यात्मा दूसरे जन्म में देवता बन जाता है।
बात सही नहीं? ज़रा आप भी सोच देखें?

तब हंस को अपने जन्म के क्रम से अप्सरा होना चाहिए,
जो स्वर्ग में उर्वशी और रंभा बन कर नाच उठे
और इंद्र औ वरुण बन कर रमण करे।

संसार के तमाम सैनिक संघटनों से
मेरा एक नम्र निवेदन है,
लो! मानसरोवर की ओर उड़ानें भरते हैं हंस।
कम से कम इसी को आदर्श मान कर छोड़ दें प्रतिहिंसा।

आकाशरूपी प्राचीनांध्र प्रबंध-काव्य में
सुंदर कंद पद्य[१] ही हैं ये हंस-वृंद,
जिनके पंख फड़फड़ा कर उड़ते समय
सौंदर्य की वर्षा होती है।

हंसों को तुच्छ मत समझो।
सृष्टिकर्ता ब्रह्मदेव के हवाईजहाज़ बने थे ये।
मर्यादापुरुष रामचंद्र जी का प्रणय-संदेश
सीता जी तक पहुँचाया था।

•

अनु० : तेलुगुदास (नि० वात्स्यायन),
तेलुगु साहित्य प्रचार समिति,
पो० झारसुगुड़ा, (उत्कल)

---

१. तेलुगु का एक छंदविशेष, जिसे संत कवि वेमना ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना था।

सी० नारायण रेड्डी

अकेला दिया

अकेला दिया बेमतलब इधर-उधर देखता है—
अपने चारों तरफ़ बाल बिखेर कर—
नाचते, अँधेरे के शैतानों को,
मिट्टी का दिया डरी-सहमी नज़रों से।

कूदते-फाँदते घूमते देख
पैर वाले हवा के बच्चों को,
लँगड़ाता दिया फड़फड़ाती पलकों से देखता है।

'काश ! वह भी अँधेरे की तरह तांडव करता,
काश ! वह भी बह पाता हवा की तरह टूट-टूट,
तो पिंजडानुमा इस ढिबरी की जेल से मुक्ति मिल जाती
औ' पंछी की तरह वह भी पंख फड़फड़ा कर उड़ पाता।'

दिये की आँखों में अज्ञान का अंधकार भरता ही गया
कि प्रचंड गति से बवंडर बह निकला।

बेचारे दिये की साँस रुक गयी।
शापग्रस्त-सा उसका बदन काला पड़ने लगा।
और अपने गलत विचारों को याद कर
उसने पश्चात्ताप के ये शब्द कहे:

'निरंकुश अंधकार की तरह बिखर कर
जगती के आनन पर कालिख पोतने की अपेक्षा
ढिबरी के घेरे में पड़े रह कर ही
सुनहला प्रकाश बिखेरना भला है।'

●

अनु० : कामता प्रसाद ओझा, 'दिव्य',
तेलुगु साहित्य प्रचार समिति,
पो० झारसुगुड़ा (उत्कल)

वज़ीर रहमान

मातृ-शोक

दीवार पर टँगे चित्र की तरह
स्पंदनहीन मृत शिशु को
गोद में उठा कर भी
फिर वही विचार :

राग छेड़ने से पहले ही
अचानक क्यों यह गीत
रुक गया ?
इस शिशु का क्या क़सूर था ?
घुप्प अँधेरे में
मेरी गर्म छातियों को
टटोलने वाली
यह नन्ही-सी परछाईं
विकसित होने से पूर्व ही
क्यों काट कर अलग कर दी गयी ?

यह दंड किसे, प्रभु ?
क्यों ?
और किस अनपहचानी
भूल के लिए ?

●

अनु० : तेलुगुदास, (मु० मल्लेश्वरराव),
तेलुगु साहित्य प्रचार समिति,
पो० झारसुगुड़ा (उत्कल)

मुहम्मद इस्माइल

टूटा हुआ इंद्रधनुष

नीला आकाश,
हल्की-गीली धूप,
टेरिलिन के पर्दे की भाँति बूँदाबाँदी
और इंद्रधनुष।
कोलतार की रोड
पुरानी साड़ी पर
सिले हुए नये पेवंद की तरह
छोटे-छोटे गर्तों में निश्चल बरसाती पानी।
रास्ते में खराब हो गयी
एकी लारी, ठहरी हुई।

स्याही की तरह
जमीन पर गिरा डीज़ेल आयल।
और पिकासो की कला-कृतियों की तरह
पानी की सतह पर पसरती अमूर्त कला।
'केलेडेस्कोप' के रंगों जैसे
रोड के गड्ढों में
डीज़ेल आयल मिला पानी भर गया है।
लारी के बग़ल में
इंद्रधनुष के टुकड़े कटे हुए रंगों में
चमकने लगे हैं।

●

निखिलेश्वर

वह कमरा

तारक-मंडित वन में
भटके हुए स्नेह,
मैत्री के अन्वेषण में—
आगे बढ़ते गये मेरे दोनों हाथ।
अच्छी तरह सिंच गये,
रुधिर से।
आगत को अपने में निक्षिप्त—
हड्डियों में जिये गये समय के टुकड़े,
सीढ़ी पर ठहराव,
हथेलियों से बहते अश्रुकणों से
उग आये खेत,
ढह गयीं इमारतें—
वहीं पर...
कहीं बचे-खुचे खँडहरों पर,
अँधेरे बंद कमरे में,
टिमटिमा कर जलती,
मोमबत्ती-सी सभ्यता;
मँडरा रही हैं वहीं पर छायाएँ
महनीय-महिमा-वरेण्यों की;
इनमें से प्रत्येक को मृत्यु-घाट उतार देने की गरिमा
हमारी उपलब्धि है;
आधी मोमबत्ती गल ही चुकी है;
आकांक्षा हमारी
उस कमरे में प्रवेश करने की,
अंततः फलित हो ही गयी है—
कुछेक अश्रुकणों को (पैरों तले) रौंद कर।
कुछेक उसांसों को जबरन दबा कर।
कुछेक श्वासों को गले में घोंट कर।

●

अनु० : कामता प्रसाद ओझा 'विन्ध्य'।

बलिवाडा कांताराव

कहानी

कड़वा सच

मैं जब पहली बार एक बड़ी फ़ैक्टरी में 'पर्सनल ऑफ़ीसर' बन कर बंबई गया था तब एक व्यक्ति के बारे में तरह-तरह की बातें सुनी थीं। मेरे कार्यालय-अधीक्षक से ले कर चपरासी तक की बातों से वह व्यक्ति, नाथूराम विनायक पाटिल, मेरे मन में परम मूर्ख के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

उसे साँड़ के समान छोड़ दिया गया था। उसको आते हुए देख कर फाटक पर रहने वाला पहरेदार भी रास्ता दे देता। मेरे स्थान पर पहले जो अफ़सर थे उन्होंने एक बार पाटिल को 'चार्ज-शीट' दिया था। पाटिल ने उसे उन्हीं के सामने फाड़ दिया और पूछा, "क्या अपने एकमात्र पुत्र को जीवित नहीं देखना चाहते?" वह अफ़सर अपने पुत्र को जीवित बचाये रखने की इच्छा से कुछ न कर सका। इस प्रकार की कितनी ही घटनाओं का उल्लेख करते हुए अंत में सभी ने मुझे एक ही सलाह दी: 'उस आग का स्पर्श मत कीजिए, कहीं हाथ जल न जायँ।' इस प्रकार के व्यक्तियों के विषय में जान कर उन्हें सुधारने का प्रयत्न करना पंद्रह वर्ष की नौकरी में मेरे लिए कोई नयी बात नहीं थी। शिकायत और शोरगुल करने वाले अफ़सर की अपेक्षा सुधारने का प्रयत्न करने वाला ही अधिक सफल हो सकता है, यह मेरी अडिग धारणा है।

बहुत ज़रूरी होने पर ही पाटिल को बुलाने का विचार किया और उसे बुला भेजा। मेरा बुलावा पा कर वह उपहासभरे स्वर में हँस दिया। बहुत देर के बाद वह धीरे से मेरे पास आया और एकाएक भीतर आ कर 'राम-राम सा'ब कहते हुए खड़ा हो गया। छह फ़ीट ऊँचा, बड़ी-बड़ी भरी हुई काली मूँछों वाले उस व्यक्ति की बातों से गंभीरता झलक रही थी। परिपुष्ट रूप से बढ़े हुए पौधे को नमक का पानी लगने के समान उसके बलिष्ठ शरीर को शराब की आदत ने थोड़ा सा झुका दिया था। जंगली सुअर के बिखरे बालों के समान लगने वाले उसके सिर के बालों से तेल चू रहा था। तंबाकू खाने से फूला हुआ मुँह चाक के समान चल रहा था। कटार के समान नाक के दोनों ओर तीक्ष्ण आँखों को और सायंकालीन धूप को ढकने वाले मेघ जैसे उसके शरीर को देखता रह गया।

"क्यों, मेरे मुख पर कोई सिनेमा है क्या सा'ब?" इस प्रश्न ने मुझे सचेत कर दिया और मैंने मुस्कराते हुए कहा, "तुम बहुत सुंदर व्यक्ति हो, जी!"

ज़ोर से हँसते हुए उसने कहा, "कई अफ़सर आये-गये लेकिन सच्ची बात कही तो आपने।"

"तुम्हारे जैसा विस्तृत वक्ष और तीक्ष्ण नेत्र तो मैंने अब तक कहीं देखे ही नहीं। यदि मैं औरत होती तो...."

"अरे दोंडिबा......!" चपरासी की ओर मुड़ कर उसने कहा, "ऐसा मज़ाक करने वाला सा'ब तो मैंने कहीं देखा नहीं।"

"पाटिल, मुझे इस शहर में आये पंद्रह दिन हुए। तुम्हें देखने का यह पहला अवसर है। सुना था तुम बहुत बुरे हो। पर तुमसे मिलने के बाद लगता है, तुम्हारे जैसा भला आदमी संभवतः दूसरा नहीं है।"

उसने एक बार मूँछों पर ताव दिया। मैंने उसकी आँखों की ओर सावधानी से देखते हुए कहा, "जानते हो, तुम्हें मैंने क्यों बुलाया?"

"चार्ज-शीट देने के लिए?"

"नहीं। पहले प्रेम रूपी औषधि से रोग-निदान का प्रयत्न करूँगा। औषधि से ठीक न होने वाले रोग के लिए आपरेशन है ही। तुम्हारे जैसे व्यक्ति को औषधि से या ऑपरेशन से ठीक करना होगा ही न?"

"मुझे रोगी कहने वाले को ही रोग है सा'ब।"

"तुम्हारा रेकार्ड देखा। महीने में सप्ताह भर भी काम पर नहीं आते हो। आते हो तो बिना काम किये ही चले जाते हो। प्रत्येक का अलग-अलग नियम नहीं होता। सबका एक ही प्रकार का न्याय होना चाहिए।"

बड़ी लापरवाही और उपहासभरे स्वर में उसने कहा, "ऐसाऽऽऽ।"

"इतने कम वेतन में गुज़ारा कैसे करते हो?"

"जो मिलता है, वही काफ़ी है।"

"पत्नी और बच्चों का क्या होगा?"

"मेरी पत्नी अकेली है। उसे किसी चीज़ की कमी नहीं।"

"मैं तो यहाँ तुम लोगों की सेवा करने के लिए आया हूँ, अधिकार चलाने के लिए नहीं। तुम लोगों की भलाई ही मेरी भलाई है।"

"ऐसाऽ....तो ठीक है....एक पाँच रुपये तो इधर बढ़ाइए!"

झट से पाँच रुपये निकाल कर उसे दे दिये।

"अरे दोंडिबा! यह सा'ब तो जैसा कहता है वैसा ही करता है।" कहते हुए उसने मुझे सलाम किया और जल्दी से बाहर निकल गया।

शाम को फाटक के बाहर बस-अड्डे के पास पी कर मस्त पड़े पाटिल को मैंने देखा। मुझे देखते ही वह लड़खड़ाता हुआ उठ कर खड़ा हुआ और नाचते हुए मुझसे पहले के अफ़सर को गालियाँ देता हुआ मेरी प्रशंसा करने लगा। अपने दिये पाँच रुपयों के इस सदुपयोग को देख कर मुझे बड़ी तकलीफ़ हुई। फिर भी अपने प्रति उसके हृदय में अच्छी भावना उत्पन्न होने के संतोष के साथ 'क्यू' में खड़ा रहा। मेरे साथ वह भी बस में चढ़ा। 'कंडक्टर' टिकट के लिए आया तो उसने मेरी ओर संकेत किया। बस चलने लगी तो

वह मराठी में गुनगुनाने लगा। जब-तब लय टूटने पर भी उसका स्वर बड़ा मधुर लग रहा था।

दूसरे दिन मैं जब दफ़्तर गया तब वह बरामदे में खड़ा था। मुझे देखते ही 'राम-राम, सा'ब' कहा। मैं अनजान बन कर ग़ुस्से से भीतर जाने लगा। मेरे साथ वह भी भीतर आया। उसे बात करने का अवसर न दे कर झट से बटुए में से दस रुपये का नोट निकाल कर उसकी ओर बढ़ाया। उसे न लेते हुए उसने पूछा, "किसलिए सा'ब ?"

"कल तुमने जो किया, उसी के लिए।"

"जिस दिन मेरी पत्नी पैसे न देगी, उस दिन आपसे माँग लूँगा।"

उसने पैसे नहीं लिये और अपने आने का कारण बताये बिना ही चला गया। एक सप्ताह तक वह फिर मुझे दिखायी न दिया। पर मैं दफ़्तर में और घर में भी उसके बारे में सोचता रहता। उसकी पत्नी के विषय में कितनी ही कहानियों की कल्पना की। संभवत: संपन्न घर की बेटी होगी या कहीं काम करती होगी। हो सकता है, कोई व्यापार ही करती हो। संभव है चोरी की शराब शहर में पहुँचाने वाली स्त्रियों के समूह में शरीक हो। किसी न किसी प्रकार की आय न हो तो पति को शराब पीने के लिए रोज़ पैसे कैसे दे सकती है; किसी प्रकार के स्वार्थ के बिना उसे घूस कैसे दे सकती है। बिना संतान की स्त्री रूप-यौवन के कारण सुंदर होगी ही। इस प्रकार, एक ही स्त्री की भिन्न-भिन्न रूपों में कल्पनाएँ करता रहा।

कल्पना के रंगों से चित्रित चित्रों को वास्तविकता की कूँची से मिटा देना मुझे पसंद नहीं है। इसलिए मैंने उस स्त्री के विषय में किसी से पूछा नहीं। दूसरे सप्ताह मैंने 'टाइम-कीपर' को बुलाया। इस बीच रविवार को छोड़ कर लगातार दस दिन नौकरी पर पाटिल आया है, यह जान कर मैं आश्चर्यचकित हो रहा था तो 'टाइम-कीपर' कार्निक ने कहा, "आपके प्रति उसके हृदय में बड़ा आदर है। वह कह रहा था कि उस सा'ब की बातों में एक को भी न मानूँ तो मेरे लिए अच्छा नहीं है।"

"इसीलिए क्या वह ठीक तरह से नौकरी पर आता रहा ?"

"वह नौकरी पर न आये तो भी उसे परवाह नहीं है।"

"क्यों ?"

"उसकी पत्नी कमाती है न!"

"कैसे ?" बिना सोचे ही मैं पूछ बैठा।

"उसके घर के पास ही मेरा घर है। वह उसकी दूसरी पत्नी है। गोरी, ख़ूबसूरत और पुष्ट शरीर वाली है। यह उस बेचारे को भरपेट खाने को भी नहीं देता था। भूख की बात तो मारने दौड़ता था। कहीं काम करने की बात कहती तो भी नहीं मानता। आगे जाय तो बावड़ी और पीछे जाय तो गड्ढा। उसे भय था कि कहीं मैके जाय तो वह मार ही डालेगा। लड़ कर उसके बलिष्ठ हाथों से बचना मुश्किल था। उसके भी पेट है, उसे भरना ही पड़ेगा न! सुंदरता है, पुष्ट शरीर है। उसकी भी कामना थी कि उस सुंदरता तथा शरीर का पुरुष उपभोग करे। उसे तो किसी प्रकार से जीना है ही। इसीलिए वह. . . .बेच लेती है।

"किसको ?"

"समस्त शरीर को।"

"हाय! . . ."––मेरे मुँह से लंबी साँस निकली, मानो कोई घोर अन्याय हो गया हो।

"घूस दे कर––पीने के लिए पैसे दे कर––इसकी आँखों पर पर्दा डाल देती है। यह है महापशु। अब पी-पी कर भैंसा बन गया है।"

मेरे मन में जो कल्पित चित्र था, उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। उसको फिर से सामान्य मनुष्य बनाना है तो बहुत श्रम करना पड़ेगा। अगर मेरी मेहनत पाटिल को सही मार्ग पर ला सकी तो वह सार्थक होगी। लगा कि वह स्वभाव से अच्छा आदमी है। किसी बुरी संगत ने या किसी असह्य कष्ट ने उसे इस कुमार्ग की ओर प्रवृत्त किया होगा। नौकरी पर ध्यान तो दे ही रहा है, पीने की आदत छुड़ाने का अब प्रयत्न करना होगा। उसे योग्य मानव बनाया जाय तो वह उस स्त्री का आदर करेगा। उस आदर से वह फिर से अच्छी गृहिणी के रूप में बदल जायगी तो उनका जीवन आनंदमय बन सकेगा। मेरी शक्ति के परीक्षक के रूप में पाटिल हर समय मेरे ध्यान में रहने लगा। अपने अवयवों को चोट से बचाने के लिए मैं जितना सावधान रहता हूँ, पाटिल के विषय में भी उतनी ही सावधानी बरतने लगा।

वह महीने के तीसरे सप्ताह में फिर से काम पर ठीक तरह से नहीं आया। उसे बुलाने का विचार कर ही रहा था कि वह स्वयं आ धमका। मैंने उसे देखते ही पूछा, "फिर क्या हो गया जी तुम्हें ? काम पर ठीक तरह क्यों नहीं आ रहे हो ?"

"सा'ब ! तीन दिन के ताश के खेल में जो कुछ कमाया था, वह सब कल खलास हो गया। हाथ में एक पैसा भी नहीं है। अब मुझे कुछ रुपये चाहिए।"

"कितने ?"

"दस रुपये, बस !"

थोड़ा सा आगा-पीछा करते हुए उसे रुपये दे दिये।

उस शाम उसे खूब पी कर बस-अड्डे के पास नाले में बेहोश पड़ा पाया। कपड़े बेहद गंदे हो गये थे। पास जा कर दो-तीन तमाचे लगाये। उसी नशे में उसके मुँह से निकला, "कौन है ?"

"सा'ब हूँ।" मैंने कहा।

"साब !" कहते हुए उसने आँखें उठा कर देखा और साष्टांग गिर कर रोने लगा। रोते-रोते कहने लगा, "सा'ब, अब कभी नहीं पिऊँगा। पिऊँगा ही नहीं। अगर पिऊँ तो 'डिसमिस' कर दीजिएगा।'

इस घटना के बाद रविवार के दिन सबेरे के समय मैं अपने घर के बरामदे में आराम-कुर्सी पर बैठा हुआ था। कोई पुस्तक हाथ में तो थी परंतु मेरी दृष्टि पुस्तक पर नहीं थी। सामने के बगीचे की चहारदीवारी पर एक हरी चिड़िया दुम हिलाती हुई चीं-चीं कर रही थी। एक काली चिड़िया के पास आते ही वह हरी चिड़िया दूर हट जाती। तभी पाटिल को देखते ही मेरे अच्छे

विचार काफ़ूर हो गये। उसका मेरे घर आना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं था। मेरे घर पर न होने पर शराब के नशे में मेरे घर की ओर आने वाले कई मजदूरों को देख चुका हूँ। हुँः, फिर पैसों के लिए ही आया होगा। अब पैसे दे कर उसे और अधिक पियक्कड़ बनाने का दोष मैं अपने सिर पर नहीं लेना चाहता था, इसलिए उसे पैसे न देने का निश्चय सा कर लिया। उसे नीति का उपदेश देने की अकस्मात अभिलाषा पैदा हुई।

"राम-राम सा'ब !" कहते हुए वह बरामदे के पास वाले चबूतरे पर बैठ गया। उसका चेहरा देखने से लग रहा था कि वह पी कर ही आया है। बदबू भी आ रही थी। उसको बोलने का अवसर न दे कर मैं कहने लगा; "देखो पाटिल ! तुम्हारा यह व्यवहार मुझे बिल्कुल पसंद नहीं आया। हमारी भाषा में एक लोकोक्ति है :'कौआ हो कर चिरकाल तक जीने की अपेक्षा हंस हो कर छह महीने जीना बेहतर है।' तुम्हें कमी किस बात की है ! ......सुंदर पत्नी है; अच्छी नौकरी है; हृष्ट-पुष्ट शरीर है। तुम अपने दुर्गुणों से इन सबको बिगाड़े दे रहे हो। इस दुनिया में न्याय से, नीति से जीवित रह सकने का गौरव या तृप्ति तुमको कहाँ से मिलेगी ! नीति से जियो...दुनिया तुम्हें देख प्रसन्न होगी।"

पाटिल तब तक मौन हो सुनता रहा और अंत में लंबी साँस छोड़ कर पूछा, "इस दुनिया में नीति कहाँ है सा'ब !"

"नीति के कारण ही यह दुनिया ठीक तरह से चल रही है।"

"नीति-नीति की रट तो सभी लगाते हैं। मेरे साथ इस महानगर में चलिए। बताऊँगा नीति कहाँ है ! आठ-आठ मंजिलों पर जीने वाले अमीर लोग पास की झोपड़ियों में मरने वालों की ओर आँख उठा कर नहीं देखते। किसी भी दूकान पर जाइए, धोखा ही धोखा है। उस चर्च-गेट या स्टेशन के पास सौ रुपये का नोट ले कर खड़े हो जाइए, नग्न शरीर दिखा कर कोई सुंदरी आपको खींच कर ले जायगी। नीति की रक्षा करने वाले पुलिस-दारोग़ा, सरकारी कर्मचारी, अदालतों के अधिकारी...सब हैं...पर नीति कहाँ है बताइए ? दुनिया में कितने आदमी दाने-दाने के लिए तरस रहे हैं और फ़ैशन के नाम पर क्या-क्या नहीं हो रहा है ? ये चाय-पार्टियाँ क्या हैं ? यह सब किस नीति की रक्षा के लिए किया जा रहा है ? वृक्ष अपने समय पर फलता है, मुर्गी समय पर अंडे दे देती है, कुत्ते का अपना विश्वास अपने साथ है। पशु है तो वह अपना काम करता ही है। फिर आदमी ? ..... इस पेट के नाम पर कैसे-कैसे और कितने-कितने पाप हो रहे हैं, सा'ब ! इस निगोड़े पेट को भरने के लिए मुट्ठी भर घास क्या काफ़ी नहीं है ? इस लोक में नीतिहीन पशु कोई है, तो वह मनुष्य है। मनुष्य में नीति कहाँ है, नीति तो पुस्तकों में लिखी रह गयी है, सा'ब !"

इतना लंबा भाषण सुन कर मैंने कहा, "स्वयं नीति का आचरण करने वाले को ही दूसरों की ग़लतियाँ गिनने का अधिकार है।"

पाटिल मेरी बात समझ गया। हँस कर उसने कहा, "पीने की आदत छोड़ने के लिए कह रहे हैं ?"

"हाँ, बस वही चाहिए मुझे।"

"पीने से मैं अपने कष्टों को भूल जाता हूँ, सा'ब। पी कर मैं एक पशु बन जाता हूँ; प्रसन्न रहता हूँ। जीवन में मेरे लिए एक ही सुख है, उससे मुझे वंचित मत कीजिए, सा'ब।" उसने बड़ी दीनता से कहा।

"कहते हो कि पी कर पशु बन जाता हूँ! पशु को सुख-दुख की अनुभूति नहीं होती है। सुख-दुख का अनुभव करने वाला तो अकेला मानव ही है। तुम्हारी बुद्धि इतने दिनों से सोयी हुई है; अब उसे जगाओ। पशुत्व को छोड़ कर मानव बनो। सुख-दुख का अनुभव कर के संसार-सागर से तर जाओ। पशु से मानव बनने के लिए पीने की इस बुरी आदत को छोड़ दो।"

सूनी आँखों से वह थोड़ी देर तक मेरी ओर देखता रहा परंतु अपनी आदत को छोड़ देने की हामी नहीं भरी। उठ कर जाते हुए दस रुपये का नोट मेरे हाथ में थमा दिया। एक क्षण तक मैं अपने आपको भूल सा गया, उसके बाद कहा, "रख लो...."

"नहीं सा'ब, इससे उऋण न हो सका तो आपके घर पैदा हो जाऊँगा। मुझ जैसे बुरे आदमी से भगवान आपको बचाये।" कहते हुए नोट वहीं छोड़ कर वह चला गया।

यह नोट किसी युवती के अपने शरीर को बेचने से आया होगा, ऐसी भावना के आते ही उसे खर्च न कर एक जगह छिपा कर रख दिया।

इसके बाद दो महीने तक काम पर उसकी हाज़िरी संतोषजनक रही। तीन बार 'ओवर-टाइम' काम भी किया। एक बार काम पर पी कर आया। यह सूचना पाते ही उसे बुला कर कहा, "अब आगे कभी ऐसा करोगे तो नियमानुसार तुम्हें पुलिस के हवाले करना पड़ेगा।"

"आप जैसा चाहें वैसा कीजिए, सा'ब।"—उसने कहा।

इसके बाद भी तीन-चार बार मैंने देखा कि वह फाटक के बाहर पी कर पड़ा हुआ था। उसकी यह आदत कैसे छुड़ायी जाय मेरी समझ में नहीं आ रहा था। जितना भी समझाओ, वह बस हँस दिया करता था।

एक दिन दफ़्तर में बैठा था कि पुलिस चौकी से फोन आया। इंस्पेक्टर जादव ने पाटिल पर कृपा कर के उसकी इच्छा पर मुझे समाचार दिया था।

"क्या पीने के कारण ही हवालात में है?"

"नहीं।"

"फिर किसलिए?"

"दो आदमियों को मार-मार कर बेहोश कर दिया है।"

"क्यों?"

"कुछ भी नहीं बता रहा है। कहता है, इस लोक में आपको छोड़ कर कोई उसका नहीं है। इसलिए जमानत पर छूटने के लिए आपको बुला रहा है।"

"ठीक है।" कह कर फ़ोन रख दिया, पर दुविधा में पड़ गया। उसके साथ रहने वाले उसकी उदारता से उपकृत लोग सब कहाँ गये? मैं ज़िम्मेदार अधिकारी हूँ। मेरे जमानत देने पर उसे छोड़ देंगे सही, पर कहीं वह फ़रार हो गया तो? छूटने के बाद पिंजड़े से छूटे सिंह के

समान किसी और का खून कर दे तो? यह जिम्मेदारी ले कर एक बड़ा खतरा अपने ऊपर ले रहा हूँ। किसी की बात न मानने वाला मूर्ख, कितनों का ही मुकाबला करने वाला बलशाली पाटिल मेरे सामने बकरी के सामने सिर झुकाये सिंह के समान व्यवहार करता है। पुलिस चौकी गये बिना न रह सका। इस अवसर से लाभ उठाने की उत्सुकता ने भी मुझे यह जिम्मेदारी लेने के लिए मजबूर किया।

पाटिल से मिल कर पूछा, "अरे, तुमने उन लोगों को पीटा क्यों?"

"वे दोनों मूर्ख मेरी पत्नी पर बुरी नज़र डाल रहे थे। अपनी घरवाली के बारे में आपसे कुछ कहा नहीं था सा'ब। वह तो आग है, आग! मेरे सुख के लिए मायके से लाये पैसे भी मुझे दे देती थी। वह अपना काम कर रही थी। वे सीटी बजा कर उसे चिढ़ाने लगे तो घर में बैठा मैं चुप कैसे रह सकता था! उनकी चमड़ी उधेड़ दी। मूर्च्छित हो गये साले। फिर कभी वे लोग अच्छे घर की औरतों को इस तरह छेड़ नहीं सकेंगे।"

"मारते समय पिये हुए तो नहीं थे?"

"नस-नस में खूब चढ़ी हुई आदत एकबारगी ही कैसे छूटेगी सा'ब! आप भी तो मेरी भलाई के लिए ही कहते हैं न, मेरे बिगड़ने में या बनने में आपको क्या मिलने वाला है! आप क्या मेरे माता-पिता के संबंधी हैं या मेरे कोई आत्मीय हैं? . . . .पर मेरे लिए आप कष्ट उठाते हैं, इसलिए मुसीबत के वक़्त आप ही मेरे लिए सब कुछ बने हैं।"

"मैं एक ज़िम्मेदार ओहदे पर हूँ। तुम्हारी ज़मानत. . . .कितना खतरा है, सोचा तुमने?"

"जिन पर मेरा विश्वास था, उनमें से किसी ने मेरी सहायता नहीं की। अब आपके अतिरिक्त और कोई मेरा भला चाहने वाला नहीं है।"

"अच्छा, तो मैं जैसा कहता हूँ, वैसा करोगे न?"

"कहिए तो!" उसने मेरी आँखों से आँखें मिलायीं।

"वचन दो कि आज से शराब नहीं छुऊँगा।" कह कर मैंने उसकी ओर हाथ बढ़ाया। मेरे दायें हाथ में अपने दोनों हाथ रखते हुए आँखों में आँसू भर कर उसने कहा, "अब. . . . कभी. . . .शराब नहीं पिऊँगा।"

मेरी आँखें भर आयीं। इस सिंह के नख निकालने में सफल होने के गर्व ने मुझे अभिभूत कर दिया। ज़मानत पर उसे छुड़ाया। मुझ पर और एक ज़िम्मेदारी आ पड़ी। उसकी पत्नी का चाल-चलन बिगड़ा हुआ है, पाटिल को इसका संदेह न हो, ऐसा कोई उपाय करना है। इसके लिए इस अभियोग को अदालत तक न जाने देने का उपाय भी करना है; या इस अभियोग में उसकी पत्नी का प्रसंग न आने पाये, ऐसा उपाय करना है। इसलिए पाटिल से कहा, "तुम अपनी पत्नी का प्रसंग छेड़ोगे तो उसे अनावश्यक अदालत में आना पड़ेगा। तुम कह दो कि वे (जिनको तुमने पीटा है) अँधेरे में चोरों के समान दिखायी पड़े। संदेह के कारण पुकारा तो किसी ने जवाब नहीं दिया। उन्हें पकड़ने के लिए आगे बढ़ा तो उन्होंने पहले मुझे पीटा, इसलिए मैंने अपने को बचाने के लिए उन्हें मार गिराया।"

यह झमेला दो महीने तक चलता रहा। मैंने स्वयं वकील नियुक्त किया। बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी पत्नी का प्रसंग आ ही गया; अदालत में साक्षी के रूप में उसे आना ही पड़ा। संयोग से उसे पत्नी पर संदेह करने का अवसर नहीं आया। इन दो महीनों में पाटिल को समीप से देखने का अवसर मिला। उसकी पत्नी मेरे सामने कुछ संकोच करती थी; सामने आ कर बात नहीं करती थी। उसे देखने पर मुझे क्रोध आने की अपेक्षा दया ही आती थी। ऐसा प्रतीत होता था कि रत्न को कोयले में मंडित कर दिया गया है। उसे देखने से ऐसा लगता था मानो ज्योत्स्नासम हृदय में क्रूरता रूपी हलाहलमिश्रित किया गया हो; पवित्र बंधन ढीला कर दिया गया हो। उन दोनों के प्रति इस प्रकार के कितने ही विचार मेरे मन में उठते थे।

सूअर को गौ सिद्ध करने में समर्थ वकील के होने से पाटिल के डर के कारण उस पर या उसकी पत्नी पर उचित गवाहियों के न मिलने पर वह बिना दंड के मुक्त हो गया। इस समाचार को सुनते ही मैं आनंदित हुआ।

पाटिल अब बहुत कुछ बदल गया। उसने नूतन जीवन में पदार्पण किया। गत वर्ष के पाटिल में और आज के पाटिल में आकृति को छोड़ कर और किसी प्रकार का साम्य नहीं रह गया। वह काम पर ठीक ढंग से आ रहा है। पीने की आदत बिल्कुल छोड़ दी है। आज वह मूर्ख नहीं है। दुष्टों से दूर-दूर ही रहता है। नियम का उचित रूप से पालन करता है। वह अब सुख-दुख का अनुभव करने वाला संसारी जीव और नीति का पालन करने वाला मनुष्य है।

एक दुष्ट व्यक्ति को सज्जन बनाने का संतोष अथवा गर्व ही कहिए, मुझमें उफनता ही रहा। किसी के लिए भी असाध्य कार्य को मैंने सिद्ध किया है, इस गर्व से मैं अभिभूत बना रहा। उसकी पत्नी का संकोच और कृतज्ञताभरी चितवन अब भी मेरे मानस-पटल पर चित्रित थी। पर....

एक दिन आधी रात के समय मेरे घर के दरवाज़े पर खटखटाने की आवाज़ हुई। मैं चौंक पड़ा और चिल्लाया, "कौन है?"

"मैं हूँ, 'सा'ब।" उसी की आवाज़ थी।

इतनी रात गये क्यों आया है, यह सोचते हुए दरवाज़ा खोल बत्ती जलायी। थक कर चूर होने के कारण ठंडी आहें भरते और खून से सनी कमीज़ पहने पाटिल को देख दिल धड़क उठा, "अरे! यह क्या किया तुमने?"

रक्त से सने छुरे को अपनी कमीज़ में से निकाल कर मेरे सामने रखते हुए वह बोला, "पशु-समान रहने वाला मैं आपकी दया से मनुष्य बना। मैंने अपना जीवन, अपना प्रेम, अपना सब कुछ उसे (पत्नी को) दे दिया। फिर भी वह दूसरों के साथ ज़ाती रही; अपनी आदत नहीं छोड़ी। मैं मनुष्य बन गया हूँ, इसलिए अनीति को सह न सका। उसे टोका। हुँ:...... उसकी छाती में छुरा भोंक दिया।" कह कर वह मेरे पैरों पर गिर पड़ा।

—अनु० : भीमसेन 'निर्मल'।

सी० नारायण रेड्डी

शुक्ति

[डॉ० बेजवाड़ा गोपाल रेड्डी जी ने रवींद्र की अनेकानेक रचनाओं के तेलुगु में अनुवाद किये हैं। रवींद्र की लिपिकाओं (स्केचेज) का अनुवाद रेड्डी जी ने समय-समय पर किया था। उन्हें हाल में पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है 'वानचिनुकुलु' (वर्षा की बूँदें) के नाम से। उन बूँदों के लिए तेलुगु के लोकप्रिय कवि तथा समालोचक डॉ० सी० नारायण रेड्डी ने भूमिका लिखी है 'शुक्ति' के नाम से। उसी का यह हिंदी अनुवाद है।]

रवींद्र सच्चे अर्थों में कवि हैं। कवि शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है **कवयतीति कविः**। कवन का अर्थ है वर्णन। किंतु रवींद्र का व्यक्तित्व इस मापदंड की पहुँच के परे है। **दर्शनाद्वर्णनाच्चाध रूढा लोके कवि श्रुतिः**। भट्ट तौत की यह परिभाषा कवींद्र रवींद्र के प्रति प्रत्यक्षर सत्य है। केवल वर्णन-शक्ति ही कवि के लिए पर्याप्त नहीं है, दर्शन-शक्ति भी चाहिए। ऋषि केवल दर्शन-शक्ति से युक्त होता है। कवि केवल वर्णन-शक्ति से ही संपन्न होता है। इन दोनों शक्तियों से संपन्न व्यक्ति ऋषि समान कवि है। रवींद्र ऐसे ही महाकवि हैं। उनका दक् सूर्यरुक् है। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ उसकी पहुँच न हो। जड़ में चैतन्य जलधि को, धूल में कर्पूर-धूल को, प्रकृति को परमाकृति के रूप में दर्शन-परिशीलन कर सकने वाला विचित्र मनोनेत्र है उनका। इसीलिए सर्वसाधारण को न दीखने वाले अंबर के औन्नत्य को, अंबोधि की गहराइयों को वे देख सके। अपनी कविता में उन रहस्यों को गा सके। युग-युगों से आगमन करने वाले उपनिषन्मधु-तरंगों की रक्षा कर सके।

× × ×

रवींद्र की प्रतिभा सुदर्शन-चक्र के समान है। उसकी गहराइयों को देख सकना **अमलिन तारका-समूहों** को गिनने के समान है। उनकी लेखनी ने कई कांति-पुंजों की सर्जना की है। उनके अंतरंग की वाटिका में कई लता-कुंज पुष्पित हुए हैं। गीत, काव्य, निबंध, व्याख्यान, उपन्यास, आख्यायिका, नाटिका और अंत में 'लिपिका' भी।

'लिपिका' विश्वकवि का दिया हुआ विनूतन नाम है।

'लिपिका' भारतीय वाङमय का नया आभूषण है।

१९१७-१९ के मध्य रवींद्र प्रधान रूप से राजनीतिक क्षेत्र में तथा शैक्षणिक कार्यों में निमग्न रहे। इन दो-तीन वर्षों की अवधि में प्रकाशित संकलनों में दो प्रधान हैं। पहला 'पलातक' नामक गेय कथा-संकलन है तथा दूसरा 'लिपिका' नामक शब्द-चित्र संग्रह है।

किसी छोटी घटना के मन में संचरित होने पर, किसी स्मृति शकल की शंपालता के समान चमक जाने पर, किसी शबलित भावना के इंद्रधनुष के समान उभर आने पर, किसी कल्पना-चमत्कार के पारावत (बंदर) के समान छलाँग भरने पर, झटिति-स्फूर्ति से रूपायित हैं ये अपूर्व रेखाचित्र।

गीतांजलि के अंग्रेज़ी अनुवाद में महाकवि ने जिस स्वच्छंद छंद की परिकल्पना की है, उस अछंद में सुनायी पड़ने वाले हृदय-स्पंदन को, विज्ञ जनों का कहना है कि बंगभाषा में रचित इन लिपिकाओं में सुना जा सकता है। परंतु इस प्रकार के वचन-गीतों की रचना कविवर रवि के लिए कोई नयी बात नहीं है। सन १८८४ में ही अपनी भाभी के स्मृति-अंक के रूप में संतरित 'पुष्पांजलि' नामक गीतिका-संकलन में इसी मुक्तछंदोरीति के दर्शन हुए हैं। उसी प्रवाह ने मंद गंभीर रूप में प्रवाहित हो कर ३५ वर्ष के बाद मंदाकिनी के रूप को धारण किया। वही इस लिपिका-संग्रह में है। पैरट्स ट्रेनिंग, ट्रेट ऑफ़ दि हार्स, ओल्ड मैंस घोस्ट आदि इन लिपिकाओं में उल्लेखनीय हैं।

रवींद्र के शिष्य होने के साथ-साथ रवींद्र की अमूल्य कृतियों को आंध्र के साहित्य-क्षेत्र में रोप देने की कामना रखने वाले अक्षर-आराधक हैं डॉ० बेजवाड़ा गोपाल रेड्डी। इससे पूर्व चित्रांगदा, कर्ण-कुंती, सेक्रीफ़ाइस, पोस्ट-ऑफ़िस आदि सुप्रसिद्ध रचनाओं के तेलुगु अनुवाद दूसरे कविजनों ने प्रस्तुत किये थे। गोपाल रेड्डी जी ने भी इनमें से कुछ का बंग मातृका के अनुसार तेलुगु में अनुवाद किया है। किंतु इस लिपिका रूपी पुष्पगुच्छ को प्रथम बार तेलुगु के पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का सुवर्ण अवसर गोपाल रेड्डी जी को ही प्राप्त हुआ है।

'वान चिनुकुलु' (वर्षा की बूँदें) नामक रचना २१ लिपिकाओं के अनुवाद का संकलन है।

'पगडंडी', 'गली', 'पुराना घर' आदि लिपिकाओं की विषय-वस्तु तो सर्वसाधारण है। एक प्रकार से ये नित्य जीवन में उपेक्षित से रहे हैं। ये असाधारण प्रज्ञाचक्षु कवि के अतिरिक्त और किसी के लिए काव्य-वस्तु नहीं बन सकते। उदाहरण के लिए 'गली' को ही लें। किसी महानगर के अँधेरे मुहल्लों की किसी गली से संबंधित एक सुंदर रेखाचित्र है यह। अपने चारों तरफ़ देखने पर उस गली को कुछ दीखा ही नहीं। ऊपर देखने पर रेखा के समान आकाश अपने ही समान पतला और टेढ़ा दिखायी दिया। तब वह गली आकाश के उस टुकड़े से पूछती है: 'दीदी! बताओ कि तुम किस नील नगरी की गली हो।' गली की नज़र में विशाल आकाश भी तंग गली-सा ही दिखायी दिया। 'नील नगर की गली' इस कल्पना में ही कितना चमत्कार है! अनेक की ऊहाओं के बाद अंत में वह गली इस प्रकार सोचती है: 'पत्थरों से आबद्ध इस मेरी गली में सारा सत्य समाया हुआ है। बाहर है, ऐसा जिसके बारे में सोचा था, वह सब कुछ सपना ही है।'

इस छोटे से रेखाचित्र द्वारा मानवों के मनोमंडल की अंतिम दशा तथा प्रवृत्ति का अद्वितीय रूप में चित्रण किया है महाकवि ने।

'कटाक्ष', 'एक दिन', 'सत्रह वर्ष' आदि अपनी स्मृति-निधि काढ़े गये अमूल्य रत्न हैं।

गाड़ी में चढ़ते-चढ़ते कोई युवती कटाक्ष फेंक जाती है (कनखियों से देख जाती है)। बस 'कटाक्ष' नामक लिपिका की वस्तु इतनी सी है। वह चितवन क्षणिक ही है। चंचला के समान पल भर चमक दिखा कर अदृश्य होने वाली ही है। किंतु रम्य अनुभूति कवि के अंतरंग में वह चिरकाल तक उपहार के समान घर कर जाती है।

'एक दिन' नामक रेखाचित्र की वस्तु भी इसी श्रेणी की है। दोपहर की वेला जब पानी बरस रहा हो, कवि को कुछ सूझता नहीं। तब वह जंत्र वाद्य पर मल्हार राग बजाने लगता है। उस समय पड़ोस के घर में पुष्पित मंदारमाला द्वार तक आ कर झट वापस चली जाती है, यह उस दिन का दृश्य है। वह ऐसा रहस्य है जो उन दोनों को ही मालूम है। कवि के हृदय-क्षेत्र में कालरूपी डिबिया रत्न समान बची हुई है, वह रम्य अनुभूति।

'नाम से खेल', 'गलत स्वर्ग', 'विदूषक' मीठे उपालंभ तथा मृदु उपहास के उदाहरण हैं। 'प्रिय रानी की इच्छा' नामक लिपिका ने महाकाव्य के गौरव को अपने में सँजो लिया है। गागर में सागर भर दिया है। कवि ने स्वच्छ प्रकृति में उल्लसित होने वाली निर्मल आत्म-प्रकृति स्वर्ण-सौध में किस प्रकार तड़प उठती है, इसी का कारुणिक चित्रण है इस लिपिका में।

इन सभी लिपिकाओं में 'प्रश्न' अत्यंत गंभीर है। सात वर्ष के एक बच्चे की माता का निधन हो जाता है। श्मशान से लौट आये पिता से वह बच्चा प्रश्न करता है कि माँ कहाँ है? पिता सिर ऊपर उठा कर जवाब देता है स्वर्ग में। उस रात को खुले आँगन में आकाश की ओर निहारते खड़ा रहता है वह बालक। मौन रूप से वह मन में किसी से प्रश्न कर रहा है कि स्वर्ग जाने का मार्ग किस ओर है। इस लिपिका की अंतिम रेखाएँ इस प्रकार हैं—'आकाश में उसे किसी प्रकार का पता नहीं लगता। नक्षत्र तो निस्तब्ध अंधकार के गरम आँसू की बूँदों के समान हैं।' बालक की मौन बोली में विश्वकवि ने ऋषियों के प्रश्नों को ही मुखरित कर दिया है। अनादि काल से पार न पा सकने वाली जिज्ञासा को इस रूपक द्वारा नवीन रूप प्रदान किया है विश्वकवि ने।

नन्नय के समय से ही तेलुगु क्षेत्र में अनुवाद की रीति ने जड़ जमा ली है। कुछ लोगों ने यथामूल अनुवाद किया है तो कुछ ने मूल में चार चाँद लगाये हैं, मूल से असंबद्ध विचित्र पुत्रिकाओं की सृष्टि की है कुछेक कवियों ने। गोपाल रेड्डी जी का मार्ग मूलानुसारी है। अपने गुरुदेव की रचना होने से यह मूलानुसारिता (ओबिडियेंस) पग-पग पर परिलक्षित होती है। इतने पर भी अनुवाद ने नवीन कांति को न दिखाया हो, ऐसी बात नहीं है।

"कुछ (प्राणी) पानी की पर्तों के नीचे मौन नृत्य करते हुए भूप्रदक्षिणा करने में निमग्न हैं, तो कुछ आकाश में पंख फैला कर सूर्यप्रभा से आलोकित वेदी पर गगनरूपी अर्घ्य समर्पित करने में निमग्न हैं।" इन पंक्तियों में मूलानुसारिता के साथ-साथ प्रौढ़ आंध्र शैली-प्रियता भी प्रतिबिंबित हो रही है।

. . . नींबू के आलवाल को पार कर उस तलैया की मेंड़ को छोड़ कर खँडहर बने मंदिरों का घाट, नदी का बाँड, गड़रिये की झोपड़ी पार कर, अनाज के ढेर पार कर......।' इस प्रकार के वर्णनों में ठेठ तेलुगुपन पीले के समान सुवासित है।

रेड्डी जी के पिछले अनुवादों में एक बात दिखायी देती है। बंग भाषा में समाये हुए संस्कृत के शब्द उनमें झुंड के झुंड दिखायी देते थे। इसमें ऐसा न हो कर ठेठ तेलुगु शब्दों की चमक दिखायी देती है। 'धूप का शासन' कहना कितना सुंदर प्रयोग है। 'स्तब्ध अंधकार के गरम आँसुओं की बूँदें' आदि तेलुगु के प्रौढ़ भाव कवि का ही साध्य कविकर्म है।

गोपाल रेड्डी जी की भाषा विलक्षण है। यह किसी प्रांत विशेष से संबद्ध नहीं है। आंध्र के सभी प्रांतों के शिष्ट जन की ग्रांथिक भाषा (व्याकरणनिष्ठ) की सुगंध से सुवासित विशिष्ट व्यावहारिक शैली है। अंतर लय से तरंगायित रवींद्र के शब्द-गुच्छों को अत्यंत सुंदरता से ला देने वाली वाहिका है यह।

बरसते समय ये केवल वर्षा की बूँदें ही हैं। किंतु सहृदय शुक्तियों में गिर कर ये मुक्ता-मोहन रूप में प्रतिभासित होती हैं। उतनी रसात्मकता एवं रमणीयता इनमें है।

—अनु० : भीमसेन 'निर्मल'।

पत्रिका संबंधी घोषणा-पत्र

१. पत्रिका का नाम	:	माध्यम
२. प्रकाशन की अवधि	:	मासिक
३. मुद्रक तथा प्रकाशक का नाम	:	श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
४. संपादक का नाम	:	श्री बालकृष्ण राव
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
५. पूँजी का विनियोक्ता	:	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

मैं पूरी जानकारी और विश्वास से घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण सत्य हैं।

रामप्रताप त्रिपाठी, प्रकाशक तथा मुद्रक, द्वारा हस्ताक्षरित

हमारे रचनाकार

• •

सी० शिवराम मूर्ति : प्राचीन शिल्प, स्थापत्य तथा कला और संस्कृत साहित्य पर अनेक ग्रंथ; राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली के निदेशक।

ओरुगंटि रामचंद्रय्या : इतिहासकार तथा कवि, मीरा के पदों के तेलुगु अनुवादक। आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्तेयर में इतिहास विभाग के अध्यक्ष।

टी० एन० रामचंद्रन : पुरातत्वविद, बौद्ध कला पर तेलुगु में 'अमरावती स्तूप' नामक ग्रंथ, अंग्रेज़ी में प्राचीन हिंदू शिल्प और स्थापत्यविषयक अनेक ग्रंथ, संस्कृत में अनेक मौलिक ग्रंथों के रचयिता।

खंडवल्लि लक्ष्मीरंजनम् : प्रसिद्ध तेलुगु विद्वान, आलोचक और निबंधकार, तेलुगु साहित्य तथा आंध्र संस्कृति के इतिहासकार; 'तेलुगु विश्वकोश' के संपादक। उस्मानिया विश्वविद्यालय में तेलुगु के 'यू० जी० सी० प्रोफ़ेसर'।

नटराज रामकृष्ण : निदेशक नृत्य-निकेतन, चिक्कडपल्ली, हैदराबाद-२०।

विरुदुराजु रामराजु : पोस्ट ग्रेजुएट सेंटर, वरंगल में तेलुगु विभाग के अध्यक्ष; लोक-साहित्य के मर्मज्ञ।

मोदलि नागभूषण शर्मा : विद्वान तथा सुलेखक। व्याख्याता, अंग्रेज़ी विभाग, सैफ़ावाद कॉलेज, हैदराबाद। १-८-३७/ए-१, चिक्कडपल्ली, हैदराबाद-२०।

पोकूरि श्रीरामुलु : हिंदी, तेलुगु तथा संस्कृत के विद्वान और सुलेखक।

पी० श्रीराम मूर्ति : संस्कृत विभाग, आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्तेयर में प्राध्यापक।

पोतुकूचि सुब्रह्मण्य शास्त्री : दर्शन तथा साहित्यविषयक ग्रंथों के प्रणेता; तेलुगु कविताओं के अंग्रेज़ी में अनुवादक; नागपुर विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष।

चावलि सूर्यनारायण मूर्ति : कवि, सुलेखक तथा सफल अनुवादक। कविताओं के अतिरिक्त 'समझौता' नामक नाटक के रचयिता।

विश्वनाथ सत्यनारायण : प्रख्यात कवि, उपन्यासकार, नाटककार तथा आलोचक। तेलुगु और संस्कृत के प्रकांड विद्वान। महाकाव्य, खंडकाव्य आदि के अतिरिक्त अपने ललित गीतों के लिए प्रसिद्ध। जनवरी, १९६३ में प्रयाग में हुए अखिल भारतीय लेखक-सम्मेलन के अध्यक्ष।

इलपावुलूरि पांडुरंग राव : तेलुगु, हिंदी तथा संस्कृत के विद्वान; भाषाशास्त्री। प्रसाद जी के 'आँसू' का तेलुगु में पद्यानुवाद।

गंटि जोगि सोमयाजि : प्रतिष्ठित भाषाविद और आलोचक। कवि के रूप में साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। इनका 'आंध्रभाषा विकासमु' तेलुगु भाषा के इतिहास का मान्य ग्रंथ है। तेलुगु साहित्य और कालिदास के काव्य पर अनेक निबंध समादृत हुए हैं।

न० वी० राजगोपालन : तमिल, हिंदी, संस्कृत तथा तेलुगु के विद्वान और भाषाशास्त्री। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद द्वारा प्रकाशित आपके 'कंब रामायण' का हिंदी अनुवाद विद्वत्समाज में प्रतिष्ठित हुआ। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा में रीडर।

कोत्तपल्लि वीरभद्र राव : जाने-माने विद्वान; हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक।

कोव्वूरु गोपालकृष्ण राव : रीडर, तेलुगु विभाग, आर्ट्स ऐंड सायंस कॉलेज, हनुमकोंडा, ज़िला वरंगल, आंध्र प्रदेश।

श्रीराम शर्मा : उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिंदी के रीडर; कई वर्ष तक आंध्र प्रदेश हिंदी लेखक संघ के सचिव।

मख़दूम मोहीउद्दीन : हैदराबाद के प्रतिष्ठित तथा लोकप्रिय प्रगतिशील उर्दू कवि।

अड्डुमिल्लि राधाकृष्ण : निदेशक, नाट्य विद्यालय, रवींद्र भारती बिल्डिंग, हैदराबाद-४।

पोणंगि श्रीराम अप्पाराव : नाटककार, उपन्यासकार तथा आलोचक। भरत के नाट्यशास्त्र का तेलुगु में अनुवाद किया। आंध्र प्रदेश शिक्षा विभाग में विशेष कार्याधिकारी।

भमिडिपाटि कृष्णमूर्ति : तेलुगु तथा हिंदी के विद्वान और सुलेखक।

श्रीवात्सव (यंडमूरि सत्यनारायण राव) : आलोचक के रूप में इनकी ख्याति उत्तरोत्तर फैल रही थी कि सहसा दिवंगत हो गये।

मुड्डुपु कुलशेखर राव : विद्वान और प्रतिष्ठित आलोचक। रीडर, तेलुगु विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय। १०/३, विज्ञानपुरी, हैदराबाद-७।

भीमसेन 'निर्मल' (भंडारम भीमसेन जोस्युलु) : हिंदी और तेलुगु के विद्वान और लेखक; अनेक तेलुगु कहानियों के हिंदी रूपांतरकार। उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक।

हनुमच्छास्त्री अयाचित : हिंदी, तेलुगु और संस्कृत के विद्वान। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' तेलुगु में और 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' हिंदी में लिख कर दोनों भाषाओं की स्मरणीय सेवा की।

राममूर्ति 'रेणु' : हिंदी-तेलुगु के बीच आदान-प्रदान की परंपरा को आगे बढ़ाने वालों में सर्वाधिक सक्रिय और उल्लेखनीय; कविता और नाटक प्रिय विधाएँ हैं पर सभी विधाओं में उल्लेख योग्य कार्य किया। आकाशवाणी, हैदराबाद में कार्यरत।

श्रीश्री (श्रीरंगम श्रीनिवास राव) : जन्म १९१०। प्रसिद्ध प्रगतिशील तेलुगु कवि, नाटककार तथा कहानीकार। साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक रूढ़ियों और प्रचलित मान्यताओं के कट्टर विरोधी। शिल्पगत प्रयोगों को एक साथ साध्य और साधन के रूप में ग्रहण करने वाले। ११, केनाल बांड रोड, राजा अन्नमलै पुरम्, मद्रास–२८।

देवरकोंड बालगंगाधर तिलक : जन्म : १९२३। नवोत्थान के प्रमुख कवि। असमय स्वर्गवासी हुए।

कालोजी नारायण राव : जन्म : १९१४। तेलंगाना के प्रगतिशील जनकवि। आंध्र प्रदेश विधान परिषद् के सदस्य। नक्कलगुट्टा, वरंगल-१, पो० हनुमकोंडा, आंध्र प्रदेश।

दाशरथी (कृष्णमाचार्य) : जन्म : १९२७। तेलंगाना के स्वातंत्र्यांदोलन के जनप्रिय चारण। आधुनिक तेलुगु कविता के शीर्षस्थ कवियों में। आकाशवाणी के मद्रास केंद्र में 'प्रोग्राम इग्जेक्यूटिव'। ९०/सी १, वी० एम० स्ट्रीट, मद्रास-४।

सी० नारायण रेड्डी : जन्म : १९३१। तेलुगु के नवोत्थान के सर्वाधिक प्रतिभावान कवियों में। प्रतिष्ठित तेलुगु-हिंदी पत्रिका 'स्रवंती' के सह-संपादक। उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में तेलुगु के प्राध्यापक।

वज़ीर रहमान : जन्म : १९३४। साठोत्तर दशक के ख्यात कवि। बंगला, उर्दू, हिंदी तथा अंग्रेज़ी से अनेक कविताओं और निबंधों का तेलुगु में अनुवाद किया। मद्रास के एक औद्योगिक प्रतिष्ठान में कार्यरत। ११०, हबीबुल्ला रोड, त्यागराजनगर, मद्रास-१७।

मुहम्मद इस्माइल : जन्म : १९४२। कवि तथा कहानीकार। 'साठोत्तर' दशक के देदीप्यमान नक्षत्र। आयकर विभाग में पदाधिकारी।

निखिलेश्वर (एम० यादव रेड्डी) : तेलुगु की बहुचर्चित 'दिगंबर पीढ़ी' के छह कवियों में एक। उनके द्वितीय काव्य-संकलन का ग्रंथ-विमोचन-समारोह १९६६ में आधी रात के समय एक सफ़ाई कर्मचारी के हाथों एक चौराहे पर संपन्न हुआ। इस कारण उस वर्ष को 'निखिलेश्वर संवत्सर' का नाम दिया गया। ४६, विद्यानगर कॉलोनी, हैदराबाद-१३।

बलिवाडा कांताराव : जन्म : १९२७। सुपरिचित उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक। मडपम, ज़िला श्रीकाकुलम, आंध्र प्रदेश।

आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी प्रकाशन

प्राप्ति-स्थान

अकादमी ऑफिस, कला भवन, सैफ़ाबाद, हैदराबाद–४

तेलुगु

१ तेलुगु सामेतलु —प्रधान संपादक, श्री विश्वनाथ सत्यनाराण १०.००
२ एनशेंट हिस्टारिकल जियाग्रफ़ी ऑफ़ आंध्र प्रदेश —संपादक, श्री के० ईश्वर दत्त १०.००
३ उर्दू कथनिकालु —श्री बी० चंद्रमौलि शास्त्री द्वारा तेलुगु में रूपांतरित ५.००
४ सूरदास पदलु (तेलुगु रूपांतरण) —श्री दुर्गानंद १.००
५ उत्तररामचरित्र —टीकाकार, श्री रामदास अय्यंगार ८.००
६. तेलुगु से तेलुगु शब्दकोश (छात्रोपयोगी) ५.००
७. कलापूर्णोदयम् (संस्कृत) —श्री एस० सूर्यनारायण शास्त्री ६.००

हिंदी

१. आंध्र भागवत परिमल —श्री राममूर्ति 'रेणु' ५.००
२. तेलुगु की बीस कहानियाँ —श्री बालशौरि रेड्डी ५.००
३. पद्माकर – १ —श्री श्रीराम शर्मा ६.००
४. पद्माकर – २ —डॉ० भीमसेन निर्मल ६.००
५. हिंदी तेलुगु व्याकरणों का एक तुलनात्मक अध्ययन —श्री एस० वी० शिवराम शर्मा ५.००
६. उर्दू पथ प्रदर्शक —श्री गुलाम रब्बानी २.००

उर्दू

१. हैदराबाद के शायर; खंड १ —श्री के० एच० शाहिद ४.००
२. हैदराबाद के शायर, खंड २ —श्री सुलेमान अरीब ५.००
३. हैदराबाद के अदीब, खंड – १ —श्रीमती ज़ीनत साजिदा ४.००
४. हैदराबाद के अदीब, खंड – २ —श्रीमती ज़ीनत साजिदा ५.००
५. रहनुमा-ए-उर्दू —श्री गुलाम रब्बानी २.००
६. तेलुगु अफ़साने —अनु० : श्री दाशरथी ३.५०
७. रहनुमा-ए-किताबदारी —श्री गुलाम रसूल ३.००
८. शीश-व-तीश —स्वर्गीय श्री शाहिद सिद्दीक़ी का रचना-संकलन ३ ००
९. मोमिन —श्री तकशीम काज़िमी २.००
१०. सुरूद-ए-वक़्त —श्री मुहम्मद फ़ज़लुर्रहमान २.००
११. दकनी रुबाइयात —डॉ० सईदा ज़फ़र ६.००
१२ दकन ज़बान के आग़ाज़ और इन्तख़ाब —श्री गुलाम रसूल १०.००

केन्द्रीय हिंदी संस्थान की अर्ध-वार्षिक शोध-पत्रिका

गवेषणा

१९६३ से विभिन्न भारतीय भाषाओं, उनके साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन, हिंदी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन और व्यावहारिक भाषा-शास्त्र के विविध पहलुओं पर प्रामाणिक और मौलिक शोध लेखों का उच्चकोटि का संकलन––जिसके संगोष्ठी विशेषांक असाधारण महत्व के माने गये हैं।

संस्थान के अन्य संग्रहणीय प्रकाशन

१. भारतीय भाषाओं का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	रु० ८.००
२. भारतीय साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन	रु० ८.००
३. हिंदी की आधारभूत शब्दावली	रु० २.००
४. हिंदी परसर्ग (एक प्रयोग-परक अध्ययन)	रु० १.००
५. हिंदी के क्रिया रूप	रु० १.००

संपादक : डॉ० व्रजेश्वर वर्मा

वार्षिक मूल्य : ६ रुपये

•

संपर्क सूत्र

निदेशक, केन्द्रीय हिंदी संस्थान

आगरा - ५

दक्षिण की कुछ विशिष्ट रचनाएँ

● ●

आंध्र का सामाजिक इतिहास

प्रस्तुत ग्रंथ तेलुगु के प्रख्यात लेखक सुरवरम् प्रताप रेड्डी की उत्कृष्ट इतिहास-कृति 'आंध्रुल सांघिक चरित्रमु' का आर० वेंकटराव द्वारा किया गया हिंदी अनुवाद है। सन १९५५ में साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत इस पुस्तक में लेखक ने तेलुगु साहित्य के आधार पर आंध्र देशवासियों के सामाजिक जीवन का आद्योपांत इतिहास प्रस्तुत किया है। इतिहास तथा समाज-विज्ञान के प्रेमी पाठक इससे पर्याप्त लाभान्वित होंगे, ऐसा हमें दृढ़ विश्वास है। क्राउन साइज़ के ४७० पृष्ठ। मूल्य : ६.००।

वल्लत्तोल की कविताएँ

इस पुस्तक में मलयालम भाषा के प्रमुख कवि वल्लत्तोल की १७ उत्कृष्टतम कविताओं का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। इसकी अनुवादिका हैं रत्नमयी देवी दीक्षित और संशोधक हैं हरिवंशराय 'बच्चन'। पुस्तक के प्रारंभ में मलयालम भाषा के प्रसिद्ध साहित्यकार सरदार क० म० पणिक्कर ने अपनी विशेष भूमिका में वल्लत्तोल के काव्यगत वैशिष्ट्य पर सहानुभूति-पूर्वक विचार कर के उन्हें 'केरल के पुनर्जागरण का अग्रदूत' सिद्ध किया है। क्राउन साइज़ के १४० पृष्ठ। मूल्य : २.५०।

मछुआरे

'मछुआरे' मलयालम भाषा के विशिष्ट उपन्यासकार तकषी शिवशंकर पिल्लै के 'चेम्मीन' नामक अत्यंत ख्यातिप्राप्त उपन्यास का हिंदी अनुवाद है। इसकी अनुवादिका हैं भारती विद्यार्थी। इस उपन्यास में केरल के तटवर्ती प्रदेश के मछुआरों के जीवन का चित्रण मिलता है। यह एक ऐसे सरल रोमांस की कहानी है, जिसका ताना-बाना उस अंधविश्वास के इर्द-गिर्द बुना गया है जो मछुआरों के दैनंदिन कार्य-कलापों को प्रभावित करता है। इस उपन्यास पर साहित्य अकादेमी ने सन १९५७ में पाँच हज़ार रुपये का पुरस्कार भी प्रदान किया था। क्राउन साइज़ के २५२ पृष्ठ। मूल्य : ३.५०।

प्रोफ़ेसर

मलयालम के प्रख्यात साहित्यकार जोसेफ़ मुण्डश्शेरी एक समीक्षक के रूप में जाने-माने जाते हैं। इस उपन्यास में उन्होंने केरल के शिक्षकों की जीवन-चर्या की झाँकी प्रस्तुत की है। क्योंकि वे स्वयं भी शिक्षक हैं, अतः आत्मानुभूत सत्य की चरम परिणति इस उपन्यास में दृष्टिगत होती है। भारत के एक महत्वपूर्ण किंतु उपेक्षित वर्ग की यह मार्मिक कहानी हमारे पाठकों को अवश्य ही प्रभावित करेगी। इसका अनुवाद श्री सुधांशु चतुर्वेदी ने बड़ी ही प्रांजल भाषा में किया है। क्राउन साइज़ के ८४ पृष्ठ। मूल्य : ३.५०।

भारती की कविताएँ

राष्ट्रीय कवि के रूप में आधुनिक तमिल साहित्य में सुब्रह्मण्य भारती का स्थान सर्वोपरि है। उनके गीत आज भी तमिलनाड के घर-घर में गाये जाते हैं। इस पुस्तक में भारती की १०० चुनी हुई कविता का संकलन प्रस्तुत किया गया है, जिनमें उनकी विख्यात रचना 'पांचाली शपथम' भी सम्मिलित है। इन कविताओं का चुनाव तमिल भाषा के प्रख्यात विद्वान आर० पी० सेतुपिल्लै ने किया है और उनके काव्य पर अत्यंत विशद रूप से प्रकाश डालने वाली भूमिका भी लिखी है। इन कविताओं का अनुवाद आनन्दी रामनाथन् और युगजीत नवलपुरी ने किया है। क्राउन साइज़ के २३६ पृष्ठ। मूल्य ५.००।

प्राप्ति-स्थान - साहित्य अकादेमी - रवींद्र भवन, ३५, फिरोजशाह रोड नयी दिल्ली - १।

छठी अखिल भारतीय बेसिक साहित्य प्रतियोगिता

भारत सरकार द्वारा आयोजित छठी अखिल भारतीय बेसिक साहित्य प्रतियोगिता के लिए निम्नलिखित विषयों पर पांडुलिपियाँ / पुस्तकें (जिनमें नाटक भी शामिल हैं) आमंत्रित की जाती हैं :

१. सामुदायिक विकास तथा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन; २. सामुदायिक विकास में स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका; ३. सामुदायिक संपत्ति के निर्माण में पंचायतों की भूमिका; ४. पंचायती राज के बढ़ते क़दम—पंचायतों की सफलताओं की कहानियाँ; ५. ग्रामीण जन-शक्ति का ग्राम्य विकास और उद्यम-वृद्धि के लिए उपयोग; ६. ग्राम्य पुनर्गठन में युवकों की भूमिका; ७. समाज-कल्याण में स्त्रियों की भूमिका; ८. व्यावहारिक खाद्य कार्यक्रम द्वारा ग्रामों में स्वास्थ्य और संपन्नता की अभिवृद्धि; ९. सामुदायिक विकास द्वारा समाज के दुर्बल वर्गों का कल्याण; १०. परिवार नियोजन में सामुदायिक विकास की भूमिका; ११. कृषि-उत्पादन-वृद्धि में पंचायती राज की भूमिका; १२. सहकारिता के क्षेत्र में निहित स्वार्थों का समापन; १३. अधिक उत्पादन और कृषक के लाभ के लिए सहकारी कृषि; १४. सहकारी ऋण का सार्थक उपयोग; १५. सहकारी विपणन और संसाधन; १६. मूल्यों के नियंत्रण हेतु उपभोक्ता-सहकारिता; १७. चीनी के सहकारी कारखाने—सहकारी संसाधन के प्रगति-पथ का मार्ग-चिन्ह।

एक-एक हजार रुपयों के सत्रह पारितोषिक दिये जायँगे। किसी एक विषय के लिए एक से अधिक पारितोषिक न दिया जायगा।

भाषा और शैली—प्रविष्टियाँ निम्नलिखित भाषाओं में से किसी में हो सकती हैं :

असमिया, बंगला, गुजराती, हिंदी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, गुरमुखी, सिंधी, तमिल, तेलुगु और उर्दू।

शैली सरल और सुबोध होनी चाहिए ताकि सामुदायिक विकास, पंचायती राज और सहकारी कार्यक्रमों में संलग्न कार्यकर्ता आसानी से समझ सकें और पसंद करें।

आकार—पांडुलिपियों का आकार १०,००० शब्दों के लगभग होना चाहिए; यदि मुद्रित हो तो डिमाई अठपेजी आकार के ४० पृष्ठों के क़रीब की हो जो १६ पाइंट से छोटे टाइप में न छपी हो। यदि पुस्तक हो तो यथेष्ट रूप से सचित्र हो।

कापीराइट—पारितोषिक जीतने वाली प्रविष्टि की कापीराइट पूरी तरह और बिना किसी शर्त के, भारत सरकार को हस्तांतरित कर दी जायगी। कापीराइट के लिए आपसी सहमति से एक उचित धनराशि प्रदान की जायगी।

प्रवेश-शुल्क—लेखक द्वारा प्रेषित प्रत्येक प्रविष्टि के लिए ३ रुपये मात्र।

प्रविष्टियों की प्राप्ति की अंतिम तिथि : ३० सितंबर, १९६८।

प्रतियोगिता संबंधी नियमों और निर्देशों की विस्तृत जानकारी तदर्थ आवेदन प्राप्त होने पर निम्नलिखित द्वारा भेजी जायगी :

निदेशक (बेसिक साहित्य)
खाद्य, कृषि, सामुदायिक विकास तथा सहकारिता मंत्रालय
(सामुदायिक विकास और सहकारिता विभाग)
कृषि भवन, नयी दिल्ली

डी ए वी पी ६८/६

साहित्यकारों से

"एक पुरानी कहावत के अनुसार 'साहित्य को समाज का दर्पण' माना गया है। यह सच है कि मान्यताओं में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन भी होता ही रहता है किन्तु समाज और साहित्य की अपनी पृथक-पृथक सत्ता होते हुए भी इन दोनों का सम्बन्ध अटूट है।"

"भारतीय रेलें समाज का वह अविच्छिन्न अंग हैं जिनके संचलन में असंख्य व्यक्तियों के श्रम, लगन और निष्ठा के स्वर हर क्षण मुखरित होते रहते हैं। अपने पूरे परिवेश में उनकी व्यापकता की तुलना आज सहज ही नक्षत्रों से की जाती है। इनके जड़ और चेतन उपकरणों की एक सत्ता है, जिनकी अच्छाइयाँ, कमियाँ, उदात्त भावनायें प्रश्रय पाने को हर क्षण मचलती रहती हैं।"

"क्या हमारा आज का संवेदनशील साहित्यकार अपनी पैनी दृष्टि और समर्थ लेखनी से इन भावनाओं पर भी दृष्टि डालेगा? क्या वह रेल की सम्पूर्ण सत्ता को अपनी कृति के माध्यम से स्वीकार करेगा? यहाँ भी जीवन के वही चित्र उभरते रहते हैं जैसे और कहीं, और कहीं। समय के बदले हुए सन्दर्भ में सीमाएँ टूटनी ही चाहिए।"

जन सम्पर्क अफ़सर
पूर्वोत्तर रेलवे
द्वारा प्रचारित

यात्री और माल वाहन में दिन रात तत्पर
राष्ट्र की जीवन रेखा, भारतीय रेलें देश की तीव्र आर्थिक प्रगति में अपना योगदान दे रही हैं। वे रेल-यात्रा को और अधिक शीघ्रगामी, सुरक्षित तथा सुखदायक बनाने के लिए कटिबद्ध हैं। किन्तु यह सब आपकी सक्रिय सहायता से ही किया जा सकता है। आपसे अनुरोध है कि ख़तरे की जंज़ीर के दुरुपयोग, बिना टिकट यात्रा और रेलवे सम्पत्ति तथा रेल-मार्ग की तोड़-फोड़ को समाप्त करने में हमें सहयोग दीजिए।
हमसे सहयोग कीजिए जिससे हम आपकी और भी अच्छी सेवा कर सकें।
उत्तर रेलवे
STERLING-NR-831
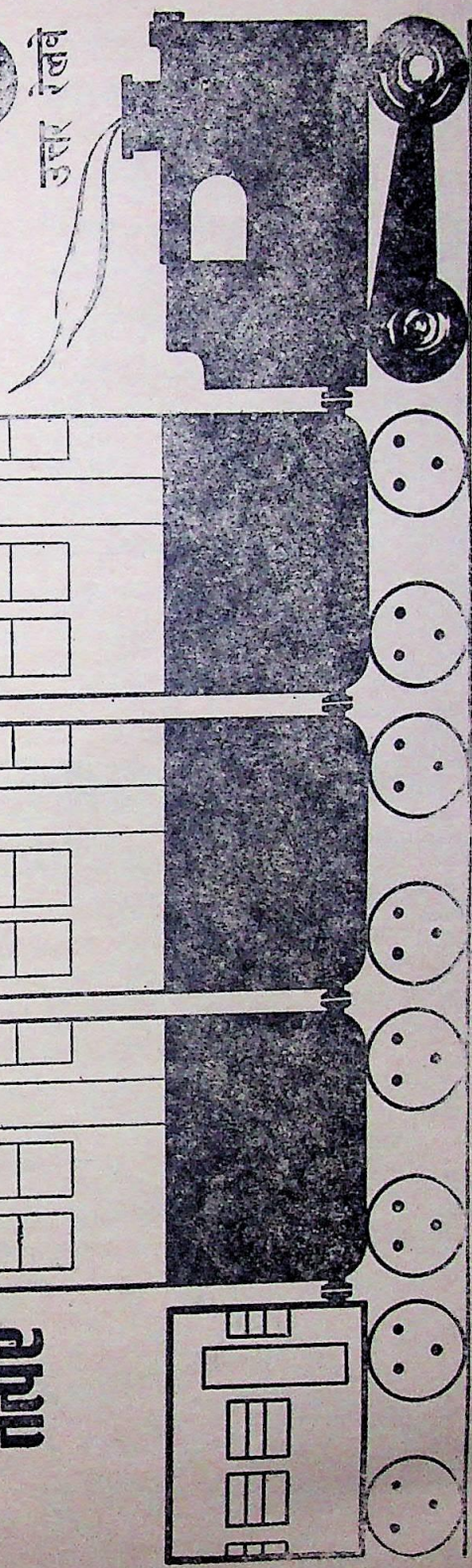
इनसे मिलिये। आप एक फैक्टरी में 'एसिसटेन्ट फोरमैन' हैं। इन्होंने अपना जीवन 'लेबोरेटरी एसिसटेन्ट' के रूप में शुरू किया था, और सात साल के अरसे में ही आज इस पद पर पहुंच गये। इनकी सफलता का रहस्य उन्हीं के शब्दों में सुनिये--"काम तो सभी करते हैं। लेकिन मैंने कुछ ज्यादा जिम्मेदारियों के काम हाथ में लिये और बड़ी सूझबूझ और मेहनत से उन्हें पूरा किया। घर की तरफ से मैं परेशान नहीं रहा। मैंने अपने साथियों को देखा। उनके लम्बे चौड़े परिवार हैं। उनका सारा ध्यान और समझबूझ उनके घर की आये दिन की परेशानियों में ही लग जाती है। मैंने इसी बात पर ध्यान दिया। मेरे दो ही बच्चे हैं, जिन्हें मैं अच्छी से अच्छी शिक्षा देना चाहता हूं। मेरा छोटा सा परिवार सुखी है।"

ये खुश हैं —

और आप ?
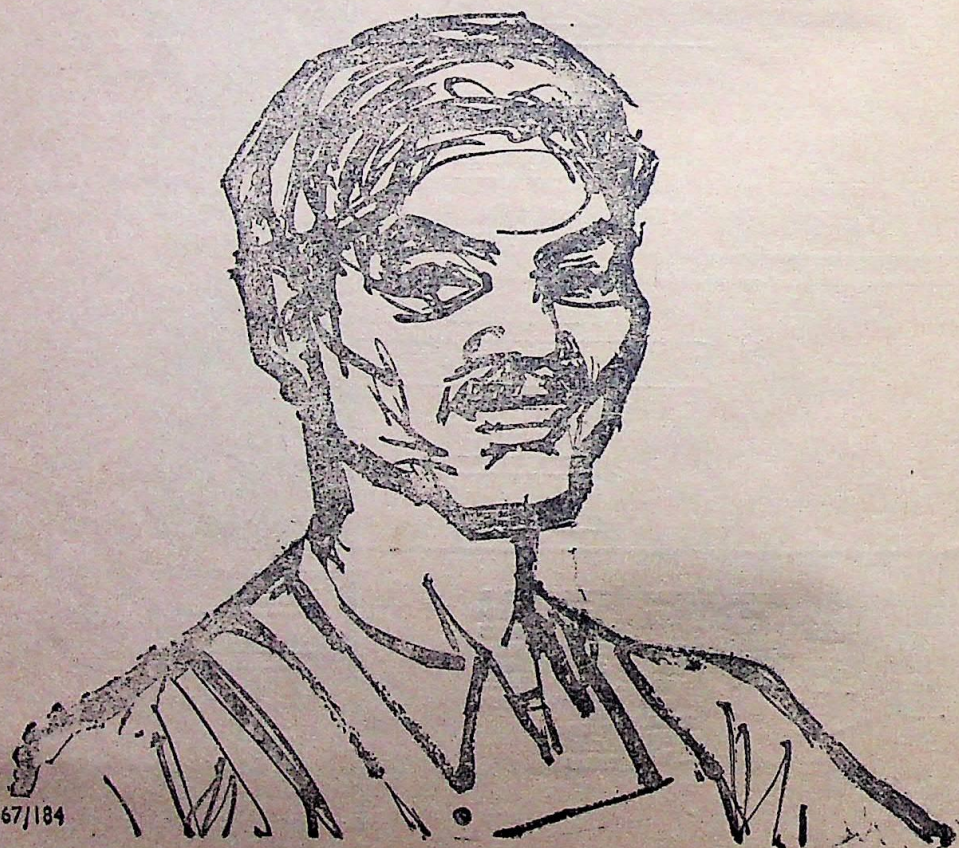
बालाजी तिरुपति वेंकटेश्वर का परम पुनीत पार्वत्य मंदिर

आंध्र प्रदेश के चित्तूर जिले में, पूर्वी घाट की सात हरी-भरी पहाड़ियों के बीच प्रायः ३,००० फ़ीट ऊँची चोटी पर तिरुमल (तिरुपति) में "बालाजी" महाप्रभु वेंकटेश्वर का परम पुनीत मंदिर है।

इस पुनीत मंदिर का प्रत्येक दिन उत्सव का दिन है। प्रतिदिन कम से कम १०-१५ हज़ार यात्री इस पावन मंदिर में आते हैं और बिना प्रवेश-शुल्क प्रातः ५ से ७।। तक और फिर मध्यान्ह से रात के ९ बजे तक दर्शन कर सकते हैं।

तिरुपत नगर से १२ मील पर स्थित तिरुमल देवस्थान है। सवेरे ५ से रात के ९ बजे तक थोड़ी-थोड़ी देर में देवस्थान की मोटर बसें क़स्बे से यात्रियों को ले-ले कर इस सुंदर मार्ग पर चलती है। तिरुपति नगर मद्रास से प्रायः १०० मील दूर है और रेल तथा बस की सड़क पर है।

यात्रियों की सुविधा के लिए देवस्थान के पास अनेक धर्मशालाएँ हैं और सैकड़ों ऐसे कमरे जिनमें यात्री मुफ्त में आराम से रह सकते हैं। किराये पर पूरी तरह फ़र्निश किये हुए छोटे काटेज भी हैं और भोजनालय भी। भक्तों द्वारा उत्तरोत्तर अधिकाधिक मात्रा में अर्पित होने वाली विपुल धनराशि से देवस्थान तिरुमल, तिरुपति तथा देश भर में अन्य कई स्थानों में अनेक ख़ैराती और शैक्षिक संस्थाएँ चलाता है। तिरुमल और तिरुपति में वेंकटेश्वर मंदिर के अतिरिक्त और भी कई पुनीत स्थान हैं जिनमें मुख्य हैं गोविंदराज, कपिलेश्वर, पद्मावती और कोदंड रामस्वामी के मंदिर।

विस्तृत जानकारी के लिए संपर्क-सूत्र : एग्ज़ेक्यूटिव आफ़िसर, तिरुमल देवस्थान, तिरुपति, ज़िला चित्तूर, आंध्र प्रदेश।

हिंदी के अग्रणी आधुनिक कवि

कुँवर नारायण

की काव्य-पुस्तकें

चक्रव्यूह (राजकमल प्रकाशन, १९५६) ३.५०

परिवेश : हम-तुम (भारती भंडार, १९६१) ४.००

आत्मजयी (भारतीय ज्ञानपीठ, १९६५) ३.५०